ध्यान ही नहीं देते। कारण है "गुरु की भेली जिव डरे, काया सींचनहार। कुमति कमाई मन बसे, लाग जुवा की लार॥" मनुष्य तो भोगों से इन्द्रियों को सींचने वाला है। गुरु के वचन इसके विरोध में हैं, इसलिए वह उनसे दूर भागता है। वह तो कुबुद्धिपूर्वक कमाये हुए धन में अपना मन रखता है और उनका भोग करना चाहता है। उसे तो जुए की आदत की तरह विषयों की आदत लगी है। अतएव कल्याण का पहला द्वार है सद्गुरु के वचनों पर ध्यान देना, उन्हें सुनना तथा मनन करना। दूसरी बात है "मति लीजै शिर भार" सिर पर बोझा मत उठाओ। अनेक मान्यताओं का बोझा लेकर जीव पिस रहा है। यह पेड़, पहाड़, पानी, पत्थर, चांद, सूरज, हवा, आकाश तथा अनेक काल्पनिक अवधारणाओं को देवता मानकर उनके सामने घुटने टेक रहा है। मनुष्य की अविवेकवश मानो नियति ही हो गयी है जड़पिंडों एवं मन की अवधारणों को देवी-देवता मानकर उनके सामने गिड़गिड़ाना। इतना ही क्या, मनुष्य ने भूत-प्रेत, ग्रह-लग्न, दिशाशूल, मंत्र-तंत्र, शकुन-अपशकुन आदि अनेक भ्रांतियों को पाल रखा है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम इन मिथ्या मान्यताओं का बोझा मत लादो। यदि पहले से लाद रखे हो तो उसे फेंक दो। तुम्हारी अपनी आत्मा के अलावा कोई ऐसी अदृश्य शक्ति नहीं है जो तुम्हारे ऊपर कोप या कृपा कर सके। तुम्हारे दुष्कर्म ही तुम्हारे ऊपर कोप बन जाते हैं तथा तुम्हारे सत्कर्म तुम्हारे ऊपर कृपा बन जाते हैं। अतएव तुम अपने कर्मों का सुधार कर लो, बस हो गया भजन!

"हो हजूर ठाढ़ कहत हौं" यह तीसरी बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं आंदोलनकारी है। कबीर देव कहते हैं कि मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि तुम खुद हुजूर हो। खड़ा होकर कहने का तात्पर्य है दृढ़तापूर्वक कहना। सद्गुरु कहते हैं कि मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि तुम स्वयं हुजूर हो, स्वामी हो, सम्राट हो, तुम स्वयं परमात्मा हो। हे मनुष्य! तुम किस परमात्मा को खोज रहे हो! तुम्हारे अलावा तुम्हारा कोई परमात्मा नहीं है। तुम अपने अविनाशी आत्मतत्त्व को न समझकर ही दर-दर भटक रहे हो। आश्चर्य है कि परमात्मा ही परमात्मा को खोज रहा है।

मनुष्य की मानसिकता है पूजने की। पूजना अच्छा है। मर्यादा में बड़े तथा पवित्र पुरुषों की पूजा करना या प्राणिमात्र का सत्काररूपी पूजा करना उत्तम है। परन्तु अपने आप में दीनता की मानसिकता बनाना बहुत गलत है। बेजान पिंडों तथा शून्य को पूजना और उनसे भोग तथा मोक्ष मांगना अपने आप का पतन करना है। जब स्वरूप का ज्ञान तथा कर्मफल भोग का बोध हो जाता है, तब कहीं रोने-गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। बोधवान पुरुष भोग और मोक्ष को अपने कर्म एवं श्रम का फल मानता है जो वास्तविकता है। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य! तू अपनी श्रेष्ठता को समझ, अपने स्वरूप को पहचान,

अपनी महानता में प्रतिष्ठित हो।

चौथी बात है "अब तैं सम्हर सँभार" सम्हर के अर्थ समर और संभलना दोनों ही सकते हैं। दोनों अर्थों से मूल आशय में अन्तर नहीं पड़ता। एक में अर्थ होगा कि तू मन के युद्ध में अपने आप को संभाल, अपने आप की रक्षा कर, और दूसरे में अर्थ होगा कि तू अपने आप में संभल तथा दूसरों को संभाल। अर्थात अपने स्वरूप को पहचानकर स्वयं की रक्षा करो और दूसरों को भी भवबन्धनों से बचने में सहयोग करो। अपने स्वरूप की पहचान हो जाने के बाद साधक का मात्र एक काम रह जाता है 'अपने आप को मन की धारा से बचाना'। इसके साथ दूसरे जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं को भी इस दिशा में प्रेरित करना।

अपने आप को मन की धारा से अलग करना यही तो साधना है। मन में ही तो सारा कूड़ा-कबाड़ भरा रहता है। जो साधक मन को अलग कर देता है वह स्वच्छ हो जाता है। ऊपर की पंक्ति के दूसरे चरण में ही कहा गया है "मति लीजै शिर भार" अर्थात तुम अपने स्वरूपज्ञान के अलावा कोई मान्यता बनाकर उसका बोझ मत लादो। मन की संकल्परूपी कली को तोड़ते रहो, फिर न फूल होंगे न फल। राग मानना, द्वेष मानना तथा अनेक प्रकार की मान्यताओं का जाल बनाना यही सब तो जीव की महानता को नष्ट करते हैं। जब जीव सारी मानयताओं के बोझ से तथा मन की धारा से मुक्त हो जाता है, तब वह सदा आनन्दस्वरूप हो जाता है। "अबकी पूरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।" जो साधक आज वासनाओं का त्याग कर देता है वह सदैव के लिए आनंदस्वरूप हो जाता है। अर्थात वह सदा के लिए दुखों से छूट जाता है।

कड़वी माया-लता औार छुटा हुआ सिद्ध

वो करुवाई बेलरी, औ करुवा फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होर॥ 221॥
सिद्ध भया तो क्या भया, चहुँदिश फूटी बास।
अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस॥ 222॥

शब्दार्थ—करुवाई=कड़वी, तिक्त। बेलरी=लता, रायपेहंटा नाम की एक कड़वी लता जिसके पत्ते और कच्चे फल कड़वे होते हैं, माया। सिद्ध=पका हुआ, लक्ष्यप्राप्त। बास=गंध, वासना। अन्तर=भीतर।

भावार्थ—रायपेहंटा नाम की लता होती है जिसके पत्ते और फल सब कड़वे होते हैं, परन्तु जब उसके फल पक जाते हैं तब उसकी सुगंध चारों ओर फैल जाती है और फल बेलि से टुटकर अपने आप अलग हो जाते हैं। परन्तु

उनके पकने से क्या हुआ! उनके भीतर के बीज तो कड़वी लता ही पैदा करते हैं। उक्त उदाहरण देकर सद्गुरु कहते हैं—

हे कड़वी माया-लता! तेरे फल कड़वे हैं। जो सिद्ध कहलाने लगता है, वह माया लता से अलग हो जाता है, यह ठीक है। परन्तु ऐसा सिद्ध होने से क्या लाभ हुआ जिसके भीतर से वासनाएं फूटकर चारों तरफ फैल गयीं, और अन्दर में जगत के बीज है तथा उनके पुनः उगने की संभावना है॥ 221-222॥

व्याख्या—कोई भी उदाहरण सर्वांश में नहीं होता। सिद्धान्त को समझाने के लिए किसी वस्तु के किसी अंश का उदाहरण दिया जाता है। माया ऐसी लता है जो कड़वी है। उसके पत्ते कड़वे हैं और फल कड़वे हैं। सांसारिक प्राणी-पदार्थों का मोह, माया है या कहना चाहिए मन की रागात्मक वृत्ति माया है। यह कड़वी है। इसका परिणाम तीखा है। जो व्यक्ति जितना ही संसार में रागी होगा वह उतना ही पीड़ा भोगगा।

कोई व्यक्ति जब सिद्ध हो जाता है तब वह माया-लता से अलग हो जाता है। 'सिद्ध' का अर्थ ही है 'मुक्त'। जो अपने स्वरूप में स्थित हो गया, पूर्णकाम एवं सफल मनोरथ हो गया वह सिद्ध है, मुक्त है। उसका सम्बन्ध माया से कट जाता है। अर्थात वह संसार में एवं पांचों विषयों तथा प्राणी-पदार्थों में राग नहीं करता। उसका मन निर्मल एवं समाधिनिष्ठ हो जाता है। जैसे पका हुआ फल अपने आप पेड़ से चू पड़ता है, वैसे अनासक्त मन एवं सिद्ध पुरुष विषयासक्ति से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

परन्तु ऐसे भी सिद्ध होते हैं जो वस्तुतः सिद्ध नहीं होते, किन्तु सिद्धई का ढोंग करते हैं। उनमें सिद्ध होने का तामझाम होता है, ऊपरी दिखावा होता है। वे दिखावे के ऐसे आचरण करते हैं जिससे संसार के लोग यह समझें कि वे सिद्ध हैं। जो अपने आप को समाज में सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है वह तो सांसारिक वासनाओं से भरा है। उसके अन्दर तो प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा एवं लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा (शिष्यैषणा) भरी है। उसके अन्दर में फिर से वासना-बीज जागने की आशा है। वह माया से मुक्त कहां है! वह मोटी माया छोड़कर झीनी माया में उलझ गया है। कोई अपने आप को ईश्वर का अवतार घोषित करता है, कोई किसी महापुरुष का अवतार बनता है। कोई दूधाहारी तथा फलाहारी बनकर अपने आप को सिद्ध बताता है। कोई अन्य प्रकार के विचित्र आचरण करके अपने आप को सिद्ध प्रदर्शित करना चाहता है। अतएव विचित्र बेढंगे तथा दिखावे के आचरण करके जो समाज में अपने आपको सिद्ध दिखलाना चाहते हैं, वे वासनाओं के दास होते हैं। उनके अन्दर जगत वासनाओं के बीज होते हैं। अतएव वे मानो पुनः संसार में लौटे हुए लोग हैं।

इस साखी में संभवतः पूर्ण सिद्धि की ओर बढ़ रहे संतों को भी राय दी गयी

है कि सावधानी छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि शरीर रहते वासनाओं के अंकुर पुनः पौधे बन सकते हैं।

कुछ लोग अपने आप को ऐसा ब्रह्म मानते हैं जिसके भीतर सारा जगत लीन है। वे कहते हैं—"जैसे जल और जल की तरंगें, मिट्टी और मिट्टी से बने घड़े तथा स्वर्ण और उससे बने गहने एक हैं; वैसे ब्रह्म और जगत एक है। मैं ब्रह्म हूं और सारा विश्व मुझमें लीन है। जगत मुझसे अलग नहीं।" इस प्रकार धारणा रखकर वे सिद्ध बनते हैं। तो यह सिद्धि भी कच्ची है। क्योंकि जिसमें सारा जगत लीन है उससे समय आने पर जगत फूटकर निकलेगा ही। "अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस" वचन उसके लिए सटीक है। जो अपने आप को जगत से अभिन्न मानता है, वह जगत से कब मुक्त हो सकता है!

अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने आप को शुद्ध चेतन मात्र समझे, और यह समझे कि शुद्ध चेतन में जड़ जगत का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अपने आप को निराधार, असंग एवं अकेला समझकर अपने स्वरूप में स्थित हो और साधना तथा आचरण में भी किसी प्रकार का दिखावा न करे तभी वह सिद्ध, मुक्त एवं माया से अतीत होकर सदैव के लिए कृतार्थ हो सकता है।

शास्त्र तथा प्रभुवचन के जाल से बचो

परदे पानी ढारिया, सन्तो करो बिचार।
शरमा शरमी पचि मुवा, काल घसीटनहार॥ 223॥

शब्दार्थ—परदे=परदा, आधार आड़। पानी=वाणी, बात। काल=कल्पनाएं, वासनाएं।

भावार्थ—हे सन्तो! विचार करो, जैसे कोई अपने आप को छिपाकर परदे के भीतर से पानी ढाल दे, लोगों के देखने में पानी तो बहता हुआ दिखे, परन्तु पानी ढालने वाला न दिखे, वैसे नाना मत-महजबों के गुरुओं ने ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, आप्तपुरुष तथा शास्त्र की आड़ में अपनी बातों को जनता से मनवाने का षड्यंत्र किया है। इस कसर को जो लोग समझ भी जाते हैं उनमें भी कुछ ऐसे होते हैं जो लोक-लाज के चक्कर में पड़कर उसी अंधविश्वास के घेरे में पच-पचकर मरते हैं। उनको उनके मन की कल्पनाएं एवं वासनाएं घसीटने वाली हैं॥ 223॥

व्याख्या—ईमानदारी से धर्म और अध्यात्म के उपदेश करने वाले संसार में कम हैं। अनेक मजहबों तथा सम्प्रदायों की बहुत-सी बातें बिना सिर-पैर की हैं। उनकी बातों को न तर्क से मतलब है और न विवेक से। न उन्हें संसार के नियमों की परवाह है न विश्वसत्ता की कारण-कार्य व्यवस्था की। वे अपनी ऊलजलूल बातें समाज से मनवाना चाहते हैं। यदि वे ईमानदार बनकर कहें कि

ये हमारे विचार हैं तो उनके मानने वाले बहुत कम हों। अतएव उन्होंने यह कहा कि जो हम कहते हैं वे बातें ईश्वर की भेजी हुई हैं। यह ईश्वर के पैगम्बर ने, ईश्वर के पुत्र ने तथा ईश्वर के अवतार ने कहा है। यह सिद्धपुरुष तथा आप्तपुरुष ने कहा है। यह शास्त्र-प्रमाण है। यह प्रभुवचन है। और इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि जो इन बातों को नहीं मानेगा वह नास्तिक है, काफिर है तथा नापाक है। वह नरक की आग में जलाया जायेगा।

इस प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाले नाना मजहबों एवं सम्प्रदायों ने मानवता के साथ छल किया। उन्होंने मानव-समाज को धोखा दिया, गलत दिशा-निर्देश देकर उन्हें गुमराह किया। उन्होंने मानव के स्वतंत्र-विचारों का वध किया। उन्होंने मानव-समाज को सब समय के लिए अपने पीछे चलने वाला पशु बना लिया। यह मजहबों का मानव के साथ घोर अपराध था। यह ठीक है कि कुछ चतुर लोगों ने अत्यन्त मूढ़ मनुष्यों को पहले शुभमार्ग में लाने के लिए ऐसा षड्यंत्र किया हो; परन्तु इससे मानव-समाज को लाभ अत्यन्त अल्प मिला; परन्तु हानि सीमातीत हुई। खुदाई सन्देश तथा प्रभु-वचन के धोखे में ही धर्म के नाम पर सहस्राब्दियों से घोर रक्तपात होते रहे। आज भी तथाकथित हर ईश्वरीय मत के मिथ्याभिमानी कठमुल्ले मुट्ठी भींजकर यही कहते हैं कि हमारी बातें ईश्वरीय हैं; और दूसरे की बातें मनुष्यों की कल्पनाएं। जबकि सबकी बातें मनुष्यों की कल्पनाएं ही हैं। मनुष्य के अलावा न कभी कोई ईश्वर या प्रभु पैदा हुआ और न आगे पैदा होने की उम्मीद की जा सकती है। इसलिए सत्य के अनुसंधाताओं को यह समझना चाहिए कि संसार की सारी बातें चाहे वे मौखिक हों या लिखित, उनके नाम वेद, बाइबिल, कुरान, पुराण हों या धर्मशास्त्र— संसार का सारा वाङ्मय मनुष्यों की देन है। अब यह विवेकी का काम है कि उनमें से सारासार का विचार करके असार को छोड़े और सार को ग्रहण करे। सत्य के इच्छुकों को न किसी की वाणी की अवहेलना करना चाहिए और न आंख मूंदकर समर्थन। उसे चाहिए कि वह सुने तथा पढ़े हुए वचनों पर विचार करे कि क्या तर्क से, युक्ति से, विश्वसत्ता के नियमों से एवं संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था से इनका तालमेल बैठता है! यदि बैठता है तो ग्राह्य है, अन्यथा त्याज्य।

परन्तु लोग शर्माशर्मी में मरते हैं। लोग भीतर से जान जाते हैं कि हमारी मान्य बातें मिथ्या हैं, ढोंग-ढकोसलों से भरी हुई दकियानूसी हैं, फिर भी वे उनका ऊपर से समर्थन करते रहते हैं। उन्हें यह लोक-लाज सताता है कि अपनी मान्य बातों को गलत कहेंगे तो संसार के लोग यही कहेंगे कि ये आज तक भटकाव में थे। इसलिए वे जिस पूंछ को पकड़ लिये हैं उसे पकड़े घसिटते जाते हैं। किसी धूर्त के बहकावे में आकर तथाकथित ईश्वर-दर्शन के लिए

उन्होंने एक बार अपनी नाक कटा ली, तो नाचते और कहते जा रहे हैं कि ईश्वर दिख रहा है। ऐसे लोगों को सत्य का मोती नहीं मिलता है। जो "शरमा शरमी पचि मुवा" चरितार्थ करेगा, उसे "काल घसीटनहार" होगा ही। सत्यज्ञान पाने के लिए "लोकलाज कुल की मरजादा, इहै गले की फांसी" समझकर इन्हें सर्वथा त्यागना होगा। शास्त्र, परम्परा, जनमानस, महापुरुष सबका मोह छोड़कर सत्यज्ञान मिलता है।

स्व-सत्ता ही अपना परम अस्तित्व है

अस्ति कहौं तो कोइ न पतीजे, बिना अस्ति का सिद्धा।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, हीरी हीरा बेधा॥ 224॥

शब्दार्थ—अस्ति=सत्ता, भाव, विद्यमानता। पतीजै=प्रतीति करना, विश्वास करना। सिद्धा=सिद्ध, प्रमाणित, परम सत्य, मुक्त। हीरी=हीरकणी, हीरे के कण। हीरा=एक बहुमूल्य रत्न जो बहुत कठोर तथा सफेद होता है।

भावार्थ—मनुष्य का आत्म-अस्तित्व सर्वथा सत्य एवं विद्यमान वस्तु है, उसकी ओर सुझाव देता हूं तो कोई उस पर विश्वास नहीं करता। लोग अत्यंत मिथ्या एवं काल्पनिक वस्तु का पक्ष लेकर सिद्ध बन रहे हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे संतो! सुनो, जैसे हीरकणी हीरे को काट देती है, वैसे मनुष्य-जीव से ही उठी कल्पना उसे ही पथभ्रष्ट कर रही है॥ 224॥

व्याख्या—'अस्ति' कहते हैं होने को, विद्यमानता को, वह 'मैं' के रूप में है। 'मैं' के दो रूप होते हैं एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीर तथा शरीर के नाम-रूपादि में जहां तक मैं का आरोप किया जाता है, वह मायिक है, और चेतन-सत्ता मात्र 'मैं' आत्मिक और परमसत्य है। यह 'मैं' ही परम सत्ता है। "अपने आप के विषय में यह किसी को संदेह नहीं होता है कि मैं हूं या नहीं हूं।"[1] मैं तो निस्संदेह हूं। सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिक रेने डेकार्ट ने कहा है कि संदेह करना भी एक सोचना है और यदि सोचने वाला ही न हो तो कौन सोचेगा, कौन संदेह करेगा! अतएव यदि मैं किसी विषय में संदेह करता हूं तो इसका अर्थ कि मैं सोचता हूं। "मैं सोचता हूं तो मैं हूं।"[2] सर राधाकृष्णन ने 'आत्मिक साहचर्य' में लिखा है कि पायलेट ने प्रश्न किया था कि सत्य क्या है, परन्तु जीसस ने इसका उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि एक अन्य सन्दर्भ में उन्होंने कहा था "मैं ही सत्य हूं।"

अतएव जीव ही परम विद्यमान सत्ता है, एवं मनुष्य की आत्मा ही परम अस्तित्व है। परन्तु यह बात लोग समझ नहीं पाते। मैं ही परम सत्य हूं, यह

---

1. न हि कश्चित् सन्दिग्धे ऽहं वा न ऽहं वा इति॥ भामती॥
2. I think therefore I am.

बात लोगों के गले ही नहीं उतरती। वे यह समझ नहीं पाते कि सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। यदि कोई सत्य मनुष्य की आत्मा से अलग है तो वह मनुष्य का अपना सत्य कभी नहीं हो सकता। मेरा काम तो मेरा सत्य देगा। अर्थात मेरा अपना सत्य ही मेरे काम का हो सकता है। बाहर के हजार देवी-देवता या ईश्वर-परमात्मा मेरे काम के नहीं हो सकते। मेरे काम का देवता, मेरे काम का परमात्मा तो वही हो सकता है जो मेरा अपना हो, और वह है मेरा निजस्वरूप चेतन, मेरी अपनी अन्तरात्मा। मैं बाहर के परमात्मा को पाकर भी नहीं पा सकता, और अपनी अन्तरात्मारूपी परमात्मा को छोड़कर भी नहीं छोड़ सकता। मुझे बाहर से जो कुछ मिलेगा वह मन और इन्द्रियजन्य अनुभव होगा जो पांचों विषयों का होगा। इसलिए मैं परमात्मा को बाहर से पाने का भ्रम पालता हूं तो धोखे में हूं। बाहर से तो मैं जो कुछ परमात्मा के नाम पर पाऊंगा वह विषय होगा। परन्तु अपना स्वरूप पाना नहीं है। वह तो मैं ही हूं। केवल उसके विषय में भूल है, उसे मात्र याद कर लेना है और उसी दशा में स्थित हो जाना है।

लोग बिना 'अस्ति' के सिद्ध बन रहे हैं। अपनी आत्मा से अलग परमात्मा को पाकर मुक्त होना चाहते हैं। अरे, अपनी आत्मा से अलग जो कुछ प्राप्त होगा, वह माया होगी। उसमें सिद्धि न मिलकर भटकाव मिलेगा। यह तो वही दशा हुई कि हीरे से हीरकणी[1] निकलती है और उसी हीरे को काटती है। इसी प्रकार जीव ही का मानसिक भ्रम जीव को भटकाता है। जीव अपने समर्थ, सम्पन्न एवं विद्यमान स्वरूप को भूलकर अविद्यमान वस्तु की कल्पना करता है और अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने के अविवेक के समान अपने स्वरूप से पतित होता है। अतएव मन की सारी कल्पनाएं छोड़कर मुझे अपने अस्तित्व में स्थित होना चाहिए।

सज्जन और दुर्जन के स्वभाव

सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौ बार।
कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार॥ 225॥

शब्दार्थ—कुम्भ=घड़ा। धका=धक्का, चोट। दरार=संधि, फट जाना।

भावार्थ—सोना, सज्जन एवं साधुजन स्वभावतः कोमल होने के कारण सैकड़ों बार टूटकर भी जुट जाते हैं। परन्तु दुष्ट और कुम्हार का घड़ा, ये दोनों स्वभाव से कठोर होने के कारण एक ही चोट में सदैव के लिए फट जाते हैं

---

1. मशीन में दो हीरे लगाकर उन्हें आपस में लड़ाते हैं और वे एक दूसरे को काटते हैं। इस परस्पर रगड़ में जो हीरे का चूर गिरता है उसे हीरकणी या हीरी कहते हैं। फिर इस हीरकणी से हीरे को काटते हैं। हीरा दूसरे औजार से नहीं कटता।

और पुनः कभी नहीं मिलते॥ 225॥

व्याख्या—महाकवि कबीर ने इस साखी में सोना-सज्जन-साधुजन तथा कुजन-कुम्भ-कुम्हार कहकर कमाल के अनुप्रास अलंकार का प्रयोग किया है। साखी का भाव अत्यन्त उच्च है यह अलग बात है। सज्जन तथा साधुजन की कोमलता के लिए सोना का उदाहरण है। सोने के गहने बनते हैं। वे अनेक बार टूटते हैं तथा उन्हें गलाकर पुनः उनके अनेक बार नये-नये गहने बना लिये जाते हैं। यही बात सज्जनों एवं साधुजनों की है। उनमें कारणवश कभी-कभी मत विभिन्नता हो जाये तो वे उसे अनदेख कर समय-समय पर परस्पर मिल जाते हैं। मत की भिन्नता संसार का स्वभाव है, परन्तु इसको लेकर सज्जन तथा साधुजन मन में वैर नहीं बनाते। यदि कोई अपने मन में किसी के लिए वैर पालता है तो इससे उसकी अपनी ही हानि है। किसी के लिए भी मन में वैर पालने से मन की दशा खराब होती है। जहां मन की दशा ही खराब हो गयी वहां शांति कहां मिल सकती है!

यदि किन्हीं सज्जन एवं संत के प्रति कोई घोर विरोध करता हो, उनकी ईर्ष्या में लगा हो उनकी निंदा करके उनके विषय में सर्वत्र बुराई का प्रचार करता हो और हर क्षेत्र में उनके प्रति अत्यन्त द्वेषपूर्वक पेश आता हो, तो ऐसी स्थिति में भी सज्जन एवं साधुजन उससे वैर या ईर्ष्या नहीं करते। वे उससे उपेक्षा करके भले रहते हों। अर्थात उससे तटस्थ होकर न उसकी बुराई करते हों और न भलाई। परन्तु वे उससे द्वेष नहीं करते। सज्जन और साधुजन अपने घोर द्वेषी को भी सामने पाकर उससे अभिवादन कर लेते तथा कुशल-समाचार पूछ लेते हैं; क्योंकि उनके मन में उसके प्रति द्वेष रहता ही नहीं है। यह अलग बात है कि ऐसी जगह ज्यादा व्यवहार नहीं बन सकता। जहां अगली तरफ से दिल खोलकर मिलना ही न हो वहां ज्यादा व्यवहार कैसे संभव है! परन्तु सज्जन और साधु अपने मन को सदैव निर्मल रखते हैं, अतएव द्वेषी व्यक्ति के प्रति भी वे अपना मन स्वच्छ रखते हैं। जो केवल वेष से नहीं, सचमुच सज्जन तथा साधु हैं उनका मन स्वाभाविक स्वच्छ होता है। उनमें किसी के प्रति भी विकार आ नहीं सकते।

शरीर पानी का बुलबुला है। इसके फूटने में देरी नहीं लगती। फिर ऐसे क्षणभंगुर जीवन में किससे वैर किया जाये! वैर-विरोध में तो लाभ किसी का नहीं, केवल हानि है। जिस काम में अपनी ही हानि हो, समझदार आदमी उसे क्यों करेगा! परन्तु जो ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध में ही रात-दिन लगा हो, उसके व्यवहार से अपने आप को बचाना सज्जन का काम होता है। क्योंकि उससे ज्यादा व्यवहार बढ़ाने से लाभ तो होता नहीं, उलटे अशांति होती है। इसलिए सज्जन और साधुजन अपने आप को दुर्जनों से बचाकर अपने मन को

सदैव सबके प्रति स्वच्छ रखते हैं।

यहां पहली पंक्ति का भाव यह है कि यदि दोनों तरफ से सज्जन-सज्जन तथा साधु-साधु स्वभाव के लोग हैं, तो पहली बात वहां आपस में खटपट होगी ही नहीं। यदि कभी खटपट होती है तो किसी तरफ से कुछ गलतफहमी है, और वे उसे आपस में समझकर देर-सबेर सुधार लेते हैं। जहां दोनों तरफ से सज्जनता एवं साधुता है, वहां कोई गलतफहमी ज्यादा समय तक रह ही नहीं सकती। कहीं-कहीं देखा जाता है कि दोनों तरफ सज्जन एवं भक्त हैं तथा दोनों तरफ त्यागी-वैरागी साधु हैं, परन्तु वे जीवनभर आपस में भिड़े वैर-विरोध में कमाल दिखाते रहते हैं। तो इसमें कारण यह है कि उनके जीवन में कई प्रकार के सदाचार अवश्य हैं; परन्तु उनमें भौतिक स्वार्थ एवं अहंकार भावना की प्रबलता है। अतएव वे आपस में जीवनभर परस्पर लड़ते रहते या वैर बांधे रहते हैं। जब तक स्वार्थ तथा अहंकार का भ्रम नहीं टूटता तब तक कोमलता आ ही नहीं सकती। कितने लोग ऐसे होते हैं जो कई अंशों में कट्टर त्यागी होते हैं, परन्तु कई अंशों में इतने कमजोर होते हैं कि वे जीवनभर उलझे रहते हैं। अपनी इन कमजोरियों के कारण कई सज्जन एवं साधु कहलाने वाले लोग भी राग-द्वेष में उलझे होने के कारण समाज के लिए बिगड़ी घड़ी बने रहते हैं। विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों कथित ब्रह्मज्ञानी एवं तपस्वी पुरुष थे, परन्तु दोनों एक दूसरे को उखाड़ने के चक्कर में पड़े रहे। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के पुत्रों की हत्या की तथा उनके आश्रम को आग में समर्पित कर दिया और वसिष्ठ ने विश्वामित्र के सौ पुत्रों की हत्या की और इतना ही नहीं, वे पहल, यवन, कम्बोज, बर्बर, म्लेक्ष, हारीत, किरात आदि को अपना सहयोगी बनाकर विश्वामित्र को उच्छिन्न करने में लग गये।[1]

यदि सचमुच दोनों तरफ से सज्जन एवं साधु पुरुष हैं तो वे आपस में सौ बार भी टूटकर जुट जायेंगे। वैसे वे सौ बार टूटेंगे ही नहीं। "टूटि जुरैं सौ बार" तो एक मुहावरा जैसा है। सौ बार जुटने का शाब्दिक अर्थ न कर लाक्षणिक करना चाहिए। अर्थात सज्जन अनेक बार भी टूटकर जुट जाते हैं। एक तरफ सचमुच सज्जन एवं साधु हैं और दूसरी तरफ सज्जन तथा साधुवेष में क्रूर संस्कार वाले हैं, तो सज्जन पुरुष अपनी ओर से नम्र ही रहकर बरताव करते हैं। वे कभी क्रूर नहीं बनते। सोना अपना स्वभाव छोड़ ही नहीं सकता। वह असंख्य बार टूटकर जुटता रहेगा। इसी प्रकार सज्जन एवं साधुजन भी अपना निर्मल स्वभाव नहीं छोड़ सकते। उनमें चाहे जितना विमत हो, परन्तु वे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा मधुर व्यवहार बनाये रखते हैं। सज्जन और साधुजन

---

4. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, सर्ग 53-55।

कोई घटिया काम अपने विरोधी के प्रति भी नहीं कर सकते।

"कुजन कुम्भ कुम्हार का, एकै धका दरार" सज्जन एवं साधुजन के बिलकुल उलटे होते हैं कुजन एवं दुष्टजन। इनके लिए कुम्हार के बनाये मिट्टी के घड़े का उदाहरण उपयुक्त है। मिट्टी के घड़े में यदि एक बार धक्का लग जाये तो वह टूट जाता है और पुनः कभी नहीं जुड़ता। दुर्जन का स्वभाव ऐसा होता है। यदि वे एक बार टकरा गये तो जीवनभर के लिए वैर बांध लेते हैं। कितने लोग एक बार कुछ फरक पड़ जाने पर सदा के लिए टूट जाते हैं और दूसरे से न बोलने या दूसरे अमुक के दरवाजे पर न जाने का वीभत्स शपथ खा लेते हैं। वे मरते समय अपने बच्चों से भी कहे जाते हैं कि अमुक मेरा शत्रु है। उससे सम्बन्ध न रखना। बन सके तो उससे बदला लेना। दुष्ट का वैर तो पत्थर की लकीर होता है जो कभी न मिटने वाला होता है, मध्यम व्यक्ति का वैर बालू की लकीर होता है जो कुछ ही समय में मिट जाता है; परन्तु सज्जन का वैर पानी की लकीर होता है। पानी में लकीर इधर पारो और वह उधर मिट जाती है। इसी प्रकार किसी के दुर्व्यवहार से यदि सज्जन के मन में कुछ मलिनता आती है तो वह तुरन्त मिट जाती है।

दुर्जन भयंकर होता है। वह मिलना जानता ही नहीं। एक बार गांठ बांध ली तो बांध ली, वैर बना लिया तो बना लिया। वह वैर-विरोध की भावना में निरन्तर जलता है और दूसरों को जलाने का प्रयत्न करता है। ऐसा दुर्व्यवहार संसार में जगह-जगह देखा जा सकता है। न उन्हें यह ख्याल है कि आजकल में हमें संसार छोड़कर जाना है और न यह ख्याल है कि मानव जीवन का ऐसा सुनहला अवसर राग-द्वेष की आग में जल-जलाकर हम क्यों बरबाद करें! ऐसे लोगों के जीवन में अहंकार की आग होती है। वे अपने आप को बहुत योग्य समझते हैं। परन्तु अहंकार तथा राग-द्वेष की आग में जलने के अलावा उनको अन्य कोई चारा नहीं है। उनके जीवन में शांति का कोई अवसर ही नहीं आता। स्वयं राग-द्वेष में जलते रहें और दूसरे को जलाने का प्रयास करते रहें यही मानो उनकी नियति है।

मलिनता से मुक्त होने में मनुष्य समर्थ है

काजर केरी कोठरी, बुड़ता है संसार।
बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार॥ 226॥

शब्दार्थ—बलिहारी=निछावर, कुर्बान।

भावार्थ—इस संसार में आकर मानो हर आदमी माया के कुंड में डूबता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस व्यक्ति पर निछावर हूं जो इसमें डूबकर भी इससे निकल जाता है॥ 226॥

व्याख्या—जीव शरीर धारण करता है, जन्म लेता है और धीरे-धीरे संसार के विषय-विकार उसको लगते जाते हैं। दिन जितने बीतते हैं, वह निरन्तर माया में डूबता जाता है। बालक, किशोर, जवान, अधेड़ तथा वृद्ध जो भी उसे मिलते हैं, वे प्रायः दुर्व्यसन, विषय-वासना एवं मोह के पाठ पढ़ाते हैं, उसे नये-नये दुर्गुण और बुराइयां सिखाते हैं। इस संसार में प्रवेश करना क्या है मानो घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। आप जिधर निकलिए मन को खराब करने वाली आवाज सुनेंगे, चीजें तथा व्यवहार देखेंगे। अधिकतम आदमी तमोगुण एवं रजोगुण में डूबे हैं। उनकी संगत का प्रभाव वही होना है। गलत लड़कों की संगत में पड़कर कितने सज्जन-लड़के खराब आचरण के हो जाते हैं। जीव के साथ में अनादि अभ्यस्त विषयों की वासनाएं एवं संस्कार हैं। देह धारण करते ही वे उठने लगते हैं। इस प्रकार जीव के साथ में अनादि वासनाएं हैं, देह, इन्द्रिय और मन हैं, बाहर विषयों का गरम बाजार है, विषयों का पाठ पढ़ाने वाले नर-नारी हैं। इस प्रकार जीव को सब तरफ से विषय-वासनाओं में डुबाने वाले साधन हैं। अतएव देह धारण करते ही जीव मानो काजल की कोठरी में डूब जाता है। अर्थात माया के कुंड में गिर पड़ता है।

परन्तु "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।" उस नर या नारी की प्रशंसा है जो इस काजल की कोठरी संसार-शरीर में आकर इसके दोषों से निकल जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि मैं उस पर अपने आप को निछावर करता हूं, मैं उस पर कुर्बान हूं जो कालिख भरे संसार में आकर अपने आप को इससे निकाल लेता है। "बलिहारी तेहि पुरुष की" में 'पुरुष' शब्द स्त्री-पुरुष वाला 'पुरुष' नहीं है, किन्तु 'पुरि शेते पुरुषः' अर्थात जो शरीर रूपी पुर में सोता है वह चेतन पुरुष है। शरीर स्त्री का हो या पुरुष का, वह तो भौतिक है। परन्तु दोनों के भीतर एक समान चेतन पुरुष निवास करता है। अतएव नर के शरीर में जैसे चेतनपुरुष निवास करता है, वैसे नारी के शरीर में भी चेतनपुरुष निवास करता है। अतः नर हो या नारी, जिन्होंने अपने आप को इस घोर संसार से निकाल लिया है, वह धन्य है।

भूल हो जाना, भटक जाना, गलती हो जाना, तो सहज बात है। इसको लेकर किसी को नीची दृष्टि से न देखो। क्या दीवार भूल कर सकती है! क्या पेड़-पौधे, क्या पत्थर, तृण भूल कर सकते हैं! वे भूल नहीं करते। तो क्या तुम भी उन सरीखे बेजान होना चाहोगे! तुम मनुष्य हो, जानदार प्राणी हो और मनुष्येतर प्राणियों से भी श्रेष्ठ हो। तुम ज्यादा समझते हो। इसलिए तुम भटक भी सकते हो और सुपथ पर लग भी सकते हो। हे मानव, तू इस भव का भूषण है। तेरे समान केवल तू है। मानव की तुलना में केवल मानव है। परन्तु वह चारों तरफ से विषयों के संस्कारों से जकड़ा है। उसे विषयों की ओर ठेलने के लिए

जड़-चेतन सृष्टि तैयार है। इसलिए यदि वह कहीं फिसल गया तो बड़ी बात नहीं हो गयी। उसकी विशेषता है कि वह इस कीचड़ से निकल सकता है। जो इस कीचड़ से अपने आप को निकाल ले वह परमपूज्य है। घोर अविद्या, स्वार्थ, अहंकार, विषय-वासना—इन सब काले कज्जलों के भयंकर कुंड से जो अपने आप को निकाल लेता है कबीरदेव उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वे उस पर अपने आप को निछावर करते हैं। यह उनकी दीर्घदृष्टि और हृदयविशालता है।

काजर ही की कोठरी, काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रहा सो ओटहि ओट॥ 227॥

शब्दार्थ—काजर=काजल, कज्जल, माया, विकार। कोठरी=शरीर। कोट=किला, संसार। तोंदी=नाभि, पेट, मन, हाथ की उंगलियों के अग्रभाग। ओट=आधार, आड़ा, सत्संग-साधना का सहारा।

भावार्थ—यह शरीर मानो मलिनता की कोठरी तथा संसार मलिनता का किला है। परन्तु इनसे निकलने वाला पुरुष सत्संग तथा साधना का सहारा लेकर रहता है, इसलिए शरीर तथा संसार में रहते हुए भी उसका मन मैला नहीं होता॥ 227॥

व्याख्या—कुशल वक्ता और कवि संत कबीर ज्वलंत उदाहरण देकर हमें समझाते हैं। वे कहते हैं कि मानो एक किला हो जो कज्जल से भरा हो, उसकी सारी कोठरियां कज्जल से ओतप्रोत हों। एक ऐसा व्यक्ति उसमें रहता हो जो इतना सावधान हो कि उसकी उंगलियों के अग्रभाग भी काले न होते हों, तो यह उसकी प्रशंसा है। इसी प्रकार इस कालिख भरे शरीर और संसार में रहकर जिसका मन मलिन न हो वह प्रशंसा का भाजन है।

इस साखी में 'तोंदी' शब्द ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। तोंदी के दो मुख्य अर्थ हैं। तोंदी हाथ की उंगलियों के अग्रभाग को कहते हैं और पेट में स्थित नाभि को भी कहते हैं, इसका सामान्य अर्थ पेट भी है। पेट से अर्थ मन है। गांव के लोग किसी का मन मैला देखकर कहते हैं कि भैया, वे बातें चाहे जितनी साफ करें, परन्तु उनका पेट काला है। इसका अर्थ यही है कि उनका मन मैला है। उदाहरण में तोंदी का अर्थ हाथ की उंगलियों के अग्रभाग हैं तथा सिद्धान्त में मन है। कज्जल भरी कोठरी तथा किला में रहकर भी इतनी सावधानी बरती जाये कि हाथ की उंगलियों के अग्रभाग भी मैले न हों, तो उसकी सावधानी का फल है। इसी प्रकार मलिनता भरे शरीर और संसार में रहकर ऐसी सावधानी बरती जाये कि मन मैला न हो, तो यह उस व्यक्ति की परम जागरूकता का फल है। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा साधक "रहा सो ओटहि ओट" आड़ा, आधार एवं सहारा लेकर रहता है। सज्जनों एवं संतों की संगत, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय,

चिंतन, विवेक, ध्यान, समाधि और निरन्तर सावधानी, जो इन सबका सहारा लेकर रहता है, उसका मन मलिन नहीं होता।

मन-माया से सावधान वैराग्यप्रवर सद्गुरु कबीर इस साखी में मुख्य दो बातें बताते हैं—माया की प्रबलता तथा उसके बचने के सबल साधन। वे कहते हैं कि यह सच है कि शरीर तथा संसार कज्जल की कोठरी एवं किला के समान मलिनता के प्रबल कारण हैं। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि उनसे बेदाग बचने के लिए सबल साधन हैं; और जो उनका आधार लेकर जीवनभर रहता है, वह निर्मल जीवन व्यतीत करता है। जो सत्संग एवं साधना का ओट न लेगा, सहारा न लेगा, आधार न लेगा, वह संसार-सागर में डूब जायेगा। माया की प्रबलता प्रत्यक्ष है। जो असावधानी बरतेगा, कुसंग करेगा और सत्संग तथा साधना का त्याग करेगा, उसके फिसलने में देरी नहीं लगेगी। परन्तु जो अच्छी संगत का आधार लेगा, सत्संग में रमेगा, सद्ग्रन्थों का सदैव स्वाध्याय करेगा, सेवापरायण होगा, समय-समय से ध्यान और समाधि का अभ्यास करेगा, मन-इन्द्रियों तथा संसार के माया-जाल से सावधान रहेगा, निजस्वरूप का विवेक तथा चिंतन करेगा और इस प्रकार जो अपने सारे समय एवं जीवन के प्रत्येक क्षण को पर-सेवा तथा निज-संयम में लगायेगा वह मोह-माया में नहीं भूलेगा। उसका मन विकारग्रस्त नहीं होगा। इस संसार में मलिनता के अवश्य कारण हैं, परन्तु उससे बचे रहने के लिए भी प्रबल अवलम्ब हैं। अतएव साधक को चाहिए कि वह सत्संग तथा साधना का अवलम्ब लेकर निर्मल जीवन व्यतीत करे। स्वरूपबोधपूर्वक सर्वथा निर्दोषता की स्थिति ही दुखों से परे मोक्षावस्था है। निर्मल मन ही परम शांति का भंडार होता है।

भक्ति की सर्वोच्चता

अर्ब खर्ब ले दर्ब है, उदय अस्त लों राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सब कौने काज॥ 228॥

शब्दार्थ—महातम=माहात्म्य, विशेषता।

भावार्थ—अर्ब से खर्ब तक धन हो और सारे भूमंडल पर राज्य हो, परन्तु ये सब भक्ति के महत्त्व की तुलना में नहीं तुल सकते, क्योंकि ये सब जीव का क्या कल्याण कर सकते हैं!॥ 228॥

व्याख्या—संसार का अतुल धन, राज्य, शासन, परिवार, समाज तथा अन्य सांसारिक ऐश्वर्य जीव को शांति-सुख एवं अनंत-सुख नहीं दे सकते। परन्तु भक्ति मानव के कल्याण का परम शम्बल है। भक्तिविहीन आदमी संसार के सारे भोगों को पाने के बाद भी अन्दर से सूना-सूना रहता है। शरीर की रक्षा के लिए दो-चार रोटियां एवं दो-चार कपड़े यही मानो धन है, शेष धन वही

सार्थक है जो दूसरे की सेवा में लग सके। पर-सेवारहित बहुत धन-दौलत तो एक मानसिक रोग है, जो केवल पीड़ा का कारण है। धन कमाना तथा उसकी रक्षा करना बहुत लोग जानते हैं; परन्तु उसका अच्छा उपयोग करना कम लोग जानते हैं। दूसरे की सेवा में लगना ही धन का सदुपयोग है और यह बहुत कम लोग कर पाते हैं। इसलिए अधिकतम धनी लोग मन की अशांति में ही जीवन व्यतीत करते हैं।

"अर्ब खर्ब ले दर्ब है" का अभिप्राय है अधिकतम धन और "उदय अस्त लों राज" का अर्थ है पूरी पृथ्वी पर शासन। इन सबका अपना महत्त्व है। धन और शासन से जनता की सेवा करना धनी और राजा का काम है। एक वस्तु के कई पहल होते हैं, इसलिए उनके अध्ययन के हर पहल के अलग-अलग विषय होते हैं। जैसे शरीर का आंगिक अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन तथा अन्य भी अध्ययन के बहुत विषय हैं; वैसे धन और राज्य के भी कई पहलू हैं और उन्हें अनेक दृष्टियों से देखा जाता है। धन और राज्य के अपने अच्छे उपयोग हैं, यह सब ठीक है, परन्तु प्रश्न है कि क्या ये भक्तिविहीन मनुष्य को आत्मशांति दे सकते हैं! उत्तर साफ है कि ये आत्मशांति के कारण नहीं हो सकते। इस साखी का भाव है कि चाहे तुम्हारे पास अतुल-धन हो और विशाल राज्य हो, परन्तु तुम यदि भक्तिविहीन हो तो सफल-जीवन नहीं हो।

अब प्रश्न उठता है कि भक्ति किसे कहते हैं! विद्वान लोग भक्ति के अर्थ सेवा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति अनुराग, श्रद्धा, विभाग[1] आदि करते हैं। इस प्रकार भक्ति का पहला अर्थ है 'सेवा'। सेवा जानदार की ही की जा सकती है। बेजान वस्तुओं की सेवा भी इसलिए की जाती है कि उनसे जानदार की सेवा हो सके। जैसे मकान, मशीन, वस्त्र, पुस्तकें आदि नाना जड़ वस्तुओं को इसलिए संवारा-सुधारा, स्वच्छ और सुरक्षित रखा जाता है कि इनसे जानदार की सेवा की जा सके। पत्थर आदि जड़मूर्तियों तथा शून्य को भगवान-ईश्वर मानकर जो लोगों द्वारा उनकी सेवा करने का टोटका किया जाता है, उसमें भी जानदार की आत्मशांति ही हेतु होता है। यह अलग बात है कि उसमें कितनी शांति मिलती है। वस्तुतः प्राणियों का समूह सच्चा भगवान है और उसकी सेवा करना ही धन और राज्य का अच्छा उपयोग है। यदि प्राणि-सेवाविहीन धन और राज्य हैं तो वे निरर्थक ही नहीं, अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं।

भक्ति का दूसरा अर्थ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह है सत्य के प्रति अनुराग। हर व्यक्ति का अपना परम सत्य है अपनी चेतनात्मा, अपना

---

5. बृहत् हिन्दी कोश।

चेतनस्वरूप। अतः जिनके साहचर्य एवं सहायता से इस कार्य में बल मिले उन संत पुरुषों के प्रति अनुराग भी भक्ति है। इसलिए स्वामी शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है "स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते" अर्थात स्व-स्वरूप का अनुसंधान भक्ति कहलाती है। इसके लिए "पूज्येष्वनुरागो भक्तिः" अर्थात पूज्य के प्रति अनुराग होना भक्ति है। आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए पूज्य वही हो सकता है, जिसका जीवन निर्मल हो और जो अपने सत्यस्वरूप में स्थित हो। क्योंकि उसी के उत्तम आदर्श से उसे अपने स्वरूपानुसंधान एवं स्वरूपस्थिति में सहायता मिल सकती है। अतएव हम इस ढंग से भी कह सकते हैं कि प्राणियों की सेवा करना तथा पूज्य सन्त एवं गुरु की सेवा करना तथा उनके प्रति अनुराग रखना ही मानो सगुण भगवान की भक्ति है। प्राणिमात्र सगुण भगवान हैं और उनमें पवित्रात्मा बोधवान सन्त-गुरु सगुण भगवान के पूर्ण स्वरूप में हैं। उनकी सेवा से ही अन्तःकरण स्वच्छ होकर स्व-स्वरूपानुसंधान रूपी परा भक्ति की जा सकती है। पूज्य एवं सद्गुरु के प्रति भक्ति को हम 'अपरा' भक्ति कह सकते हैं। अपरा का अर्थ ही है जो पार न गयी हो। जो सांसारिक परदे के भीतर ही हो; और स्व-स्वरूपानुसंधान अर्थात स्वरूपस्थिति को हम 'परा' भक्ति कह सकते हैं। परा का अर्थ श्रेष्ठतम है। जो माया एवं प्रकृति के परदे से पार हो गयी हो वह परा भक्ति है।

सत्य पाया नहीं जाता, किन्तु सत्य का केवल ज्ञान पाया जाता है। बाहर का सत्य मेरा अपना सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि बाहर की चीजें मिलकर छूट जाती हैं। मेरा अपना सत्य मेरा अपना स्वरूप है। मेरा स्वरूप केवल चेतन है। अतएव जब तक हम यह नहीं समझते कि मेरा परम निधान, परम आश्रय एवं परम केन्द्र मेरी अपनी आत्मा ही है, मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है, तब तक हम बाहरी उलझनों से छुट्टी नहीं पा सकते। भक्ति का फल अनन्त शांति एवं मुक्ति है और वह तभी हो सकती है जब अपने सत्य स्वरूप को समझकर उसी में अनुराग हो जाये। अतएव स्वरूप की सच्ची समझ और स्वरूप के प्रति अनन्य अनुराग ही परा भक्ति है। इन सब की उपलब्धि के लिए बोधवान सन्त-गुरु के प्रति अनुराग, उनकी सेवा, उनकी आज्ञाकारितारूपी भक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति का अर्थ श्रद्धा भी है। श्रद्धा दो पदों का मेल है—श्रत्+धा, श्रत् का अर्थ सत्य है और 'धा' का अर्थ धारण करना है। सत्य का धारण करना ही श्रद्धा है। किसी भी व्यक्ति के लिए सत्य उसका अपना आत्मस्वरूप एवं चेतना है। अतएव अपने चेतनस्वरूप में निष्ठा तथा स्थिति ही श्रद्धा है और यही भक्ति है। भक्ति का अन्तिम अर्थ विभाग है, अलग हो जाना है। अतएव सारे जड़ दृश्यों से अपने आप को अलग कर लेना ही सच्ची भक्ति है। नीर-क्षीर का विवेक करके अपने स्वरूप को मन-माया से अलग कर लेना ही भक्ति है।

सद्गुरु ने कहा है—"भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।" (शब्द 32) अर्थात लोग भक्ति नहीं जानते, किन्तु भक्त कहलाते हैं। वे अमृत छोड़कर विष ग्रहण करते हैं। अमृत है चेतनस्वरूप और निष्कामदशा तथा विष है विषय-वासना। सद्गुरु कहते हैं "अमत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहिं मरण न होय॥" (रमैनी साखी 10) अतएव विषय-वासना छोड़कर स्वरूपबोध तथा निष्काम-दशा में ठहरना ही अमृत स्थिति है और यही परा भक्ति है और इसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा, अनुराग, सेवादि भी आवश्यक है जो अपरा भक्ति है।

उक्त साखी का सार अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य ने अतुल धन पाया और पूरे भूमंडल का राज्य पाया, तो वह क्या पाया यदि उसने भक्ति नहीं पायी, अर्थात अपने आप को नहीं पाया। धन और राज्य एक दिन छूट जाते हैं, परन्तु अपनी आत्मा अपने आप से कभी नहीं बिछुड़ती। इसलिए स्वरूपज्ञान, स्वरूपनिष्ठा एवं स्वरूपस्थिति रूपी भक्ति की तुलना में अतुल धन तथा विश्व का राज्य तुच्छ है। इस सन्दर्भ में महात्मा ईसा की याद आती है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य ने सारे संसार को पाया तो क्या पाया, यदि उसने अपने आप को खो दिया।

कबीर साहेब धर्म और अध्यात्मक्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। वे धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाले सारे जाल को अस्वीकारते हैं, परन्तु सकारात्मक पक्ष की रक्षा करते हुए। वे गुरु और भक्ति के महत्त्व को जानते हैं। इसलिए वे उनकी प्रशंसा करते हैं। वे गुरु और भक्ति के तात्त्विक स्वरूप को उपस्थित करते हैं, उनके विषय में चलने वाली भावुकता को नहीं। सद्गुरु ने उक्त साखी में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन किया, तो उन्हें मानो यह भी याद आया कि लोग भक्ति के नाम पर भटकते भी हैं। वे गुरुनामधारी अविवेकियों के हाथों में पड़कर दुख उठाते हैं। वे भ्रामक गुरुओं द्वारा मिथ्या प्रलोभनों में फंसाये जाते हैं। इसलिए सद्गुरु आगे तीन साखियों में धीमर और मछलियों का सुन्दर रूपक देखकर क्रमशः भ्रामक-गुरुओं और भटके हुए भक्तों का मार्मिक चित्रण करते हैं। देखें—

सच्ची भक्ति के विघ्न

मच्छ बिकाने सब चले, धीमर के दरबार।
अँखिया तेरी रतनारी, तू क्यों पहिरा जार॥ 229॥
पानी भीतर घर किया, सेज्या किया पतार।
पासा परा करीम का, तब मैं पहिरा जार॥ 230॥

मच्छ होय नहिं बाँचिहो, धीमर तेरो काल।
जेहि-जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल॥ 231॥

शब्दार्थ—मच्छ=मछली, तात्पर्य में दीन मनुष्य। धीमर=मछुआरा, मछली मारने वाला, तात्पर्य में भ्रामक गुरु। रतनारी=लाल। जार=जाल। पानी=पानी, वाणी। पासा=फंदा, बंधन। करीम=कृपालु। डाबर=गड्ढा, मतमतांतरवाद। मेले=फेंकना, डालना, फंसाना।

रूपक—सब मछलियां जाल में फंसकर मछुआरे के दरबार में बिकने चलीं। इतने में कोई उनका सावधान हितचिंतक उन्हें मिला और उनसे पूछा—"तुम्हारी आंखें लाल-लाल और स्वच्छ हैं, फिर तुमने क्यों अंधों-सरीखे जाल पहन लिया है?" मछलियों ने कहा—"हमने पानी के भीतर अपने रहने का स्थान बनाया था और सोने की शय्या तो पाताल में—बहुत गहरे में बना रखी थी। परन्तु हमारे ऊपर करीम नाम के मछुआरे के जाल का फंदा पड़ गया, तब हमें जाल पहन लेना पड़ा।" मछलियों के हितचिंतक ने कहा—"तुम दीन मछली बनकर मछुआरे के जाल से नहीं बच सकती, क्योंकि वह तुम्हें मारने वाला तुम्हारा काल है। तुम जिस-जिस गड्ढे में घूमोगी, वह वहीं-वहीं तुम्हें फंसाने के लिए तुम्हारे ऊपर जाल डाल देगा।"

भावार्थ—सब भावुक मनुष्य भक्ति की महिमा सुन और वाणियों के मोहक जाल में फंसकर गुरुओं के दरबार में बिकने चले। सद्गुरु कहते हैं—"हे मनुष्य! तू तो स्वच्छ विवेक-नेत्रों वाला प्राणी है। तू भक्ति की झूठी महिमा के जाल में क्यों फंस गया?" भावुक भक्तों ने कहा—"हमने गुरु महाराज की वाणियों में अपना मन बसाया और उनके आदेशों की गहराई में जाकर लीन हुए। इस प्रकार गुरुदेव या भगवान का हमारे ऊपर कृपा का फंदा पड़ गया और हमने जाल पहन लिया।" सद्गुरु कहते हैं—"तुम भावुक और दीन बनकर गुरुओं के जाल से नहीं बच सकते हो। ये भ्रामक गुरु तुम्हें फंसाने वाले काल हैं। तुम जिस किसी मत-मतांतर के गड्ढे में पहुंचोगे, वहीं उनके द्वारा फंसा लिये जाओगे" ॥ 229-230-231 ॥

व्याख्या—कबीर की पंक्ति-पंक्ति में कितनी आग है यह विचार करने पर पता चलता है। वे धर्म और भक्ति के नाम पर चलने वाले कूड़े-कचड़े को एकदम जला देना चाहते थे। वे भक्ति, धर्म तथा गुरु के समर्थक ही नहीं, उन्हें मानने वाले तथा महान धर्मप्राण एवं अध्यात्मप्रवण थे, परन्तु इनके नाम पर मनुष्यों को बहकाया जाना उन्हें बहुत खलता था। वे सबके सत्य स्वरूप के पक्षधर थे।

गुरु या सद्गुरु का महत्त्व सर्वोच्च है। परन्तु गुरु नाम धरा कर समाज को बेवकूफ बनाने वालों की पांचों उंगलियों सदैव घी में रही हैं। कबीर साहेब के

समय में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। इसलिए उन्हें यह सब देखकर कष्ट हुआ था और उन्होंने अपने विदग्धात्मक भाव अपनी वाणियों में उड़ेल दिये थे। जिनके आचरण पवित्र नहीं हैं, जो कामादि विकारों के शिकार हैं, जो राग-द्वेषादि मलिनताओं में लिपटे हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं है, जो भ्रांतियों में आकंठ डूबे हैं, ऐसे लोग गुरु या सद्गुरु बनकर जगत के लोगों को तारने की ठेकेदारी लेते घूमते हैं तो समाज का कैसे कल्याण होगा! इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धूर्त अपने आप को किसी तथाकथित भगवान या अमुक महापुरुष का अवतार घोषित करते हैं, आनन-फानन में ईश्वर-दर्शन का झांसा देते हैं जो एक जालसाजी है। चुटकी बजाते मुक्ति देते हैं। इतना ही क्या, वे पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय तथा संसार की सारी ऋद्धि-सिद्धि देने का झूठा प्रलोभन देते हैं और समाज को पथभ्रष्ट करते हैं। संसार के अधिकतम मनुष्य सांसारिक चीजों के लोभी हैं। धूर्त गुरु उनकी कमजोरियों को जानते हैं और सांसारिक चीजों के मिलने का प्रलोभन देकर उन्हें फंसाते हैं। हर मनुष्य को अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से संसार की चीजें समय-समय पर मिलती रहती हैं। इसी प्रकार भावुक-भक्तों को भी अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थ से ही कोई उपलब्धि होती है, परन्तु इसे वे उन भ्रामक गुरुओं की कृपा का फल मान लेते हैं और इसका वे दूसरे में भी प्रचार करते हैं। इस प्रकार गुरुडम चलता रहता है।

धार्मिक क्षेत्र में सबसे बड़ प्रलोभन है ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष-प्राप्ति का। ईश्वर-दर्शन एक छलावा है। जिसके भी आंखों से दर्शन होते हैं या मन से जिसकी कल्पना होती है वह सब भौतिक पदार्थ या भावना है। मनुष्य की आत्मा से अलग कोई ईश्वर नहीं है जिसके दर्शन उसे मिल सकते हों। परन्तु ईश्वर-दर्शन का भ्रम सहस्राब्दियों से चला आया है। आदमी कोई अवधारणा बना लेता है। जब उस अवधारणा में उसके मन का अत्यन्त अनुराग हो जाता है, तब वह उसे अपने मन में देखता रहता है। उसे समय-समय से ऐसा भी लगता है कि मानो वह उसे प्रत्यक्ष मिलता है। भावुक भक्तों को अपने मन में बुद्ध, महावीर, ईसा, राम, कृष्ण, कबीर आदि के दर्शन होते रहते हैं। वे उन्हें प्रत्यक्ष भी देखने का भ्रम करते रहते हैं। किसी भावुक को यदि कोई पत्थर की मूर्ति मुसकराती हुई दिखे तो यह आश्चर्य नहीं है। क्योंकि अधिक भावना में ऐसे मानसिक भ्रम का होना सहज बात है। सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की कल्पना करने वालों को बादल की बिजली की चमक में उसकी मुसकराहटें, हवा में उसके श्वसन, समुद्र की लहरों में उसके हाथ पटकने की क्रिया, वन-वनस्पतियों में उसके बालों को देखना सहज बात है। स्वामी रामतीर्थ जैसे पुरुष भावुक होकर नदियों, बादलों एवं वनों की श्यामता में कृष्ण को देखने का भ्रम करके उन्हें

पुकारते रहते थे। उदाहरण प्रत्यक्ष है कि कामियों को हर तरफ अपनी प्रेयसी दिखाई देती है, अति लोभियों को हर तरफ रुपये और अति मोहियों को अपने प्रियतम दिखते हैं। आदमी जिस व्यक्ति, वस्तु और अवधारणा में अपनी तदाकारता एवं तन्मयता कर लेता है, उसके मन में वे सदैव छाये रहते हैं। यही मानो उसका उनके दर्शन करना है। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने ईश्वर की जैसी कल्पना गढ़ रखी है, वह वैसे ईश्वर को अपने मानस-चक्षु में सब समय या समय-समय से देखता रहता है। इन सबका अर्थ यही हुआ कि ईश्वर-दर्शन का अर्थ है अपने मन और इन्द्रियों के विकारों के दर्शन। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर-दर्शन कुछ नहीं है। परन्तु भ्रामक गुरु भावुक भक्तों को ईश्वर-दर्शन का झांसा देकर उन्हें अपने जाल में फंसाते रहते हैं। कोई आंखों की गरमी और प्रकाश को ईश्वर-दर्शन बताता है, तो कोई अनाहतनाद के नाम पर खोपड़ी में होती हुई नसों की झनकार को, तो कोई अन्य चमक-दमक एवं अवधारणा को ईश्वर-दर्शन बताता है। कोई शून्य को ईश्वर बताकर कहता है कि लो, मैंने तुम्हें ईश्वर के दर्शन करा दिये।

दूसरी बात है मोक्ष-प्राप्ति की। मोक्ष जीव से अलग कोई वस्तु नहीं जो उसकी प्राप्ति करना हो और कोई उसे दे सके। मोक्ष तो है मन के मोह का क्षय। जब इन्द्रियां अपने वश में हो गयीं और मन प्रशांत हो गया, बस यही मोक्ष है। इसे दूसरा कोई नहीं दे सकता। यह तो व्यक्ति के अपने विवेक-वैराग्य एवं साधना का फल है। इसमें योग्य गुरु सहायक होता है। धूर्त गुरु तो इसमें बाधक बनेगा।

धूर्त गुरुओं के वाक्य-जाल में फंसकर भावुक भक्त लोग उनके दरबार में बिकने चले, तो कबीर साहेब ने उन्हें टोका—अरे विवेक-नेत्रों वाले मानव! तुम अंधे सरीखे कैसे जाल में फंस रहे हो। ये ऋद्धि-सिद्धि देने वाले, मोक्ष देने वाले तथा ईश्वर-दर्शन कराने वाले धूर्त गुरुओं के जाल में तुम क्यों फंस रहे हो? ये सिद्ध तथा अवतार बने भ्रामक लोग तुम्हें कुछ देने की शक्ति नहीं रखते हैं। यदि ये तुम्हें कुछ देंगे तो धोखा और छलावा। सदाचार और अच्छी बातों के उपदेश वे भी करते हैं और वे अपने जीवन में भी इनका दिखावा करते हैं। क्योंकि यही तो विश्वास उत्पन्न कराने का साधन है। परन्तु उनकी पोलपट्टी तब खुल जाती है जब वे अवतार बनते हैं, सिद्ध बनते हैं और अपनी कृपा से भक्तों को भोग तथा मोक्ष देने का प्रलोभन देते हैं। अतः हे मूलतः विवेक-प्रधान मानव! तुम ऐसे भ्रामकों के जाल में क्यों फंस रहे हो?

भावुक भक्त कहते हैं—'हे महाराज! हमने गुरु और भगवान के वचन सुने। उनकी बातें हमारे मन में बस गयीं। पीछे हम उन्हीं में लीन हो गये। दयालु गुरु एवं कृपालु भगवान ने मानो हमारे ऊपर अपने फंदे डालकर हमें

फंसा लिया है। अब हमने अपने आप को उन्हीं के अधीन कर दिया है। हमारे गुरु जैसे भी हैं हम उनको भगवान मानते हैं। यदि वे कामी हैं तो कृष्ण हैं, मोही हैं तो राम हैं, लोभी हैं तो वामन हैं, क्रोधी हैं तो परशुराम हैं। गुरु जैसे भी हों वे त्यागने योग्य नहीं होते। वे सदैव पूज्य एवं आराध्य होते हैं।

कबीर साहेब ने कहा—हे मनुष्य! तुम दीन बनकर अपनी मानवता एवं अपने सत्य स्वरूप में नहीं प्रतिष्ठित हो सकते। तुम बिना कर्म किये, केवल गिड़गिड़ाकर और भीख मांगकर जो भोग और मोक्ष चाहते हो यह तुम्हारी गहरी भूल है। तुम्हारे पुरुषार्थ एवं श्रम के बिना कोई गुरु तुम्हें कुछ नहीं दे सकता। विवेक तथा रहनी सम्पन्न गुरु के उच्चादर्श तथा उपदेश साधक को प्रेरित करते हैं। उसे श्रम तो स्वयं ही करना पड़ता है। यदि कोई सिद्ध या भगवान बनकर तुम्हें छूमंतर से भोग और मोक्ष देने की बात करता है तो वह धूर्त है। ऐसे लोग तुम्हारे काल हैं, तुम्हारे पथभ्रष्टक हैं। तुम इस प्रकार की बातें करने वालों के संप्रदायरूपी गड्ढे में गिरोगे तो वहीं फंसोगे "जेहि जेहि डाबर तुम फिरो, तहँ तहँ मेले जाल।" तर्क, विवेक, कारण-कार्य-व्यवस्था एवं विश्व के शाश्वत नियमों के विरुद्ध जहां तक बातें की जाती हैं सब जालसाजियां हैं। उनमें पड़ने से मनुष्य का भटक जाना सहज है। अतएव भक्ति की महिमा के जोश में जाल में न फंसो। सत्य में श्रद्धा ही भक्ति है।

अदृश्य बन्धनों की प्रबलता

बिन रसरी गर सकलो बन्धा, तासो बँधा अलेख।
दीन्हा दर्पण हस्त में, चश्म बिना क्या देख॥ 232॥

शब्दार्थ—गर=गला, गरदन। तासो=उससे। अलेख=अदृश्य। हस्त=हाथ। चश्म=आंख।

भावार्थ—बिना रस्सी के केवल मान्यता रूपी अदृश्य बन्धनों से सबकी गरदन बंधी हुई है। जैसे अंधे के हाथों में दर्पण देने से भी वह कुछ नहीं देख सकता, वैसे विवेकहीन तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण से रहित मनुष्य को सच्चा निर्णय सुनाने पर भी वह क्या समझ सकता है!॥ 232॥

व्याख्या—संसार में पशु आदि को बांधने के लिए रस्सी, जंजीर आदि के बन्धन होते हैं। चोर, बदमाश आदमियों को भी रस्सी, जंजीर आदि में ही बांधा जाता है। परन्तु जीव के बन्धन रस्सी, जंजीर आदि के नहीं हैं। सद्गुरु मार्मिक वचन कहते हैं—"बिन रसरी गर सकलो बन्धा"। सबकी गरदन बिना रस्सी के बंधी हैं। वह कौन-सा बन्धन है? सद्गुरु बताते हैं—"तासो बँधा अलेख" अर्थात मनुष्य उससे बंधा है जो अलेख है। अलेख का मतलब है जो लखने एवं

देखने में न आवे, जो अदृश्य हो। वह है मान्यता एवं अहंता-ममता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि मन की मान्यता ही तो हैं। मैं शरीर हूं या मेरा शरीर है, ये मकान, धन, परिवार, जाति, वर्ण, पद, प्रतिष्ठा मेरे हैं, मेरा निधान या आश्रय मुझसे अलग है—यह सब मान्यता ही है। इन्हीं मान्यताओं के जाल में जीव बंधा है। सद्गुरु ने कहा—"सबकी गरदन बिना रस्सी के बंधी हैं।" तब लोगों ने पूछा—"महाराज, वह कौन बन्धन है?" सद्गुरु ने कहा—"जीव उस बन्धन में बंधे हैं जो अदृश्य है।" वह अदृश्य बन्धन मन की मान्यता है।

एक प्रसिद्ध कहानी है। ऊंट के व्यापारियों के ठहरने की एक सराय थी। बहुत-से ऊंटों को लेकर एक व्यापारी सराय में रुका। सराय के मालिक से उसने ऊंटों को बांधने के लिए रस्सियां मांगीं। उसने सब ऊंटों को रस्सियों से बांध दिया। एक ऊंट बांधने से बच गया। रस्सियां खत्म हो गयी थीं। सराय वाले ने कहा कि अब तो मेरे पास रस्सियां नहीं हैं। उसने ऊंट वाले से कहा कि तुम ऐसा करो कि ऊंट को एक खूंटे के पास ले जाकर उसे अदृश्य की रस्सी से बांध दो। इसका अर्थ यह है कि जैसे रस्सी से बांधा जाता है, तुम वैसे ही अपने हाथ उसकी गरदन पर फेरकर उसे खूंटे से बांधने का दिखावा करो, ऊंट समझ लेगा कि मैं बंध गया हूं। ऊंट वाले ने वैसा ही किया। सचमुच ऊंट ने समझ लिया कि मैं बंध गया। ऊंट अपने खूंटे के पास बैठ गया। सुबह ऊंट वाले ने सारे ऊंटों की गरदन से रस्सियां खोलीं। सभी ऊंट उठ खड़े हुए और वहां से चल पड़े। परन्तु जो ऊंट अदृश्य रस्सी से बंधा था, वह न उठा। ऊंट वाले ने उसे डंडे मारे, हाथ से धकेला परन्तु वह उठा नहीं। ऊंट वाला बहुत हैरान हुआ। सब ऊंट सराय से चल दिये थे, परन्तु वह तो उठ ही नहीं रहा था। ऊंट वाले ने सराय के मालिक के पास जाकर अपनी समस्या बतायी। उसने कहा कि उस ऊंट की रस्सी भी खोल दो। ऊंट वाले ने कहा, परन्तु वह तो बंधा ही नहीं है, उसकी गरदन में रस्सी है ही नहीं। सराय वाले ने कहा कि तुम जैसे अदृश्य रस्सी से बांधे हो वैसे उसे खोलने का भी नाटक करो। उसकी गरदन पर हाथ फेरकर खोलने का उपक्रम करो, तब ऊंट समझेगा कि मैं खोला गया और उठकर चल देगा। ऊंट वाले ने वैसा ही किया और ऊंट उठकर चल दिया।

मनुष्य ऐसी रस्सी से बंधा है जो दिखाई नहीं देती। झूठी मान्यता के बन्धन उसके मन को जकड़ रखे हैं। शरीर और संसार का सम्बन्ध स्वप्न से भी झूठा है, क्योंकि स्वप्न से जागकर उसकी याद तो आती है, परन्तु शरीर छूट जाने पर शरीर और संसार की याद भी नहीं आती। ऐसे शरीर और संसार के प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता करना कितना घोर अज्ञान है। परन्तु आदमी इस अहंता-ममता के बन्धनों में बंधा रहता है। शराब, गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि की आसक्ति वाले आदमी उनके बिना रह नहीं पाते। आदमी

बाहर की किसी रस्सी से तो बीड़ी-सिगरेट आदि में नहीं बंधा है। वह भीतर से मान्यता एवं आसक्ति के बन्धनों से बंधा है जो दिखाई नहीं देते। इसलिए उससे छूटना बड़ा कठिन होता है। रस्सी तथा जंजीर के बन्धनों को तो वह जल्दी तोड़ दे, आदत और मोह के बन्धन तोड़ना विवेक का काम है।

आदमी सांसारिक माया-मोह में सब प्रकार का दुख पाते हुए भी उसमें बंधा हुआ घसिटता चला जाता है। वह मान्यता का, मोह का एवं ममता का ही बन्धन है जो देखने में नहीं आता है, परन्तु अति प्रबल है। लोग मरने के निकट होकर भी इसे नहीं छोड़ पाते। केवल स्थूल प्राणी-पदार्थों की मोह-ममता ही बन्धन नहीं है; किन्तु भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस, मन्त्र-तन्त्र, शकुन-अपशकुन, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, देवी, देवता तथा अपनी आत्मा से अलग अपना आश्रय-स्थल किसी ईश्वर-परमात्मा की अवधारणा आदि सब केवल मन की मान्यता का जाल है जो जीव के लिए अदृश्य बन्धन है। मान्यता मात्र बन्धन है। सारी मान्यताओं को छोड़ देने के बाद स्वयं आत्म-अस्तित्व ही मुक्तस्वरूप है। जीव निजस्वरूप को भूलकर अपने से अलग कुछ मान-मानकर ही बंधा है। श्री विशाल साहेब ने कहा है—"लोह जंजीर न रसरी बंधन, बड़े-बड़े सुभट सो खाय पछरवा हो।" अर्थात यह अहंता-ममता का बंधन कोई लोह-जंजीर एवं रस्सी का नहीं है, परन्तु इससे बड़े-बड़े वीर भी पछाड़ खाते हैं। रस्सी, जंजीर एवं जेलखाना रूप स्थूल बन्धन काटने में सरलता होती है, परन्तु मान्यता का बन्धन काटना बड़ा कठिन होता है। कोई शूरवीर ही इसे काटता है।

अंधे आदमी के हाथों में स्वच्छ दर्पण दे दिया जाये तो उससे वह अपना मुख नहीं देख सकता, वैसे ही विवेकहीन आदमी को चाहे जितना सत्य निर्णय सुनाओ, वह उससे नहीं जग सकता। आदमी ने आंखें होने पर भी उन्हें बंद कर ली हैं। मनुष्य का मौलिक स्वरूप विवेकसंपन्न है, परन्तु उसने मान्यताओं का अंधापन स्वीकार कर लिया है। चाहे संसार की मोह-ममता की बातें हों, चाहे राग-द्वेष की बातें हों, चाहे वैर-विरोध की बातें हों, चाहे नाना काल्पनिक अवधारणाओं की बातें हों, जिस आदमी ने जहां जैसी मान्यता बना ली है, उससे वह हटना नहीं चाहता। एक बार खूंटा गाड़कर जहां बंध गये, तो बंध गये। ऐसे अंधों को कोई कैसे सुपथ पर लगा सकेगा!

जीव का स्वरूप शुद्ध चेतन है। परन्तु उसने जितनी मान्यताएं बना रखी हैं सब विजाति हैं। जीव का अपना 'आपा' एवं 'स्व' केवल उसकी चेतना है और जो मन की मान्यताएं हैं वे 'पर' हैं। जीव 'स्व' को भूलकर 'पर' के हाथ में बिक गया है। सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—

समुझाये समुझे नहीं, पर हाथ आपु बिकाय।
मैं खैंचत हौं आप को, चला सो जमपुर जाय॥ 233॥

शब्दार्थ—पर हाथ=दूसरे के हाथों; मन, माया, मान्यता एवं कल्पना के हाथों। आप को=अपनी ओर, स्वचेतन स्थिति की ओर। जमपुर=वासनाओं-मान्यताओं का जाल।

भावार्थ—मनुष्य समझाने पर भी नहीं समझता। वह अपने आप को दूसरों के हाथों में बेच रहा है। मैं तो उसे अपनी ओर खींचता हूं कि सारी मान्यताओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होओ, परन्तु वह मान्यता एवं वासना रूपी यमपुर में जा रहा है॥ 233॥

व्याख्या—"पर हाथ आपु बिकाय" बहुत वजनदार वचन है। मनुष्य अपने आप को दूसरे के हाथों में बेचता है। वह समझता है कि मेरे स्थायी सुख का साधन कोई दूसरा है। मनुष्य ने इन्द्रियों के भोगों के लोभवश अपने आप को दूसरों के हाथों बेच दिया है। वह प्राणी-पदार्थों, मैथुन, मोह, नशा, नाच, रंग, मंत्र, तंत्र, देवी-देवादि के हाथों तथा पता नहीं कितनी जगहों में अपने आप को बेच दिया है। मनुष्य अपने आप को 'स्व-वश' न रखकर 'पर-वश' कर दिया है। परन्तु परवशता ही सब प्रकार का दुख है और स्ववशता ही सर्वस्व सुख है।[1] बस इतनी ही सुख-दुख की परिभाषा है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उच्छृखंलता को स्ववशता नहीं कहते। स्ववशता है मन-इन्द्रियों की विवशता से मुक्ति। उच्छृंखलता तो घोर परवशता है। आदमी ने अपने आप को वासनाओं के हाथों बेच दिया है। उसे समझाया जाये तो वह समझता नहीं। जिसके मन में जो भ्रम, जो मान्यता, जो आसक्ति गड़ गयी है, उसका निकलना कठिन हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं—"मैं खैंचत हौं आप को, चला सो जमपुर जाय।" मैं लोगों को अपनी ओर खींचता हूं और लोग ऐसे हैं कि वे यमपुर की ओर जा रहे हैं। गुरु जीव को अपनी ओर खींचते हैं। अपनी ओर है स्वरूपस्थिति और यमपुर है वासनाओं का समूह। गुरु के वचनों पर ध्यान देकर कोई बिरला सुज्ञ जीव अपनी स्वरूपस्थिति की ओर लौटता है। शेष तो यमपुर की ओर ही जाते हैं। लोग मान्यताओं तथा वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझे मन की धारा में बहते रहते हैं। जो मन की धारा से निकलकर स्वरूप में स्थित हो, वह धन्य है। मन की धारा से निकल आना ही स्वरूपस्थिति में रहना है तथा स्वरूपस्थिति में रहना ही मन की धारा से निकल आना है। "सहजै हीरा नीपजै, जब मन आवै ठौर।"

माया-मोह से मुक्त होने का साधन नित्य सत्संग है

6. सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्। (मनुस्मृति)

नित खरसान लोहाघुन छूटै। नित की गोष्ट माया मोह टूटै॥ 234॥

शब्दार्थ—खरसान= अधिक तेज सान, पत्थर की वह चक्की जिस पर उस्तुरा, कैंची, चाकू आदि की धार तेज की जाती है उसे 'सान' कहते हैं। घुन=मोरचा, लोह का मैल जो पानी तथा हवा के संयोग से लोहे में से ही पैदा होता है। गोष्ट=गोष्ठी, सत्संगवार्ता।

भावार्थ—छुरा, कैंची, चाकू आदि को बराबर तेज सान पर चढ़ाकर माजते रहने से उनका मोरचा झड़ता रहता है, और वे तेज तथा चमकदार बने रहते हैं। इसी प्रकार नित्य संत-सज्जनों की संगत तथा ज्ञानचर्चा करते रहने से माया-मोह छूटता रहता है॥ 234॥

व्याख्या—जैसे लोहे के औजार में पानी और हवा के संयोग से मोरचा लगता रहता है, परन्तु उसे माजते रहें तो मोरचा छूटता रहता है और वह चमकता रहता है, वैसे हमारे मन की दशा है। पूर्व वासनाएं, मन-इन्द्रिय, विषय-पदार्थ, प्राणी तथा नाना व्यवहार के सम्बन्ध में मनुष्य के मन में मलिनता आने की हर क्षण संभावना रहती है। इनसे साधक तभी बचा रह सकता है जब वह निरंतर संतों एवं सज्जनों की संगत करे और उनसे स्वरूपज्ञान, सदाचार एवं सद्गुणों की चर्चा सुनता एवं करता रहे। संत-सज्जनों के उत्तम आदर्श देखने तथा उनकी वाणियों को सुनकर उन पर मनन करने से साधक को अपने चित्त की शुद्धि में शंबल मिलता है।

गृहस्थ-भक्तों से कहा जाता है कि वे पूरा परिवार इकट्ठे होकर अपने घर में प्रतिदिन एक समय अपने मान्य ग्रन्थों का पाठ, कथा, सत्संग-वार्ता करते रहें, तो इन बातों का उनके मन पर रोज-रोज प्रभाव पड़ेगा, परन्तु कम लोग इस पर ध्यान देते हैं। हर गृहस्थ को अपने घर में नित्य एक समय पाठ, कथा, सत्संग का आयोजन करना चाहिए और पूरे परिवार को इसका लाभ लेना चाहिए। पड़ोस के लोग भी आकर लाभ लें तो अच्छा है। फिर गांव या मोहल्ले में भी यह आयोजन होना चाहिए, सप्ताह में एक बार ही हो। पूरा परिवार एक बार इकट्ठा बैठ जाने से एक तो आपस में प्रेम बनता है। उनके व्यवहार में यदि कुछ विकार आया हुआ रहता है तो वह धुल जाता है। साथ-साथ नित्य के प्रापंचिक व्यवहार की मलिनता सत्संग से धुलती रहती है। प्रपंच तो रुक नहीं सकता, सत्संग रोक देने से चित्त की मलिनता बढ़ने के सिवा और क्या होगा! गृहस्थ तो गृहस्थ ही हैं कितने साधुओं के मठ में सत्संग नहीं होता। उनका मठ भी केवल कमाने-खाने की जगह बनकर रह जाता है। जिस मठ में सत्संग-वार्ता नहीं होती, वहां के साधु साधना-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं और उनसे समाज को कोई प्रेरणा नहीं मिलती। हम नित्य घर-आंगन बुहारते हैं। यदि न बुहारें तो वे कचड़े से भर जायेंगे। इसी प्रकार सत्संग और विचार से यदि हम अपने मन को

न बुहारते रहेंगे तो हमारे मन में मलिनता आ जायेगी।

राम और माया दोनों में माया का मोह तो अनादि अभ्यस्त है और आज भी वह मनुष्य के अन्दर और बाहर धूं-धूं कर गुजर रहा है; परन्तु राम का परिचय तथा उसमें अनुराग दुर्लभ वस्तु है। राम की याद दिलाने वाले सद्ग्रन्थों का पाठ, वाचन, कथा-वार्ता, सत्संग, गोष्ठी आदि हैं और यदि आदमी इनसे दूर रहता है, तो उसके मन में केवल माया की प्रतिष्ठा रहेगी, राम की नहीं। इसका फल होगा जीवन का दुखों में डूबा रहना। धन, परिवार तथा संसार के ऐश्वर्य चित्त को शांति नहीं दे सकते। मन जितना माया में डूबा रहेगा उतना वह पीड़ा का कारण बनेगा और जितना राम की याद में रहेगा, राम में रमेगा, उतना वह शीतल एवं सुख से पूर्ण रहेगा। पर-प्रकृति माया में रमना दुखों का कारण है और स्वरूप-राम में रमना सुखों का कारण है। जो नित्य सत्संग करता रहेगा, उसी के जीवन में दैवी संपदा का निवास होगा और वही माया से मुक्त होकर निजस्वरूप राम में स्थित हो सकेगा।

उलटा चलकर पहुंचने की भूल

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
शिर पर विष की मोटरी, चाहै उतरन पार॥ 235॥

शब्दार्थ—नावरी= नौका। पाहन=पत्थर। गरुवा=वजनदार।

भावार्थ—मनुष्य लोहे की नौका में पत्थर का वजनी भार लादकर और सिर पर विष की गठरी रखकर पार उतरना चाहता है। अर्थात वह जड़-बुद्धि, दुष्कर्म तथा विषय-वासनाओं का आधार पकड़कर जीवन में चिरंतन सुख चाहता है॥ 235॥

व्याख्या—जड़बुद्धि मानो लोहे की नौका है, दुष्कर्म मानो पत्थर का वजनदार बोझा है और विषयों की वासनाएं मानो विष की गठरी हैं। इन्हीं का सहारा लेकर अनंत सुख की कामना करना कितना बड़ा व्यामोह है। इस साखी में जड़बुद्धि, दुष्कर्म और विषय-वासना के लिए लोहे की नौका, पत्थर का वजनी भार एवं विष की गठरी रूपक हैं, जो विषय-वस्तु को सरलता से समझने में सहयोग करते हैं। हम इन बातों पर अलग-अलग विचार करें।

पहली बात है जड़बुद्धिरूपी लोहे की नौका पर सवार होना। जड़बुद्धि का अर्थ है सत्य-असत्य न समझ पाना। यहां यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि अपढ़ आदमी जड़बुद्धि का होता है और पढ़ा-लिखा आदमी चैतन्य बुद्धि का। यह ठीक है कि पढ़ाई-लिखाई बुद्धि में सहयोग करती है, परन्तु जड़बुद्धि और चैतन्यबुद्धि से उसका ज्यादा सम्बन्ध नहीं है। कितने पढ़े-लिखे लोग सत्यासत्य

समझने से लाखों कोस दूर हैं। कितने वकील, जज, प्रोफेसर, इन्जीनियर, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य आज भी राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, कबीर, हनुमान के दर्शन करने, उनसे साक्षात मिलने तथा उनसे बातें करने का दावा करते हैं। उन्हें न कारण-कार्य-व्यवस्था का ज्ञान है, न विश्व के शाश्वत नियमों से मतलब है और न विवेकबुद्धि से प्रयोजन है। कितने पढ़े-लिखे तथा विद्वान नामधारी भूत-प्रेत, देवी-देवतादि के घोर अंधविश्वास में डूबे हैं। विद्वान कहलाते हैं, किन्तु उन्हें जड़ और चेतन का कोई विवेक नहीं है। निजस्वरूप का बोध तो अत्यन्त कठिन हो गया है। बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि कहलाने वाले भी अपने चेतनस्वरूप को जड़ से सर्वथा भिन्न नहीं समझ पाते। वे कहते हैं "यह जगत मुझसे अलग कहां है! मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं और मैं ही यह अनंत ब्रह्मांड हूं।" वे 'स्व' और 'पर' तथा 'चेतन' और 'जड़' के भेद को समझते ही नहीं हैं। अब विचारिए कि ऐसे लोगों को जड़बुद्धि का समझा जाये या विवेकबुद्धि का! 'स्व' और 'पर' का विवेक जिसे नहीं है, वह जड़बुद्धि का है, यह सहज समझा जा सकता है। जड़बुद्धि का व्यापक अर्थ है स्व-पर, चेतन-जड़, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि को प्रायः न समझ पाना।

दूसरी बात है "पाहन गरुवा भार" दुराचरणरूपी पत्थर का बोझा। जिसकी बुद्धि ही जड़ है उसके सारे आचरण कैसे पवित्र हो सकते हैं! बुद्धि की गड़बड़ी से आचरण गड़बड़ होंगे ही। गलत कर्म एवं गलत आचरण मनुष्य के लिए वजनदार बोझा बन जाते हैं। जिसके गले में पत्थर बंधे हों वह पानी में सहज ही डूब जायेगा। इसी प्रकार जो कुकर्म तथा बुरे आचरणों के भार से लदा है वह संसार-सागर में डूबेगा ही। पूछते हैं—'सबसे भारी क्या होता है?' उत्तर देते हैं 'अपना बनाया पाप।'

तीसरी बात है "सिर पर विष की मोटरी" विषय-वासनाएं ही जिसके सिर पर नाच रही हैं, अर्थात जिसके दिमाग में विषयों के विष भरे हैं, वह अविनाशी एवं अमृत पद से तो दूर रहता ही है उलटे नरककुण्ड में गिरता है। वस्तुतः विषय-वासनाएं ही नरककुण्ड हैं।

चौथी बात है तिस पर भी "चाहे उतरन पार" संसार-सागर से पार उतरना चाहता है। इतनी सारी विसंगतियों को लेकर भी मनुष्य पार उतरना चाहता है। पार उतरना क्या है? वस्तुतः पूर्ण प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करना, चिरंतन सुख एवं सदा आनन्द में रहना पार उतरना है। जब मन में कुछ करने, भोगने, देखने, सुनने तथा जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती; जब व्यक्ति सब समय पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अखण्ड तृप्त हो जाता है तब वह मानो संसार-सागर से पार हो गया। संसार-शरीर में रहते हुए भी जब संसार-शरीर से जीव एकदम निष्काम हो जाता है तब यही उसका संसार-सागर से पार हो जाना है।

क्या भगवद्दर्शन का फल दुख में भटकना है?

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय॥ 236॥

शब्दार्थ—हिंवारे= हिमालय। काई=मैल।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के समीप रहने वाले पांचों पांडव स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्ति के लिए जाकर हिमालय में गले, परन्तु लोहा को यदि पारस-पत्थर मिल जाये तो उसे मैल क्यों खायेगा! अर्थात जिसे बोध मिल गया है उसे भटकने की क्या आवश्यकता!॥ 236॥

व्याख्या—श्रीकृष्ण जी को राजनेता और ज्ञानी ही नहीं, पूर्णब्रह्म एवं जगतकर्ता मान लिया गया है। कहा जाता है कि उन्होंने सात सौ श्लोकों की गीता अर्जुन को बोध देने में ही कही है। गीता के अनुसार श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप दर्शन भी अर्जुन को दिये हैं। लोग मानते हैं कि जो परमात्मा के दर्शन पा जाता है वह कृतार्थ हो जाता है। उसे कुछ करना बाकी नहीं रहता। पांचों पांडव तो परमात्मा कृष्ण के सहचर ही थे। आश्चर्य होता है कि इतना होने पर भी उनके दुख नहीं छूटे थे। महाभारत पढ़ो तो गीता का पूर्ण ज्ञान पाने के बाद भी अर्जुन सहित पांचों पांडव हिमालय में गलकर स्वर्ग जाने का उपक्रम करते हैं। वह भी हिम में गलकर केवल स्वर्ग पाने की बात है, मोक्ष की नहीं।

मरने के बाद क्या हुआ था इसका चक्कर छोड़ दें। पांडवों की दशा जीते जी क्या हुई थी इसे महाभारत पढ़कर जाना जा सकता है। तथाकथित विश्वनियन्ता श्रीकृष्ण के साथ रहकर भी पांडवों का पूरा जीवन कंटकाकीर्ण था। पांडवों के देखते-देखते उनकी पत्नी को भरी सभा में निर्वस्त्र करके अपमानित करना, पांडवों का नगर से निकाला जाना, उनका मृगछाला पहनकर घोर जंगलों में बारह वर्ष भटकते हुए नाना कष्ट भोगना, एक वर्ष का अज्ञातवास करते हुए नाना कष्ट उठाना, नगर में आकर राज्य वापस न पाना, कौरवों से भीषण युद्ध करना, पिता, पितामह एवं गुरुओं को छल-छद्म से मारना, उसके बाद अवशेष जीवन परिवार-विनाश के अनुताप में रोते रहना, और अन्त में हिमालय में गलकर मरना, यही है पांडवों के भगवद्दर्शन एवं भगवान के साथ जीवनभर रहने का फल। भगवद्दर्शन से परमशांति एवं परमानन्द की प्राप्ति की बात का पांडवों के जीवन में कहीं पता नहीं चलता। श्रीकृष्ण महाराज एक राजनीतिज्ञ वीर योद्धा और ज्ञानी थे। उनको परमात्मा तो लेखकों ने बनाया है।

घमण्ड का त्याग करो

पूरब उगै पश्चिम अथवै, भखै पौन के फूल।

ताहू को राहू ग्रासे, मानुष काहेक भूल॥ 237॥

शब्दार्थ—पौन= पवन, वायु।

भावार्थ—सूर्य जगत को प्रकाश देने के लिए पूर्व में उगता है और दिन भर लम्बी यात्रा कर पश्चिम में डूब जाता है और आहार हिंसा-रहित लेता है केवल पवन के फूल। ऐसे निर्दोष को भी समय-समय से राहु ग्रसता है, फिर मनुष्य किस अभिमान में पड़कर मृत्यु को भूल रहा है!॥ 237॥

व्याख्या—सूर्य का दिखाई देने का आरम्भ होना उसका उगना है। वह जिस तरफ दिखाई देना शुरू करता है उस दिशा को पूर्व कहते हैं, और जिस तरफ दिखना बन्द हो जाता है, पृथ्वी का आड़ा हो जाता है उसे पश्चिम कहते हैं। सूर्य यह नहीं जानता कि मैं संसार को प्रकाश देकर परोपकार कर रहा हूं। वह हवा का न आहार करता है और न उसे राहु ग्रसता है। यह सब तो आलंकारिक कथन है। सार यह है कि जब ऐसा परोपकारी, समर्थ, श्रमशील एवं निरपराध सूर्य भी ग्रहण की चपेट में आ जाता है, तब दूसरे की हानि करने वाले, असमर्थ, आलसी एवं अपराध करने वाले आदमी किस घमंड में भूले हैं! उनका मृत्यु के मुख में जाना तो एकदम सहज है।

मनुष्य नाना दुर्बलताओं से घिरा है; क्योंकि उसे अपने समर्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है। वह अपने अविनाशी चेतनस्वरूप के विवेक से रहित है और देह ही को अपना स्वरूप मानता है। इसलिए देहाभिमानी बनकर नाना मलिनताओं में लिपटा रहता है। विषयों की मलिनता में लिपटे हुए होने के नाते अनेक आदतों, आसिक्तयों एवं दुर्गुणरूपी दुर्बलताओं का शिकार बना है। इसके साथ वह जिस शरीर में रहता है वह अत्यन्त क्षणभंगुर है। इसलिए मनुष्य को किसी प्रकार का अहंकार करना उचित नहीं है। उसे चाहिए कि वह विनम्रतापूर्वक अपने आचरण सुधारे।

मन और इन्द्रियों को जीतो

नैनन आगे मन बसै, पलक पलक करे दौर।
तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर॥ 238॥

शब्दार्थ—तीन लोक=पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा पाताल; पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे तथा पृथ्वी के ऊपर; सम्पूर्ण विश्व; सत, रज तथा तमगुणयुक्त समस्त जीव।

भावार्थ—मन नेत्रों के आगे बसता है और पलक-पलक दौड़ लगाता है। सभी जीवों के ऊपर मन राजा बन बैठा है। सब जगह मन की पूजा हो रही है॥ 238॥

व्याख्या—जागृति-अवस्था में मन की वृत्ति विशेष नेत्रों के सामने ही रहती हे। मनुष्य नेत्रों से जो-जो देखता है उसी-उसी में उसका मन चला जाता

है, और उसे जो दृश्य ज्यादा प्रिय लगता है उसका मनन करने लगता है। रूप की तरह शब्द विषय भी ज्यादा संवेदनशील होता है। शब्दों को सुनकर मन उसका मनन करता है। मनुष्यों में गंध की आसक्ति ज्यादा नहीं होती। स्पर्श तथा रस ये दो विषय इन्द्रियों को छूकर ही मन को आंदोलित करते हैं, परन्तु रूप और शब्द दूर से ही मनुष्य के मन को प्रभावित करते रहते हैं। एक दृष्टि से देखा जाये तो शब्द विषय का सर्वाधिक व्यापक प्रभाव है। वह ग्रंथों एवं पुस्तकों के रूप में पुराकाल से विद्यमान है। अर्थात साधक और बाधक दोनों प्रकार के शब्द नाना किताबों के द्वारा मनुष्य तक पहुंचते रहते हैं। मनुष्यों के द्वारा सुनकर और स्वयं कहकर शब्दों का ही सर्वत्र आदान-प्रदान होता है। इस विषय को इस प्रकरण के शुरू की साखियों की व्याख्या पढ़कर ज्यादा समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्गुरु ने नेत्र से रूप विषय के सम्बन्ध में मन के पलक-पलक रमने की बात कही है। जो परम सत्य है। जागृति अवस्था में नेत्र प्रायः हर समय खुले रहते हैं और नेत्रों के सामने जो कुछ दिखाई देता है उसी में मन रमा करता है। दृश्यों में मन जिसे आकर्षक मान लेता है उसमें आसक्त हो जाता है, और कही-कहीं यह नेत्रों की चोट भयंकर होती है। मनोनुकूल स्त्री को देखकर पुरुष तथा पुरुष को देखकर स्त्री मोह-विह्वल हो जाते हैं। पतिंगे मूढ़ होने से दीपक की ज्योति में चिपककर मर जाते हैं; परन्तु कोई-कोई नर और नारी समझदार होकर भी इतने मूढ़ हो जाते हैं कि स्त्री या पुरुष के शरीर के कुछ उभरे और गहरे हाड़ और मांस के आकार, चिकने चाम, बाल और वस्त्र के मोड़ों को देखकर प्रलुब्ध हो जाते हैं। कुछ लोग तो रूप के मोह में इतने मूढ़ हो जाते हैं कि अपरिचित स्त्री या पुरुष के पीछे दीवाने होकर अपमान, लात, जूते एवं डंडे खाते हैं। स्त्रियां पुरुषों की तरफ आकर्षित होकर ज्यादा अनर्थ नहीं करती हैं। ज्यादातर पुरुष ही स्त्रियों को देखकर मूढ़ बनते हैं। इसलिए नेत्र-संयम की बड़ी आवश्यकता है। सद्गुरु कहते हैं—"स्त्री को घूरकर मत देखो, उसको देखकर उसके शरीर एवं अंगों की बार-बार याद मत करो। उसे घूरकर देखने से तुम्हारे मन में मोह एवं विषय-वासनाओं का विष चढ़ जायेगा और तुम्हारे मन में कुछ गंदी बातें आ जायेंगी।" मूल वचन इस प्रकार है—

नारी निरख न देखिये, निरखि न कीजै गौर।
निरखत ही ते विष चढ़े, मन आवै कुछ और॥

सद्गुरु कहते हैं कि सारे विश्व के प्राणियों के बीच में मानो मन ही राजा बन गया है और सब जगह सब लोग मन की ही पूजा में लगे हैं। इसका खुलासा यह है कि मनुष्य अपने आप को इतना भूल गया है कि मन जिधर बहता है वह उसी तरफ लुढ़क जाता है। संसार के अधिकतम मनुष्य मन के नचाये नाचते

हैं। कुछ लोग तो मन के इतने गुलाम हैं कि उनकी अत्यन्त दयनीय दशा होती है। परन्तु जो इन्द्रिय और मन की गुलामी करता है वह पशु से भी गया-बीता आदमी है और जो मन-इन्द्रियों पर विजयी है वह महत्तम मानव है।

मन स्वारथी आप रस, विषय लहर फहराय।
मन के चलाये तन चलै, जाते सरबस जाय॥ 239॥

शब्दार्थ—स्वारथी=स्वार्थी, खुदगरज। रस=स्वाद। फहराय=चंचल होना।

भावार्थ—मन अपने इन्द्रिय-विषयों के स्वाद का स्वार्थी है। उसमें विषयों की ही लहरियां उठती रहती हैं। मन के विचलित होते ही शरीर विचलित हो जाता है, जिससे सर्वस्व नष्ट हो जाता है॥ 239॥

व्याख्या—मन स्वार्थी है, खुदगर्ज है। वह सदैव अपने रस में डूबा रहता है। उसे सदा विषयों के स्वाद प्रिय हैं, क्योंकि वह अनादिकाल से उनमें आसक्त है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। सामान्य मनुष्य के मन में प्रायः हर समय कोई-न-कोई विषय की लहर विद्यमान रहती है, और वह उसी में डूबा रहता है। साधारण आदमी भी हर समय अपने मन को रोकता है। जिस विषय से वह अपने मन को नहीं रोक पाता, उससे वह कम-से-कम अपनी इन्द्रियों को तो रोकता ही है। मनुष्य का मन हर क्षण जैसे सोचता है उसके अनुसार इन्द्रियों से आचरण करके तो वह जीवित ही नहीं रह सकता। जब किसी एक विषय में मनुष्य का मन निरन्तर चलता है और उससे वह अपने को अलग नहीं करता, तो उस विषय में उसके मन में एक मोह उत्पन्न हो जाता है। मोह उत्पन्न होने पर वह कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हित-अहित का विवेक खोकर घोर अन्धकार में पड़ जाता है और वह उसी विचलित मन के अनुसार बह जाता है।

साधारण गृहस्थ हो या वेषधारी, जो व्यक्ति स्त्रियों के कामोद्दीपक अंगों के सहित उनका स्मरण करता रहेगा, वह एक-न-एक दिन अपने पद से गिर जायेगा। हजार ज्ञान, हजार युक्तियां कुसंग तथा कुस्मरण की बहिया में बहकर पता नहीं कहां चले जाते हैं। मन विचलित होने पर शरीर विचलित हो जाता है और मन तथा शरीर दोनों विचलित हो गये तो मानो सर्वस्व चला गया। अर्थात उसका सब प्रकार से पतन हो गया। इसी प्रकार कोई साधारण स्त्री या साधिका यदि किसी पुरुष के अंगों सहित उसकी देह में अनुरक्त होने लगी तो वह धीरे-धीरे उस तरफ फिसलकर अपने आप को खो देगी। अच्छे-से-अच्छे साधक भी कुसंग के कारण ही गिरते हैं। स्त्री के लिए पुरुष तथा पुरुष के लिए स्त्री विरोधी आलंबन हैं। विरोधी आलंबन के निरंतर घूर-घूरकर दर्शन तथा डूब-डूबकर स्मरण करते रहने से पतित होने के सिवा कोई चारा नहीं है।

साधक एवं साधिका को चाहिए कि जिन दर्शनों, शब्दों, स्पर्शों, स्मरणों

आदि से मन में काम-वासना सम्बन्धी मलिनता पैदा हो उन्हें सांप-बिच्छू से भी भयंकर समझकर उनसे दूर होते रहें। 207वीं तथा 208वीं साखी की व्याख्या में विशाल देव की साखी के उदाहरण हम देख आये हैं कि कुसंग के कितने रूप हैं। जिन-जिन दृश्यों एवं शब्दों से मन विचलित हो, वे सब कुसंग हैं। अनादिकाल से विषय-वासना में वासित मन को कुसंग से हटाकर तथा परहेज रखकर ही शुद्ध बनाये रखा जा सकता है। जो पतिंगे के समान मूढ़ बनकर दीप-ज्वाला एवं विरोधी आलंबन में चिपकेगा, उसका विनाश रखा-रखाया है। एक बूढ़ा एक सुन्दरी को रोज-रोज ललचाई हुई दृष्टि से देखते-देखते इतना पागल हो गया कि एक दिन बलात उसके कमरे में घुसने लगा, परन्तु उस सुन्दरी ने इतने जोर से फाटक बन्द किया कि बूढ़े का सिर तथा चेहरा फाटक से टकराकर रक्तरंजित हो गया। वह मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा तथा लोगों के बीच में हास्यास्पद हो गया। एक नवयुवक एक युवती को दूर से ही रोज-रोज देखकर उसके मोह में इतना मूढ़ हो गया कि वह एक दिन उसके घर जाकर उससे अपनी मनोकामना के अनुसार याचना करने लगा। उस युवती को उस मूढ़ पर इतना गुस्सा आया कि उसने उसके ऊपर पत्थर दे मारा और वह जमीन पर गिर पड़ा। लोग इकट्ठे हो गये। उस पर थू-थू करने लगे। उसे पुलिस के पास ले गये। पुलिस ने उसके आधे बाल मुड़वा, आधी मूंछ तथा दाढ़ी कटवाकर तथा मुख में स्याही लगाकर बाजार में घुमाया। ये 'नैन रसिक' लोग इतने अंधे हो जाते हैं कि अपनी नैतिकता, शांति एवं प्रतिष्ठा को और दूसरे तथा समाज की प्रतिष्ठा को एकदम भूलकर अपनी नाक टट्टी में डुबो देते हैं।

अतएव सद्गुरु कबीर सावधान करते हैं कि हे मानव तथा साधक! तू सावधान हो जा। तू चाम, बाल, वस्त्र की बनावट के मिथ्या व्यामोह में पड़कर अन्धा मत बन! ये नर-नारियों के शरीर हड्डी, मांस, मल, मूत्र के पात्र हैं। इनमें कुछ सार नहीं है। भोगों से मन तृप्त नहीं होता, किन्तु त्याग से ही तृप्त होता है। विषयों की मलिनता नरक है। इससे मुक्त होना ही जीवन की उच्चता है।

भेड़ियाधंसान

कैसी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।
एक परा जो गाड़ में, सबै गाड़ में जात॥ 240॥

शब्दार्थ—गाडर=भेड़, भेड़ी। ठाट=झुंड, समूह। गाड़=गड्ढा।

भावार्थ—संसार के लोगों की वही दशा है जो भेड़ों के झुंड की होती है। यदि एक भेड़ गड्ढे में गिर पड़ी तो सारी भेड़ें उसके पीछे गड्ढे में गिरती चली जाती हैं॥ 240॥

व्याख्या—एक आदमी ने कहा कि अमुक व्यक्ति पानी में फूंक मारकर या उसे छूकर दे देता है तो उस पानी के सेवन से सभी ऋद्धि-सिद्धियां मिलती हैं, तो इस बात के पीछे पढ़, अपढ़-गंवई, शहरी सारे मूर्ख लाइन लगाकर खड़े हो जाते हैं। तांत्रिक, सोखा, बैगा, नाउत, फलित ज्योतिषी नामधारी और कुछ धूर्त जो अपने आप को पण्डित तथा महात्मा घोषित कर देते हैं, संसार के लोगों को मूर्ख बनाकर ठगने में लगे रहते हैं। ये नीरोग्यता, विजय, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा, पद सब कुछ देने का झांसा देकर मूर्खों को ठगते हैं। और इनके पीछे मूर्खों की लाइन लगी रहती है। जिसमें सामान्य जनता से लेकर प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, जज, राजनेता, राज्याधिकारी, शास्त्री, आचार्य, प्राचार्य, वेदाचार्य सब भेड़ बने गड्ढे में गिरते हैं। कर दो हल्ला कि अमुक वन में, पेड़ के नीचे तथा गांव में देवी निकली हैं, देवता निकले हैं, तो देखोगे वहां मूर्खों की भीड़ पहुंचने लगेगी और अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए अपने तन, मन और धन को समर्पित करने लगेगी।

अमुक तीर्थ में जाने से, उसका नाम लेने मात्र से, अमुक नदी में नहाने से सारे पाप कट जाते हैं, स्वर्ग या मोक्ष मिलता है; अमुक नाम या मंत्र जपने से ऋद्धि-सिद्धि या मुक्ति मिलती है, अमुक पर्व या तिथि को प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, काशी आदि में नहाने से, मरने से मोक्ष होता है; ऐसी-ऐसी अनेक भ्रांतियां हैं जो महारथी लोग फैलाते रहते हैं, किताबों में लिखते रहते हैं, उन्हें धर्मशास्त्र घोषित करते रहते हैं। लोग इन सबके पीछे पागल बने भेड़ों की तरह गड्ढे में गिरते रहते हैं। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ईसाई, क्या अन्य मत वाले सब अन्धविश्वास के शिकार हैं, बिरला कोई इस भेड़ियाधंसान से बचता है।

आश्चर्य होता है कि दूसरे संप्रदायों की ऊलजलूल बातों को सब अंधविश्वास समझ लेते हैं, परन्तु अपने संप्रदायों की भ्रांतियों को परम सत्य समझे रहते हैं। इसमें कारण है अपने संप्रदायों की भ्रांतियों में अपना निहित स्वार्थ रहता है। यद्यपि यह स्वार्थ भी भ्रमपूर्ण ही है, तथापि उसे छोड़ना वीरता का काम है।

इस साखी में कोई-कोई संत एवं विद्वान पहला शब्द 'कैसी' को 'कासी' एवं 'काशी' पाठ मानते हैं। उसके अनुसार शुद्ध पाठ है—"काशी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।" इस पाठ में भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसका अभिप्राय हुआ कि काशी में मरने से मनुष्य की गति एवं मुक्ति होती है—यह विश्वास भेड़ियाधंसान है। सद्गुरु ने शब्द प्रकरण के 103वें शब्द में इस पर खूब खुलासा समझाया है।

जब जिसे शुद्ध परखदृष्टि प्राप्त होती है वह सारे अन्धविश्वासों का परित्याग कर देता है चाहे अपने सम्प्रदाय का हो और दूसरे के सम्प्रदायों का हो।

परखदृष्टि का अर्थ है निष्पक्ष विवेक, नीर-क्षीर विवेक। गुण-दोषों की पूर्ण परीक्षा ही परखदृष्टि है।

मारग तो कठिन है, वहाँ कोई मत जाव।
गये ते बहुरे नहीं, कुशल कहै को आव॥ 241॥

शब्दार्थ—कठिन=टेढ़ा, दुखदायी। बहुरे नहीं=फिर कल्याण-पथ में नहीं आये। कुशल=मंगल, हालचाल।

भावार्थ—भेड़ियाधंसान का मार्ग टेढ़ा एवं दुखदायी है। हे लोगो! बिना विचार किये दूसरे की देखादेखी किसी बात को सत्य मानकर उसके पीछे मत चलो। जो लोग देखादेखी गड्ढे में गिरते हैं, वे लौटकर कल्याण-पथ में नहीं आते, फिर कौन आकर अपना कुशल-मंगल कहे!॥ 241॥

व्याख्या—अपनी बुद्धि एवं विवेक का प्रयोग न कर केवल दूसरे की देखादेखी किसी मार्ग में चल देना मनुष्य के लिए कल्याणकर नहीं है। मनुष्य के मन में भीड़ का मोह होता है। लोग सोचते हैं कि जिसके पास राजनेता, वकील, जज, डॉक्टर, विद्वान, सेठ सब जाते हैं, जिसके पास हजारों अनुगामी हैं, जरूर वहां सत्य होगा। कबीर साहेब कहते हैं कि ठीक है, बिना जांचभाल किये किसी को गलत मान लेना ठीक नहीं है, परन्तु आंख मूंदकर किसी व्यक्ति या भीड़ के साथ चलना भी ठीक नहीं है। महापुरुष, शास्त्र, परम्परा, जनसमाज सब आदरणीय हैं, परन्तु अपना विवेक कम आदरणीय नहीं है। महापुरुष अनेक हैं, शास्त्र भी अनेक हैं और परम्पराएं भी अनेक हैं, फिर हम किस एक के पीछे चलें? अतएव महापुरुष, शास्त्र और परम्पराओं को भी हम अपने विवेक से ही समझ सकते हैं। अतएव जो अपनी विवेक-बुद्धि का तिरस्कार कर भेड़ियाधंसान में पड़ता है, उसका रास्ता पतन का होता है। विवेकवान हर बात पर विवेक कर उसका ग्रहण या त्याग करता है।

सद्गुरु कहते हैं कि बिना विचार किये भीड़ के साथ चलना केवल दुख का रास्ता है। उसमें कोई मत जाओ। जो लोग किसी धूर्त के कहने से या देखादेखी ईश्वर-दर्शन के लिए अपनी नाक कटा लेते हैं वे समझ जाने पर भी लज्जावश उसी में जीवनभर पड़े रहते हैं। उसको छोड़कर बाहर नहीं आते, फिर उनका कुशल-मंगल एवं हालचाल कौन कहे! वे शर्माशर्मी पच-पचकर मरते हैं। एक बार गड्ढे में गिर जाने पर मनुष्य को गड्ढा ही प्यारा लगने लगता है। अपनी भूल को स्वीकार कर उसे सुधार लेना बड़े त्याग और साहस का काम है।

कुसंग से सावधान

मारी मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वै हालैं वै चींधरें, बिधिना संग निबेर॥ 242॥

शब्दार्थ—केरा=केला। बेर=एक प्रसिद्ध फल का कांटेदार पेड़। चींधरें=फाड़ते हैं। बिधिना= विधाता, कर्ता। निबेर= त्याग।

भावार्थ—मनुष्य कुसंग की मार से उसी प्रकार मरता है जैसे केले के पेड़ के साथ में बेर के पेड़ लग जाने पर केले की दशा होती है। केले के पत्ते हिलते हैं और बेर की कांटेदार डालियां उन्हें फाड़ती हैं। हे अपने कर्मों का विधाता मनुष्य! तू कुसंग का त्याग कर!॥ 242 ॥

व्याख्या—मनुष्य का ज्यादा पतन कुसंग के कारण ही होता है। मांस, मदिरा, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान, गुड़ाखू की आदतें, चोरी, व्यभिचार की आदतें तथा ऐसी अनेक अनर्थकारी आदतें कुसंग के कारण ही पड़ती हैं। अच्छे-अच्छे लोग कुसंग में पड़कर भ्रष्ट हो जाते हैं। धूप से अधिक ज्वलनशील धूप में तपी बालुका होती है, इसी प्रकार दोषों से अधिक घातक दोषों में डूबे आदमी की संगत होती है। सद्गुरु ने यहां केला और बेर का सुन्दर एवं सटीक उदाहरण देकर इस विषय को बड़ी सरलता से समझाया है। केला कितना चिकना और कोमल पेड़ होता है यह सब जानते हैं। उसके फल भी कितने सुस्वादु एवं तृप्तिकर होते हैं। उसके फल तथा वृक्ष की उच्चता के नाते उसे मांगलिक काम में भी लाया जाता है। केला के सुन्दर पेड़ एवं पत्ते गाड़कर भारतीय समाज में पूजा का मंडप बनाया जाता है। ऐसे सुन्दर एवं चिकने पेड़ के पास यदि बेर का पेड़ उग आये और बड़ा होकर केले के ऊपर छा जाये तो केले की क्या दशा हो सकती है यह सर्वविदित है। हवा चलने पर केले के पत्ते हिलेंगे और बेर की कांटेदार डालियों से टकराकर फटेंगे। बेर के कांटे केले के पत्ते को चींधी-चींधी उड़ायेंगे। इसी प्रकार यदि मनुष्य चोर की संगत करेगा, व्यभिचारी एवं दुर्व्यसनी की संगत करेगा तथा अन्य प्रकार दुराचरणग्रस्त लोगों की संगत करेगा, तो उससे उसकी बुद्धि बिगड़ते-बिगड़ते वह भी वैसे ही हो जायेगा।

जिनके घर में मांस-मदिरा नहीं थे, उनके घर में एक मांस-मदिरा का सेवन करने वाला व्यक्ति आकर बस गया और उस घर के लड़के उसके साथ भ्रष्ट हो गये। शूकर विष्ठा खाने का स्वभावसिद्ध आदती होता है, वैसे आदमी तम्बाकू खाने का आदती नहीं होता। परन्तु जिसके घर में तम्बाकू का नाम नहीं था, उसके घर में एक तम्बाकू खाने वाले शूकर या शूकरी का प्रवेश हुआ और उसकी संगत से घर के कई लोग शूकर या शूकरी हो गये। ये तम्बाकू खाने वाले बिना नाक के शूकर हैं। इसी प्रकार गांजा-भांग, बीड़ी-सिगरेट आदि पीने एवं खाने वालों की दशा है। करीब-करीब सारे दोष मनुष्य में कुसंग से आते हैं। पान का एक सड़ा पत्ता दूसरे पत्तों के साथ है तो उन्हें भी सड़ाता है। एक सड़ी मछली पूरे तालाब को गंदा करती है। इसी प्रकार आचरणभ्रष्ट मनुष्य स्वयं

नरक में गिरा ही है, जो व्यक्ति उसकी संगत करता है वह भी नरक में गिरता है।

सद्गुरु कहते हैं "बिधिना संग निबेर"। हे विधाता! ऐसी बुरी संगत का त्याग कर। मनुष्य अपने कर्मों का विधिना है, विधाता है। वह चाहे बुरे कर्म कर अपने को गड्ढे में डाल ले और चाहे अच्छे कर्म कर अपने आप को ऊपर उठा ले। कुसंग से कुबुद्धि बनती है और कुबुद्धि से गलत आचरण होते हैं, तथा सुसंगत से सुबुद्धि बनती है और उससे अच्छे आचरण होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह कुसंगत का त्याग करके अच्छी संगत करे।

केरा तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते क्या भया, जब काँटन लीन्हा घेर॥ 243॥

शब्दार्थ—ढिग=पास, निकट।

भावार्थ—केला का पेड़ तभी सावधान नहीं हुआ जब उसके पास बेर का पेड़ उगा था। अब उसके सावधान होने से क्या होता है जब बेर के कांटों ने उसे घेर लिया है! अर्थात मनुष्य तभी नहीं सावधान हुआ जब उसके ऊपर कुसंग का आवरण पड़ने लगा था। अब जब वह कुसंग तथा उसके फलस्वरूप कुकर्म में डूब गया है तब उसके रोने से क्या होता है!॥ 243॥

व्याख्या—केले के पेड़े के पास जब बेर के पौधे उगें तभी उन्हें उखाड़ देना चाहिए। इसी प्रकार कुसंग का संयोग आते ही उससे सावधान हो जाना चाहिए। कांटों से घिर जाने पर बचना कठिन है। कुसंग से जकड़ जाने पर उसके प्रभाव से बचना मुश्किल है। जो लोग कुसंग में रस लेना शुरू करते हैं वे यह नहीं समझते कि इसका परिणाम आगे चलकर बड़ा भयंकर एवं दूरगामी होगा। कुसंग पड़ने की शुरुआत में उससे सावधान होकर हट जाना बड़ा सरल होता है। परन्तु जब आदमी कुसंग करते-करते उसमें डूब जाता है तब उसका स्वभाव ही वैसा हो जाता है। तब वह कुसंग और कुकर्म के कारण उसके बुरे फल से रो सकता है, परन्तु उससे बचना कठिन हो जाता है।

हम इस विषय को और अधिक सूक्ष्म रूप में लें। कई युवक पढ़ते-लिखते हैं। वे बड़े अच्छे संस्कार वाले होते हैं। वे धर्म, अध्यात्म तथा लोकमंगल की भावना को समझते हैं। परन्तु वे व्यामोहवश शादी-विवाह के चक्कर में पड़ जाते हैं और थोड़े दिनों में सांसारिकता के कांटों से इस तरह जकड़ जाते हैं कि उनको रोते भी नहीं बनता। यह ठीक है कि सामान्य लोग शादी-विवाह करके रहते ही हैं और उन्हें रहना भी चाहिए। अन्यथा वे अनर्थ करेंगे। परन्तु जो ज्यादा समझदार है, जो आत्मकल्याण और लोककल्याण को समझता है, यदि वह शादी-विवाह एवं सांसारिकता के कांटों में फंसता है, तो उसे पीछे केवल पश्चाताप हाथ लगता है। क्योंकि एक बार दुनियादारी में जकड़ जाने के बाद उससे छूटने वाला बिरला होता है। अच्छे संस्कार वाले यदि कारणवश

दुनियादारी में फंस गये तो वे जीवनभर केवल पश्चाताप करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जो एक बार सांसारिकता में फंस गया वह निकल नहीं सकता। मनुष्य में पक्के निश्चय की वह महान शक्ति है जिससे सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं। सद्गुरु कबीर ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी प्रशंसा की है जो एक बार संसार में उलझकर भी उससे निकल आता है "बलिहारी तेहि पुरुष की, जो पैठि के निकरनहार।" (साखी 226) मनुष्य को चाहिए कि वह पहले ही कुसंग से सावधान होकर उससे दूर हो जाये।

सद्गुरु बिना जीवों का भटकाव

जीव मर्म जाने नहीं, अन्ध भया सब जाय।
बादी द्वारे दादि न पावै, जन्म जन्म पछिताय॥ 244॥

शब्दार्थ—बादी=वादी, प्रवक्ता, गुरु। दादि=दाद, इंसाफ, न्याय।

भावार्थ—मनुष्य वास्तविकता का रहस्य नहीं जानते। सब विवेकहीन बने भटक रहे हैं। वे नाना मत के गुरुओं की सभाओं में भी न्याय नहीं पाते। फलतः जीव जन्म-जन्मांतर पश्चाताप करते और भटकते रहते हैं॥ 244॥

व्याख्या—अशिक्षित से शिक्षित, गंवई से शहरी, चपरासी से उच्चतम अफसर एवं शासक और निरक्षर से उच्चतम विद्वान जड़-चेतन की वास्तविकता का भेद पाये बिना अंधे बने भटक रहे हैं। यंत्र, तंत्र, मंत्र, गंडे, ताबीज, भूत, प्रेत, देवी, देवतादि नाना मिथ्या कल्पनाओं में सारा संसार चक्कर खा रहा है। आदमी अपने ऊपर एक अदृश्य-शक्ति की कल्पना करके स्वयं विमूढ़ बना है। जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्व हैं जिनमें अपने-अपने गुण-धर्म अनादि निहित हैं। इस भेद को न समझकर संसार की प्रायः हर घटना में किसी कल्पित देव को कारण मान लिया जाता है जिससे मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र में निरंतर गिरावट आती है। दैववाद के मोह में पड़ा हुआ मनुष्य हर प्राकृतिक घटना का कारण प्रकृति में न खोजकर किसी देव या ईश्वर में खोजता है जो चमत्कार एवं अन्धविश्वास को प्रश्रय देता है। ग्रह, उपग्रह की गति, जड़तत्त्वों की क्रियाशीलता, ऋतु परिवर्तन, वनस्पति, नदी, झरने, भूचाल, ज्वालामुखी, पर्वत, बादल, वर्षा, समुद्र की घटनाएं प्रकृति में होती हैं, तो इनके कारण हमें प्रत्यक्ष प्रकृति में ही खोजना चाहिए, कल्पित देव में नहीं। आदमी बुद्धि, विवेक तथा अनुसंधान का इतना तिरस्कार करता गया कि वह करीब-करीब हर बात में पोंगापंथी हो गया। जब पंडित, विद्वान, महात्मा नामधारी भटक रहे हैं तब आमजनता का भटकना स्वाभाविक ही है।

सद्गुरु कहते हैं—"बादी द्वारे दादि न पावै"। साधारण मनुष्य विद्वानों, वक्ताओं एवं गुरुओं द्वारा भी न्याय नहीं पाता है। अधिकतम धर्मोपदेशक तो

स्वयं भटके हैं और रात-दिन मानो संसार को भटकाने में ही लगे हैं। देववाद, अवतारवाद, चमत्कारवाद तथा अनेक अजीबोगरीब बातें करना मानो धार्मिक गुरुओं की नियति हो गयी है। अतएव संसार के अधिकतम धार्मिक गुरुओं की सभाओं में न्याय नहीं मिलता। अनेक धार्मिक गुरु जीव को अंश, प्रतिबिम्ब, आभास, इच्छा, द्वेषादि से स्वरूपतः बद्ध कहकर मानो उसका निरादर करने पर ही डटे हैं। जीव सारे ज्ञान-विज्ञान का मूल है। जिसने वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता तथा संसार के सारे शास्त्रों को रचना की है, जिसने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का अन्वेषण किया है, जिसने ईश्वर, देवी, देवताओं आदि की कल्पना की है, उस परमसत्ता जीव को ही तुच्छ कहना मानव के दुर्भाग्य का लक्षण है। इन सबका फल है कि जीव जन्म-जन्मांतरों से दुख भोगता है। अपने महत्त्व को भूलकर कोई अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

जाको सतगुरु ना मिला, ब्याकुल दहुँ दिश धाय।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरै घूर बुताय॥ 245॥

शब्दार्थ—घूर=कचड़ा डालने की जगह।

भावार्थ—जिसको सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं, वह अशांत होकर सर्वत्र भटकता है। उस पगले की विवेक की आंखें बंद होने से उसे कुछ दिखाई नहीं देता, जलता है घर और बुझाता है घूर॥ 245॥

व्याख्या—गुरु और सद्गुरु में अन्तर होता है। माता, पिता, दाई, विद्या पढ़ाने वाले तथा एक-एक विद्या एवं कला का ज्ञान कराने वाले एवं किसी मत के अनुसार दीक्षा देकर कुछ सन्मार्ग में लगाने वाले—ये सब गुरु हैं। गुरु बहुत होते हैं। एक गुरु के बाद दूसरा गुरु स्वीकारा जाता है। परन्तु सद्गुरु केवल एक होता है जिसकी शरण मिल जाने के बाद दूसरा सद्गुरु नहीं ढूंढ़ना पड़ता। गुरुओं की शरण में जाकर भी जहां तक यथार्थ बोध एवं संतोष नहीं हुआ वहां तक मानो सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु मिल जाने पर सारी भ्रांतियां मिट जाती हैं और यथार्थ बोध हो जाता है। कबीर देव कहते हैं कि जिसको सद्गुरु नहीं मिला है वह बोध न पाने के कारण अशांत होकर दसों दिशाओं में भटकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान[7], नैर्ऋती, आग्नेय, वायव्य, नीचे तथा ऊपर—ये दस दिशाएं हैं। विवेकहीन आदमी परमात्मा या मोक्ष को पाने के लिए इन दसों दिशाओं में भागा-भागा फिरता है। तीर्थों के नाम से वह आठों दिशाओं में तो दौड़ता ही है, ऊपर स्वर्ग या परमात्मा के धाम की कल्पना करता

7. ईशान—उत्तर-पूर्व कोण; नैर्ऋती—पश्चिम-दक्षिण कोण; आग्नेय (अग्निकोण)—पूर्व-दक्षिण कोण; वायव्य—पश्चिम-उत्तर कोण।

है और नीचे क्षीरसागर तथा उसमें विष्णु की कल्पना करता है। यहां दसों दिशाओं का अर्थ लाक्षणिक भी है। इसका अर्थ हुआ सभी तरफ। आदमी बोध के बिना सभी तरफ दौड़ता है। दसों दिशाओं का अर्थ चारों वेद तथा छहों शास्त्र भी किया जा सकता है। अर्थात आदमी चारों वेदों तथा छहों शास्त्रों की वाणियों में भटकता है। अंततः सरल अर्थ यही है कि जब तक मनुष्य को यथार्थ सद्गुरु द्वारा अपने स्वरूप का वास्तविक बोध नहीं मिलता, तब तक वह सब समय एवं सब तरफ भटकता ही रहता है। चाहे अनपढ़ हो या विद्वान सब भटकते हैं। आज के युग में भी अंधविश्वास की कमी नहीं है। आज भी गुरुडम कम नहीं है। धूर्त-विद्वान अशिक्षित तथा शिक्षित मूर्खों को अपने माया-जाल में फंसाकर उनका शोषण करते हैं। सद्गुरु नाम वजनदार है, तो धूर्तों ने स्वयं को सद्गुरु घोषित कर दिया। अतएव जिज्ञासुओं को बहुत सावधान रहने योग्य है।

जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था, जड़-चेतन एवं विश्व के शाश्वत नियमों का ज्ञान नहीं है और जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है, वह अन्धा है, विवेकहीन है। वह घर में आग लगने पर उस पर पानी नहीं डालता है, किन्तु घूर पर डालता है। काम, क्रोध, मोहादि की आग तो उसके दिल में लगी है, उसे वह नहीं शांत करता है, किन्तु पत्थर-पीतल, पेड़-पहाड़, पानी-नदी आदि पूजता फिरता है। वह काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, बद्री, पुष्कर, रामेश्वर, द्वारिका, पुरी आदि तीर्थ कहे जाने वाले नगरों की खाक छानता है; जहां पंडे-पुजारियों के धक्के एवं वचन-व्यवहार के सिवा कुछ नहीं पाता है। कारण है उसे सद्गुरु नहीं मिला है। सद्गुरु ही साधक की आंखें खोलता है और बताता है कि हे मानव! तेरे हृदय-मन्दिर में ही आत्मदेव निवास करता है। वही परमात्मा है। यह अपनी चेतना ही परम तत्त्व है। तू अपनी आत्मा की अवहेलना करके कहीं मत भटक। छोड़ सारे देवी-देवताओं का प्रपंच और समझ अपने आत्मदेव को। व्यक्ति ने अपने स्वरूप को, अपने आत्मदेव को भूलकर सारे देवी-देवताओं के पचड़े का सृजन किया है और उसी में भटक रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि बाह्यप्रपंच छोड़कर सच्चे सद्गुरु की खोज करे।

पारख का महत्त्व

बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।
सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥ 246॥

शब्दार्थ—अन्तै=अलग, पृथक। पारख=गुण-दोष की पहचान, विवेकज्ञान।

भावार्थ—वस्तु कहीं अलग रखी हो और उसे खोजा जाये कहीं अलग, तो हाथ में कैसे लगेगी! वे ही अच्छे लोग हैं तथा प्रशंसा करने योग्य हैं जो अपने

मन में विवेकज्ञान रखते हैं और परख की कसौटी पर सब कुछ परखते हैं॥ 246॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी वस्तु अपनी आत्मा है, वह अपने आप 'मैं' के रूप में है। परन्तु मनुष्य 'मैं' का, अपने आप का विवेक न कर कुछ बाहर खोज रहा है। अपने स्वरूप का बोध पाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। परन्तु मनुष्य समझता है कि मेरा परम लक्ष्य बाहर है, इसलिए वह अपने आप पर कभी न ध्यान देकर अपने लक्ष्य को सदैव बाहर खोजता है।

एक बुढ़िया घर में बैठी कपड़ा सिल रही थी। वह बीच में उठकर कुल्ला-पानी करने गयी। जब लौटी, तब बहुत खोजने पर भी उसे सूई न मिली। इतने में दरवाजे की सड़क पर नगरपालिका की बत्ती जल गयी। उसने सड़क पर आकर सूई खोजना शुरू किया। किसी ने उससे पूछा—

"दाई, क्या खोजती हो?"

"बेटा, सूई।"

"वह कहां गिरी है?"

"घर में।"

"तो बाहर क्यों खोजती हो?"

"क्योंकि यहां बत्ती जलती है।"

"मां, बाहर चाहे जितनी बत्तियां जलें, सूई यहां नहीं मिलेगी। सूई तो घर के भीतर ही मिलेगी, क्योंकि वह वहीं खोई है। तुम घर में बत्ती जलाओ और वहीं खोजो।"

हमारी दशा यही है। आत्मदेव, रामदेव, चेतनदेव हृदय के भीतर है और हम मूर्ख बने उसे बाहर खोजते हैं। हम बाहर शायद असंख्य जन्मों से खोजते हों, परन्तु वह आज तक नहीं मिला है। आगे भी उसे अनंतकाल तक खोजते रहें तो भी नहीं मिलेगा। खोजकर जो वस्तु मिलती है, वह तो जड़ पदार्थ है, विजाति मायावी पदार्थ है। अपनी वस्तु तो अपना स्वरूप है। उसे खोजना नहीं है, किन्तु जगत से लौटकर समझना है। केन उपनिषद् में कहा गया है कि वह "प्रतिबोधविदितं मतम्"[1] का विषय है। हम बाहर दृश्यों को जो कुछ जानते हैं वह बोध है और जब दृश्यों से एवं बाहर से लौटकर विवेक करते हैं कि दृश्यों को कौन जाना तब 'प्रतिबोध' होता है कि मैंने ही तो दृश्यों को जाना। जो दृश्यों को जानता है वह मैं हूं। फिर मैं कौन हूं? मैं चेतन हूं, मैं ही वह राम हूं जिसे मैं खोज रहा हूं। सद्गुरु विशालदेव ने भी कहा है "घूमि लखत जब आप को, मैं

8. केन उपनिषद्, खंड 2, मंत्र 4।

जाना व तमन्ध।"[1] अर्थात जब जीव दृश्यों से लौटकर अपने आप पर ध्यान देता है, तब उसे बोध होता है कि मैं चेतन ही जड़ अन्धकारमय दृश्यों को जानता हूं।

कबीर देव का हर वचन मार्मिक होता है। वे यहां भी मार्मिक वचन कहते हैं—"बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।" अतएव वे पुनः कहते हैं—"सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखे साथ।" वही सज्जन है, वही प्रशंसा करने योग्य है जो अपने पास में पारख रखता है। कबीर देव का पारख बड़ा प्रिय विषय है। कबीर देव पारखी हैं। वे सबके गुण-दोषों की परखकर दोषों को छोड़ते तथा केवल गुणों को ग्रहण करते हैं। पारखी असत्य छोड़ने के लिए बड़ा निर्भय होता है। वह पुरानी पोथी, परंपरा, प्राचीन बड़े पुरुष सबका आदर करता है, परन्तु किसी द्वारा घोषित असत्य को नहीं स्वीकारता। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व बनी राजनीति की महान पुस्तक "कौटलीय अर्थशास्त्रम्" के ग्रंथारंभ में ही अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड—इन चार विद्याओं का वर्णन किया गया है। उनमें प्रथम 'अन्वीक्षकी' है। सांख्य, योग और लोकायत मत को अन्वीक्षकी विद्या कहा गया है। कबीर देव अपने युग के मानो अन्वीक्षकी विद्या के आचार्य हैं। कबीर देव हर बात में अन्वीक्षण, परीक्षण एवं परख करते हैं, और अपनी बात मानने वालों को राय देते हैं कि तुम लोग भी अपने साथ 'पारख' रखो—"पारख राखै साथ।"

परख या पारख जीव का स्वरूप ही है। जीव ज्ञानमात्र है। ज्ञान ही में तो परख है। एक चींटी भी धूल में मिले हुए शकर के कण को परखकर उसमें से निकाल लेती है। हम मनुष्य-शरीर का विवेकसम्पन्न साधन पाकर भी धर्म के नाम पर चलाये गये अन्धविश्वासों की निष्पक्ष परख करके सारासार निर्णय न कर पावें तो इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा! हमें सारे संस्कारों के बंधनों को तोड़कर सारासार की परख करनी चाहिए। सद्गुरु पूरण साहेब ने कहा है "परख साधु गुरु परख कबीर, पारख पद पहिचान। पारख के परताप से, सब भ्रम जाला मान॥" अर्थात पारख अपने साथ में रखने के कारण ही साधु, गुरु और कबीर साहेब प्रशंसा के पात्र हैं। इसलिए मनुष्य को पारखपद की पहचान करनी चाहिए। अर्थात अपने पारखस्वरूप, परखशक्ति एवं स्व-स्वरूप का महत्त्व समझना चाहिए। निष्पक्ष सत्यज्ञान एवं स्वरूपज्ञान ही प्रशंसनीय है। अतएव मानव मात्र को निष्पक्ष पारखी होना चाहिए। इसलिए सद्गुरु रामहरस साहेब ने कहा है—"बन्दौं सन्मुख पारखी।"

---

9. विशाल वचनामृत, अपनाबोध, साखी 49।

श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी।
सेंदुर का सिंधौरा, झपनी की झपनी॥ 247॥

शब्दार्थ—निबेरिये=निबेड़ा, गुण-दोषों की परख, सारासार निर्णय, बन्धनों का त्याग। सिंधौरा=सेंदुर रखने का पात्र। झपनी=ढक्कन।

भावार्थ—आदर से सबकी बातें सुन लो, परन्तु अपनी परख से उनके गुण-दोषों की पहचान करो और दोषों का त्यागकर केवल गुणों का ग्रहण करो। जैसे सेन्दुर के सिंधोरा में ढक्कन लगा रहता है, तो वह सिंधोरा है और झपनी की झपनी भी है वैसे सबकी बातें सुन लेने से श्रद्धा का निर्वाह हो जायेगा और अपने विवेक से उनका निर्णय करने से बुद्धि का भी निर्वाह हो जायेगा॥ 247॥

व्याख्या—सबकी गलत बातों का निर्मम खण्डन करने वाले कबीर देव जैसा दुनिया में कोई नहीं हुआ; परन्तु उनका खंडन ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक है। वे भौतिकवादी नहीं, किन्तु अध्यात्मवादी हैं। यहां कहने का अर्थ यह नहीं है कि भौतिकवादियों की गतिविधि ध्वंसात्मक होती है। कितने लोग अध्यात्मवाद का मुखौटा लगाकर ध्वंसात्मक काम करते हैं। ईश्वर मानने वालों ने जितना मानव का खून-खराबा किया है उतना अनीश्वरवादियों ने नहीं किया है।

कबीर सोहब वस्तुतः भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की सीमा से परे विवेकवादी तथा मानवतावादी हैं। वे सब का आदर करते हैं, परन्तु किसी का असत्य किंचित भी स्वीकारना नहीं चाहते। इसलिए वे इस साखी की पहली पंक्ति में कितनी समन्वयात्मक बातें कहते हैं, सोचते ही बनता है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी"। सबकी बातें आदर से सुनो, परन्तु अपने विवेक से उन सबका निर्णय करो। न तो किसी की बातों एवं शास्त्रों का अनादर करो और न आंख मूंदकर समर्थन करो।

संसार में प्रायः दो प्रकार के लोग होते हैं। एक वे होते हैं जो अपने धर्म और अपने शास्त्र के नाम पर सब कुछ आंखें मूंदकर मानते हैं। वे किसी बात पर थोड़ा भी विचार नहीं करना चाहते। दूसरे वे लोग होते हैं जिनको धर्म और शास्त्र के नाम पर ही चिढ़ होती है। वे धर्म और शास्त्रों के नाम पर चलती हुई असंगत बातों से इतने क्षुब्ध होते हैं कि धर्म और शास्त्र की कोई बात ही नहीं सुनना चाहते। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ऐसे लोग काफी हैं। ऐसे लोगों की चिढ़ इसलिए अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि पंडित, महात्मा एवं बूढ़े लोग धर्म और शास्त्र के नाम पर चलने वाली सारी असंगत बातों को भी संगत एवं सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और उन ऊलजलूल बातों को न मानने

वालों को नास्तिक कहने का साहस करते हैं। वेद, बाइबिल, कुरानादि कुछ भी नाम हो, यह कहना कि किसी निराकार ईश्वर ने पुस्तकें बनाकर दुनिया में भेजी हैं, वह राम, कृष्ण के रूप में अवतार बनकर आया है तथा उसने ईसा और मुहम्मद के रूप में अपने पुत्र एवं संदेशवाहक भेजे हैं, हनुमान सूरज निगल गये, कबीर ने मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से चौकी को चला दिया, ईसा ने आठ रोटियों एवं छह मछलियों से कई हजार नर-नारियों को पेट भर खिला दिया, उसके बाद कई झाबे रोटी तथा मछलियां बच भी गयीं, कोई हजार, लाख या करोड़ों वर्ष तक जीता रहा, काकभुशुंडि सत्ताईस कल्प अर्थात 1 खरब, 16 अरब, 64 करोड़ वर्ष तक एक ही आश्रम पर बने रहे; इन जैसी बिना सिर-पैर की बातें विवेक की आंखों वाला आदमी नहीं मान सकता और आज का वस्तुपरक बुद्धि रखने वाला आदमी भी नहीं मान सकता! यह सब असत्य बातें मानना अन्याय और पाप भी है। धार्मिक नामधारियों द्वारा उक्त ऊटपटांग बातों का भी समर्थन करने तथा उन्हें बलात समाज से मनवाने की बात देख-सुनकर नयी पीढ़ी का युवावर्ग या बुद्धिवादी समाज धर्म नाम से बिदक जाता है। फिर तो वह धर्म की बात सुनना भी नहीं चाहता। दूसरे वे लोग हैं जो अपने माने गये धर्म और शास्त्रों की बातों में कुछ निबेरना नहीं चाहते। वे किसी बात पर सोचना, तर्क करना एवं निर्णय करना पाप समझते हैं।

आजकल उक्त दोनों विचार प्रबल रूप से चल रहे हैं। इसलिए नई तथा पुरानी पीढ़ी में खाई चौड़ी होती जा रही है। आज हर सम्प्रदाय की युवा पीढ़ी के अधिकतम लोग तर्कहीन एवं युक्तिहीन बातों को नहीं मानते हैं। आजकल हर सम्प्रदाय का पुरोहितवाद ठंडा होता जा रहा है। पुरानी आस्थाएं टूट रही हैं। आस्थाविहीन जीवन बिखर जाता है। इसलिए उत्तरोत्तर युवा-पीढ़ी दिशाहीन होकर भटक रही है। उसे धर्म के धंधेबाजों से चिढ़ बढ़ती जा रही है। धर्म के नाम पर जो सर्वाधिक बड़ी दुकानें होती हैं उनमें अधिकतम चमत्कार नामक झुठाई पर ही चलने वाली होती हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी भगवान के अवतार, कबीर के अवतार, तथाकथित सूक्ष्म एवं कारण शरीरधारी ऋषियों की आत्मा से बातें करने वाले, थोड़े पूजा-पाठ से ऋद्धि-सिद्धि देने वाले गुरुओं की भरमार है। इन सब बातों से आज के बुद्धिवादी समाज का चित्त पीड़ित है।

उक्त रोग की एक ही औषध है जिसे सद्गुरु बता रहे हैं कि सबकी बातों को आदर से सुनो, और सबके शास्त्रों को आदर से पढ़ो, परन्तु उन पर अपनी परख की कसौटी लगाकर सारासार का निर्णय करो। संसार की सारी पुस्तकें, महापुरुष एवं परम्पराएं आदरणीय हैं, परन्तु गलत बातें किसी की भी आदरणीय नहीं हैं। सबकी बातें सुनना प्रचलित अर्थ में श्रद्धा है और अपने विवेक से उनमें गुण-दोषों की परख करना बुद्धि है। यद्यपि यह पीछे देखा गया है कि श्रद्धा

सत्य का धारण करना है। हिन्दू केवल वेदों को, ईसाई बाइबिल को, यहूदी बाइबिल के पुराने अंश को तथा मुसलमान कुरान को ही मानते हैं। परन्तु अब पूरे मानव-समाज की नयी पीढ़ी को चाहिए कि वह दुनिया के सभी शास्त्रों को आदर दे, परन्तु तर्कहीन बातें किसी की भी न माने। हर बात एवं शास्त्र की हर वाणी पर परख की कसौटी लगाकर उनमें सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करे।

निर्विवाद रहो

बाजन दे बाजन्तरी, तू कल कुकुही मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर॥ 248॥

शब्दार्थ—बाजन्तरी=बाजा, मतवाद को लेकर लड़ने वाले। कल=मधुर, कमजोर। कुकुही=बनमुरगी, एक छोटा बाजा। छेर=छेड़खानी, नोकझोंक, चिढ़ाने की क्रिया, सुर निकालने के लिए बाजे (स्वरवाद्य) को छूने एवं दबाने की क्रिया। क्या परी=क्या चिंता है? निबेर=निबेड़ा, छुटकारा।

भावार्थ—मतवाद का पक्ष लेकर झगड़ने वाले लोगों को झगड़ने दे! तू शांतिप्रिय साधक इन झगड़ालू वनमुरगों से छेड़खानी मत कर, अथवा द्वन्द्व का घनघोर बाजा बजाने वाले इन झगड़ालुओं के बीच में अपना कमजोर स्वर मत छेड़। तुझे दूसरे के विवाद से क्या प्रयोजन है! तू अपने इन्द्रिय, मन एवं वासनाओं के झगड़े को मिटा, उससे छुटकारा ले!॥ 248॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर सत्य कहने में खरे हैं, किन्तु विवादी से विवाद करने से दूर हैं। खरा सत्य कहे बिना जिज्ञासु को बोध नहीं हो सकता, किन्तु मतवादियों से विवाद करके कभी अपना सत्य उन्हें समझाया नहीं जा सकता। इसलिए कबीर देव खरा तो कहते हैं, परन्तु विवादी से उलझते नहीं। वे कहते हैं कि यदि कोई अपने मत का पक्ष लेकर झगड़ा करता है, बक-बक करता है तो उसे झगड़ने दो। तुम अपने आप को उसके झगड़े के बीच में मत डालो। "बाजन दे बाजन्तरी" का अर्थ है बाजा बजने दो। भावार्थ है कि झगड़ालुओं को झगड़ने दो। जो लोग झगड़ा करके अपने मत को सिद्ध करना चाहते हैं, मनोविज्ञान से उनकी मानसिकदशा की दयनीयता समझ लो और उनसे दूर हो जाओ। भला, आज तक कोई झगड़ा करके अपना पक्ष दूसरे को समझा सका है! जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ है, वहां केवल कलह हुआ है। शास्त्रार्थ में दोनों पक्ष के लोग एक-दूसरे को कभी समझने की चेष्टा नहीं किये न करते हैं। वहां तो अपनी सही-गलत बातों को येनकेन प्रकारेण दूसरों के सामने ऐसे जोर से कहना होता है कि लोग उनसे आतंकित हो जायें। शास्त्रार्थ में तो वही जीतता है जो चतुर, चपल और बकबक करने में प्रचंड हो। शास्त्रार्थ में समझने-

समझाने की बात नहीं होती। वहां तो हार और जीत की बात होती है। अपढ़-मूर्ख आपस में कलह होने पर लाठी चलाते हैं और विद्वान-मूर्ख शास्त्रार्थ के नाम पर झगड़ा करते हैं। समझने-समझाने का रास्ता शास्त्रार्थ नहीं, सत्संग है।

यदि कोई तुमसे विवाद करते हुए कहे कि मुझे अपने मत को समझाओ। यदि तुम अपने मत को नहीं समझा पा रहे हो तो तुम्हारा मत असत्य है। तो उससे तुम कह सकते हो कि ठीक है, मेरा मत असत्य ही समझ लो। परन्तु आपका मत तो सत्य है, फिर आप अपने मत को विवाद करके दूसरे मत वालों को क्यों नहीं समझा देते! जैसे आपके ख्याल से आपका मत सत्य होते हुए भी आप उसे दूसरे को बलात नहीं समझा सकते, वैसे मैं भी अपना मत आपको बलात कैसे समझा सकता हूं! दूसरे सबको समझाकर तब हम अपने मत पर चलें, जो ऐसा सोचेगा वह न दूसरे सबको समझा सकेगा और न अपने मत के अनुसार चल सकेगा।

जिज्ञासुओं को ही समझाया जा सकता है। जिज्ञासु वह है जो विनम्र, उदार और निष्पक्ष होकर श्रद्धा एवं बुद्धिपूर्वक समझने का भाव रखता है। जो व्यक्ति अपनी बातों को पक्की मानकर विवाद करने आता है वह नहीं समझ सकता। उसे समझने का भाव ही नहीं है। यदि कहीं कोई मतवादी घेर-घेरकर विवाद ही करना चाहे, तो आपको उससे केवल उसकी बातों में प्रश्न करना चाहिए। अपना कोई मत न रखना और दूसरे के मत में केवल प्रश्न करते जाना विवादी को थकाने का तरीका है। परन्तु इस शस्त्र का प्रयोग तब करना चाहिए जब कोई बहुत पीछे पड़ जाये और आप अपना बल अंदाज लें। इसके लिए आप को अगले आदमी के मत का ज्ञान होना चाहिए और आप में प्रगल्भ बुद्धि तथा वाक्यनिपुणता होनी चाहिए। परन्तु शांति-इच्छुक के लिए यह सब करना ठीक नहीं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं—"बाजन दे बाजन्तरी"। झगड़ा करने वालों को झगड़ने दे। "कल कुकुही मति छेर" तू शांतिप्रिय आदमी, इन झगड़ालू बनमुरगों से छेड़खानी एवं नोकझोंक न करे। 'कल' का अर्थ मधुरता एवं शांति है, कुकुही का अर्थ वनमुरगा है। वनमुरगा जब बोलने लगता है तब दिन-दिन 'पुक-पुक' बोला करता हैं। वनमुरगा को बंसमुरगा भी कहते हैं। कबीर साहेब सटीक उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि तुम कल से, शांति से रहने वाले साधक हो, अतएव इन झगड़ालू वनमुरगों से मत उलझो। विवाद की कोई इति नहीं है। विवाद से विवाद बढ़ता है। सद्गुरु ने 70वीं रमैनी में भी कहा है "बोलत-बोलत बाढ़ु विकारा" बहुत बोलने से केवल विकार बढ़ता है।

सुना जाता है कि कुकुही नाम का एक छोटा बाजा भी होता है जिसमें कमजोर स्वर निकलता है। इस अर्थ में 'कल' कुकुही का विशेषण होगा। अर्थात 'कुकुही' में 'कल' विशेषण माना जायेगा। अतएव अर्थ होगा कि

कमजोर स्वर निकालने वाले कुकुही नाम का बाजा बजाना मत शुरू करो। अभिप्राय है कि नक्कार खाने में तूती की आवाज की कहानी मत चरितार्थ करो। अगला आदमी जोर देकर बकबक करने वाला प्रमादी है, और तुम शांति से, धीरे तथा कम बोलने वाले साधक हो, फिर तुम उससे अपना 'कल कुकुही' क्यों छोड़ते हो? चातुर वह है जो पातुर से बचाए। अर्थात समझदार वह है जो झगड़ालुओं से अपने आप को बचाए। विवाद करने से अपनी शक्ति क्षीण होती है। इसलिए निर्विवाद रहना अच्छा है।

"तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर"। तुम्हें इसकी चिंता क्यों होनी चाहिए कि दूसरे सब लोग तुम्हारी बातें समझ ही जायें। ऐसा कभी नहीं हुआ है। कोई अपनी बातें सबको नहीं समझा सका है। इसलिए तुम अपनी मनोवासनाओं को दूरकर तथा अपने सारे बन्धनों को काटकर स्वयं कृतार्थ हो जाओ, फिर जिन्हें तुम्हारी बातें समझनी होगी झख मारकर समझेंगे। तुम दूसरों को इसीलिए समझाना चाहते हो कि वह सत्य को समझकर तथा उसका आचरण कर कृतार्थ हो जाये, तो यह काम पहले तुम अपने लिए करो। सब, सबको समझाने के चक्कर में ही रहें, और स्वयं कोई समझकर अपना उद्धार न करे तो ऐसा समझाना किस काम का! अतएव हमें चाहिए कि हम दूसरे के विवाद से रहित होकर अपना कल्याण करें।

करनी के बिना कथनी बेकार है

गावै कथै बिचारै नाहीं, अनजाने का दोहा।
कहहिं कबीर पारस परसे बिना, जस पाहन भीतर लोहा॥ 249॥

शब्दार्थ—कथै=कहता है, ज्ञान-चर्चा। पाहन=पत्थर।

भावार्थ—दोहा, चौपाई, पद, श्लोक आदि गाते हैं, उनकी कथा भी कहते हैं, परन्तु उनका विचार करके आचरण नहीं करते, तो मानो वे अनजाने ही हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि जैसे मोरचा लगा लोहा पारस-पत्थर के भीतर ही क्यों न पड़ा हो, किन्तु मोरचा के परदे के कारण उसका पारस से स्पर्श न होने से वह सोना नहीं बनता, वैसे मलिनता में लिपटे हुए होने के कारण ज्ञान की वाणियों के पाठ तथा कथा करते हुए भी व्यक्ति का कल्याण नहीं होता॥ 249॥

व्याख्या—पारस पत्थर काल्पनिक है, किन्तु बातों को समझाने के लिए इसका उदाहरण कवि-जगत में चलता है। जिस लोहा में खूब मोरचा लगा हो ऐसा लोहा पारस-पत्थर के भीतर ही पड़ा हो, वह सोना नहीं बन सकता। क्योंकि लोहा और पारस में मोरचा परदा बनकर दोनों का स्पर्श नहीं होने देता। यही दशा मलिनता में लिपटे हुए जीव की है। वे ज्ञान के ग्रन्थ पढ़ते हैं, गाते हैं, उनका व्याख्यान करते हैं, परन्तु बोध और आचरण की जगह पर कोरे-के-कोरे

ही रहते हैं। जो व्यक्ति अपने में अहंकार, कामना तथा नाना मनोविकारों का पालन करेगा, उसका वाक्यज्ञान उसके कल्याण में सहायक नहीं बन पायेगा। यदि ज्ञान की वाणियों का याद करना, पाठ करना तथा उन पर व्याख्यान करना एक व्यसन है तो उससे वह आदमी अपना कल्याण तो कर ही नहीं पाता, उलटे उनके जोर से अपनी कमजोरियों को ढांकता है। वाचिकज्ञानी वाक्यज्ञान से अपने दोषों को सद्गुण सिद्ध करता है। एक प्रवक्ता महात्मा नामधारी ने अपने प्रवचन में कहा था "भगवद् भक्त में यदि दूषण हैं तो वे मानो भूषण ही हैं।" जब सुधार की भावना नहीं होती है तब व्यक्ति का सारा ज्ञान उसे विपरीत दिशा में ही ले जाता है। ऐसे अनेक तथाकथित ज्ञानी, कथावाचक एवं प्रवक्ता होते हैं जो बातें निचोड़कर कहते हैं, परन्तु उनके आचरणों से लाखों कोस दूर होते हैं। अप्पय दीक्षित ने ठीक ही कहा है—"नीति, ज्योतिष, शास्त्रों, वेदों एवं ब्रह्म के ज्ञाता बहुत मिलते हैं, परन्तु अपनी कमजोरियों तथा अपने अज्ञान के ज्ञाता बिरले हैं।"[1] इसीलिए युधिष्ठिर जी कहते हैं—"पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्रों के चिन्तन करने वाले सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो क्रियावान है, सदाचरणसंपन्न है, वह पण्डित है।"[2] अतएव हमारे मन का थोड़ा ज्ञान भी आचरणयुक्त है तो बहुत है। आचरणरहित बहुत ज्ञान किस काम का!

ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानना भ्रम है

प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारहबान।
कसत कसौटी ना टिका, पीतर भया निदान॥ 250॥

शब्दार्थ—हौं=मैं, ब्रह्म। बारहबान=खरा, खालिस सोना।

भावार्थ—सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु बहुत हो जाऊं, और वह एक से अनेक अर्थात जगत बन गया—यह सिद्धांत खरा सोना के समान बड़ा सच्चा लगा। परन्तु जब इसे परख की कसौटी पर कसा गया तब यह सत्यरूप में नहीं ठहरा। अंततः पीतल सिद्ध हुआ॥ 250॥

व्याख्या—पुराकाल में ऐसे चिन्तक हुए हैं जिन्होंने यह कल्पना की कि सर्वप्रथम केवल एक ब्रह्म था। उसके अलावा और कुछ नहीं था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया 'एकाकी न रमते।' अतएव उसने सोचा कि मैं एक हूं, परन्तु प्रजा के रूप में अनेक हो जाऊं—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' फिर सृष्टि

---

10. नीतिज्ञा नियतिज्ञा वेदज्ञाऽपिभवन्ति शास्त्रज्ञाः।
ब्रह्मज्ञाऽपिलभ्याः स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥
11. पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥ वनपर्व, 313/110॥

हो गयी। इन सबका अर्थ यह है कि पहले जगत नहीं था, केवल एक अखंड शुद्ध चेतनस्वरूप ब्रह्म था। उसी ने जगत बनने की इच्छा की और वह स्वयं जगत बन गया। इस सिद्धान्त को लोग बड़ा महत्त्वपूर्ण मानने लगे। आज भी जो लोग विवेक नहीं करते वे इस सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु जब इस पर परख की कसौटी लगायी गयी तब असत्य सिद्ध हुआ। ब्रह्मवादीजन ब्रह्म को स्वजाति, विजाति और स्वगत भेद से रहित निर्विकार, एक अखण्ड सर्वत्र व्याप्त और शुद्ध चेतन मानते हैं, फिर उसमें स्फूर्ति, संचालन, क्रिया, विकार हो ही नहीं सकते। जहां क्रिया और विकार ही संभव नहीं, वहां सृष्टि का होना कैसे संभव होगा! इसके अलावा ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है। अर्थात वह सत् है, चिद् है और आनंदस्वरूप है। परन्तु जगत असत्, अचिद्, और क्लेशमय है, तो सत् से असत्, चिद् से अचिद् और आनंदस्वरूप से क्लेशरूप जगत कैसे बन सकता है? वैशेषिक सूत्रकार कणाद ऋषि कहते हैं कि कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होता है।[1] अर्थात जो गुण कारण में होगा वही कार्य में होगा। कारण से सर्वथा हटकर कार्य में गुण नहीं आ सकते। और चेतन से जड़ तथा जड़ से चेतन तो हो ही नहीं सकते। फिर शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत कैसे बन गया! क्रियाहीन ब्रह्म से क्रियाशील जगत कैसे बन सकता है! अतएव इस सिद्धांत को कपिल, कणाद, गौतम, जैमिनि और पतंजलि ने जो क्रमशः सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और योग दर्शन के प्रणेता हैं, नहीं माना है।

कुछ ब्रह्मवादीजन कहते हैं कि जड़-गोबर से चेतन बिच्छू पैदा हो जाते हैं, नशारहित अन्न, महुआ आदि से नशा वाली शराब बन जाती है, मारक तत्त्व हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद तत्त्व ऑक्सीजन से पोषक तत्त्व जल बन जाता है, और पोषक पदार्थ घी और मधु की बराबर मात्रा मिला देने से मारक पदार्थ विष बन जाता है, इसलिए चेतन ब्रह्म से जड़ जगत भी बन सकता है। इन्हीं सब युक्तियों एवं प्रमाणों से भौतिकवादी जन जड़तत्त्वों में गुणात्मक परिवर्तन मानकर उनसे चेतन की उत्पत्ति मानते हैं।

वस्तुतः जड़ गोबर से चेतन बिच्छू नहीं होता। चेतन जीव जड़ गोबर या किसी जड़तत्त्व में देह धारण कर सकता है। अन्न में घुन पैदा हो जाते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि घुन की चेतना अन्न से पैदा हुई है। वस्तुतः अन्न से केवल घुन का शरीर पैदा हुआ है, चेतन तो स्वतः है। अन्न, महुआ सब में सूक्ष्म रूप में नशा है, इसीलिए भोजन करने के बाद नींद या आलस्य आता है। अन्न, महुआ आदि का सूक्ष्म नशा उन्हें सड़ा देने पर शराब में प्रचंड रूप में आ जाता है। मिट्टी की कठोरता उसके कार्य ईंट में तथा पत्थर की कठोरता उसके

---

12. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः ॥ 2/1/24 ॥

कार्य लोहे में अधिक हो जाती है। मारक हाइड्रोजन तथा प्राणप्रद ऑक्सीजन से पोषक जल बन गया तथा पोषक घी और मधु से मारक विष बन गया तो भी जड़ का जड़ ही रहा। जड़ से चेतन नहीं बन गया और न चेतन से जड़ बन गया; अतएव न तो जड़ तत्त्वों से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है और न चेतन से जड़तत्त्वों की उत्पत्ति हो सकती है। जड़ और चेतन दोनों सर्वथा भिन्न हैं। दोनों स्वतः एवं अनादि-अनंत हैं।

कोई ऐसी सत्ता जो एक अखण्ड, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सर्वत्र व्याप्त हो, उसमें गति, स्फूर्ण, संचालन, क्रिया तथा सृष्टि कदापि नहीं हो सकती। अतएव एक अखण्ड निर्विकार, शुद्ध चेतन ब्रह्म जगत बन गया, यह सिद्धान्त एकाएक खरा सोना भले लगे, परन्तु कसौटी पर चढ़ाने के बाद यह पीतल सिद्ध होता है। सद्गुरु ने 'बारहबान' और 'पीतर' शब्द का प्रयोग करके कितना सटीक विवेचन किया है! ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' में 'बारहबान' के अर्थ खरा, खालिस (सोना); निर्दोष, बेएब; पूरा तथा कामिल[13] किये गये हैं। 'पीतर' का अर्थ सर्वविदित है जो एक प्रसिद्ध मिश्रधातु है और मुख्यतः तांबे और जस्ते के योग से बनता है, जिसका शुद्ध नाम पीतल है, पीतर उसका अपभ्रंश है। ठग लोग प्रायः पीतल पर सोने का पानी चढ़ाकर भोले लोगों के हाथों में सोने के भाव बेच देते हैं। उसे खरीदने वाले पीछे जब किसी पारखी से उसकी कसौटी कराते हैं तब वह पीतल सिद्ध होता है और वे अपना माथा पकड़कर पश्चाताप करते हैं। ब्रह्म ही जगत बन गया—यह सिद्धान्त सोने का पानी चढ़ा पीतल है। यह परख की कसौटी पर असत्य सिद्ध होता है। इसके विषय में 67वें शब्द 'जो पै बीज रूप भगवान' की व्याख्या देखने योग्य है।

ब्रह्म शुद्ध चेतन है और वह मैं ही हूं—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म तथा प्रज्ञानं ब्रह्म अर्थात—मैं ब्रह्म हूं, वह तू है, यह आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञान ही ब्रह्म है—ब्रह्म की यह सरल एवं शुद्ध परिभाषा ही ठीक है। परन्तु उसे जहां सर्वत्र व्याप्य तथा जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण कहा जायेगा वहीं उसके विषय में भ्रम पैदा किया जायेगा। ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ, बृहत्त्वात् ब्रह्म। श्रेष्ठ यह द्रष्टा चेतन जीव एवं स्वस्वरूप ही है जो जड़ से सर्वथा पृथक व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी आदि भावों से रहित केवल ज्ञान मात्र है। अतः निज चेतनस्वरूप से पृथक ब्रह्म खड़ा करना एक भ्रम पैदा करना है। मैं ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त तथा जड़-जगत से अभिन्न हूं—यह महाभ्रम है। वस्तुतः मैं शुद्ध चेतन, जड़जगत से सर्वथा पृथक, दृश्यों का द्रष्टा एवं ज्ञान मात्र हूं, यही वास्तविकता है। इसको ब्रह्म एवं श्रेष्ठ कहना कोई बुरा नहीं है।

---

13. कामिल के अर्थ—पूरा, संपूर्ण, तमाम, योग्य, पूर्णज्ञाता (सिद्धपुरुष) हैं।

भक्ति के विषम में बहकाव

कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अन्तर में विष राखि के, अमृत डारिनि खोय॥ 251॥

शब्दार्थ—विष=जड़ाध्यास। अमृत=जो मृत एवं जड़ न हो वह चेतन, स्वरूप-विचार।

भावार्थ—लोगों ने कंकर-पत्थर और जड़ पिंडियों को धो-पूजकर भक्ति का स्वरूप नष्ट कर दिया है। उन्होंने अपने मन में जड़ाध्यास का विष रख लिया और चेतनस्वरूप के विचाररूपी अमृत को नष्ट कर दिया॥ 251॥

व्याख्या—लोग कंकर-पत्थर की पिंडी को या पत्थर, काष्ठादि को गढ़-छीलकर किसी आकार या पुतले को देवता नाम देकर उन्हें नहलाते हैं, पोंछते हैं, पत्र-पुष्प-मिष्ठान्नादि चढ़ाकर पूजते हैं। उन्हें सुलाते और जगाते हैं। गरमी में पंखा, कूलर आदि चलाकर तथा ठंडी में आग से या हीटर चलाकर उन्हें शीतलता या गरमी प्रदान कर उनकी सेवा करते हैं। ये लोग भावुकता में पड़कर इतनी भी समझ नहीं रखते कि इन जड़मूर्तियों एवं जड़पिंडियों को इन सबकी आवश्यकता नहीं है। ये सब तो किसी प्राणी की सेवा में समर्पित करना चाहिए।

जड़पिंडियों एवं जड़मूर्तियों की सेवा-पूजा करना केवल समय ही बरबाद नहीं करना है; किन्तु उलटे उत्तरोत्तर जड़भावना को ग्रहण करके चेतनस्वरूप के बोध से दूर होते जाना है। पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, धातु, कागज आदि के मूर्ति, चित्र आदि तो केवल किसी दिवंगत व्यक्ति के स्मरण दिलाने वाले हैं। किसी महापुरुष की मूर्ति या चित्र देखने से उनकी याद होती है यही उनका उपयोग है। मूर्ति, चित्र आदि को धूल-गर्द आदि से गंदा न होने दे, उन्हें साफ रखे, यही उनकी पूजा है, फिर इससे अधिक उन्हें नहलाना, खिलाना, सुलाना, जगाना, पंखा करना, आग तपाना, उनकी आरती उतारना, वंदना करना, नमस्कार करना—सब भावुकतापूर्ण एवं विवेक-विरुद्ध बातें हैं। विवेकवान लोग महापुरुषों के चित्र केवल दीवार आदि में टांग देते हैं जिससे उन पर नजर पड़ने पर मन में अच्छे भाव आवें। वे उनको न नमस्कार करते हैं और न उसकी पूजा-आरती। मूर्ति तो वे रखते ही नहीं, क्योंकि भोले लोगों द्वारा उसमें पूजा का भाव बढ़ सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि कंकर-पत्थर आदि की पूजा करना भक्ति के स्वरूप को नष्ट करना है। प्राणि मात्र के प्रति दया, प्रेम एवं करुणा का भाव रखकर उनकी यथासाध्य सेवा करना और अंततः निजस्वरूप चेतन के प्रति अनुराग, स्वरूपचिन्तन एवं स्वरूपस्थिति ही सच्ची भक्ति है। दूसरे प्राणियों की सेवा और निजस्वरूप की स्थिति यही भक्ति है, यही अमृत है। इसे छोड़कर जड़ की पूजा

और परोक्ष में अपना लक्ष्य खोजना विष को अपने हृदय में रखना है। "अर्ब खर्ब ले दर्ब है" इस 228वीं साखी में भक्ति के स्वरूप का थोड़ा विस्तृत विवेचन हुआ है।

रही एक की भई अनेक की, बिस्वा बहुत भ्रतारी।
कहहिं कबीर काके संग जरिहौ, बहु पुरुषन की नारी॥ 252॥

शब्दार्थ—बिस्वा= वेश्या। भ्रतारी= पतिवाली।

रूपक—मानो एक स्त्री हो और वह पति वाली हो। परन्तु पीछे से उसका स्वभाव खराब हो गया हो और वह वेश्या बनकर बहुतों की प्रेयसी बन गयी हो। अब उसके सभी प्राप्त पुरुष मानो पति हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि वह अन्त में सती होना चाहे तो किसके साथ में जलेगी, क्योंकि वह तो बहुत पुरुषों की नारी है!

भावार्थ—मनोवृत्ति का पति केवल निज चेतनस्वरूप है, परन्तु वह इसे न समझकर वेश्यावत बहुपतिवाली बन गयी। मनुष्य की चित्तवृत्ति नाना देवी-देवताओं की कल्पना करके भटक गयी। कबीर देव कहते हैं कि यह बहुतों की खींचतान में पड़ी हुई मनोवृत्ति अंततः किसमें स्थित होगी!॥ 252॥

व्याख्या—मनुष्य के इस शरीर में जीव पति है और मनोवृत्ति पत्नी है। अतएव मानव की मनोवृत्ति का एकमात्र पति जीव ही है। जब मनोवृत्ति जीव में स्थित होगी, अर्थात जब मनोवृत्ति निजस्वरूप चेतन में ही विश्राम पायेगी, तब उसके द्वन्द्व समाप्त होंगे। परन्तु अज्ञानवश मानव की मनोवृत्ति नाना जड़ देवी-देवताओं में भटकती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हनुमान, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण, शिव, गायत्री देवी तथा और अनेक तथाकथित देवी-देवताओं और सिनेमा वालों द्वारा दी गयी एक नयी देवी संतोषी मां, कितने नाम गिनाये जायें, इनकी सीमा नहीं है। फिर इनके अलावा नाना मतों के नाना ईश्वर जिनके विषय में उन मतों की विचित्र-विचित्र कल्पनाएं हैं। इन सब में मनुष्य की मनोवृत्ति भटकती है। स्वरूप से अलग जहां कहीं भी मनोवृत्ति भटकेगी, उसे शांति नहीं मिलेगी। क्योंकि निजस्वरूप से अलग जितने आलंबन माने जाते हैं सब मनःकल्पित एवं विजाति हैं। कबीर देव ने 38वें शब्द में कहा है "जहाँ जहाँ गयउ अपन पौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा।"

"कहहिं कबीर काके संग जरिहौ" कबीर देव कहते हैं कि मनोवृत्ति किसमें स्थित होकर परम विश्राम पायेगी? वस्तुतः जब तक यह विजाति देवी-देवताओं में भटकती रहेगी, कभी चिरविश्राम नहीं पायेगी। चिरविश्राम तो निजस्वरूप चेतन में स्थित होने से ही मिल सकता है। सार भाव यह है कि मनुष्य जब तक अपना उपास्य अपने चेतनस्वरूप एवं आत्मदेव को न समझकर बाहर भटकता

है तब तक उसे परमशांति नहीं मिल सकती। मनुष्य की मनोवृत्ति को परम विश्राम स्वरूपस्थिति में ही मिलेगा।

संसार-सागर और मन-पक्षी

तन बोहित मन काग है, लक्ष योजन उड़ि जाय।
कबहिं के भरमें अगम दरिया, कबहिं के गगन रहाय॥ 253॥

शब्दार्थ—बोहित=जहाज। लक्ष=लाख की संख्या। योजन=दो, चार, आठ कोस की मतभेदमयी मितियां (सीमाएं) मानी जाती हैं, कोस की लम्बाई चार हजार हाथ मानी गयी है; जैनी दस हजार कोस का योजन मानते हैं।[1] गगन=आकाश, अलौकिकता।

भावार्थ—यह मानव-शरीर संसार-समुद्र में तैरता हुआ एक जहाज है। इस पर मनरूपी कौआ बैठा है। यह क्षण ही में लाखों योजन उड़ जाता है। कभी तो यह अपार संसार-समुद्र में भटकता है और कभी अलौकिकता के आकाश में पंख फहराने लगता है॥ 253॥

व्याख्या—जहाज समुद्र के तट पर मानो खड़ा है। एक कौआ शाम को आकर उस पर बैठ गया। कुछ रात बीतते ही जहाज तट से चल पड़ा। सुबह होते-होते जहाज सैकड़ों किलोमीटर दूर चला गया। अब कौआ जहाज से उड़कर इधर-उधर जाता है। दूर-दूर तक जाने पर भी उसे न थल मिलता है न बाग-वन। वह कहीं आश्रय न पाने से पुनः जहाज पर लौट आता है; क्योंकि जहाज के सैकड़ों या हजारों किलोमीटर चारों तरफ केवल जल-जल है।

इस प्रकार संसार-सागर में यह शरीर जहाज है। इसमें मनरूपी कौआ बैठा है। यह क्षण-क्षण लाखों योजन उड़ जाता है। परन्तु इसको अलग आश्रय न मिलने से यह शरीर में लौट जाता है। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि वह कहीं जाता हो। वस्तुतः हमने जो कुछ देख, सुन और भोग रखा है उनकी याद होना ही मानो मन का भटकना है। मन तो शरीर के भीतर ही रहता है। वहीं से वह अनुभूत विषयों की याद करता रहता है।

कबीर देव अपनी बातें सटीक एवं सुन्दर उदाहरण दे-देकर समझाते हैं। यह उनकी कथन-शैली की महान विशेषता है। उनके द्वारा इस साखी में दिया गया रूपक कितना आकर्षक है! संसार सागर है, शरीर जहाज है और मन कौआ है। यह मन-कौआ लाखों योजन उड़ जाता है। यह कभी संसार-सागर में भटकता है और कभी अलौकिकता के आकाश की ऊंचाई पर चढ़ जाता है।

---

14. बृहत् हिन्दी कोश।

पहली बात है कि यह मानव-शरीर संसार-सागर से तैरने के लिए जहाज है। परन्तु मनुष्य इसे जहाज के रूप में न देखकर विषय-भोगों को भोगने के साधन के रूप में देखता है। दृष्टिकोण भिन्न होने से फल भिन्न होता है। यदि इस शरीर में रहकर जीव विषयों में डूबा रहता है तो वह मानो भवसागर में आज बह रहा है तथा आगे भी उसी में बहने की तैयारी करता है। और यदि वह इस शरीर में रहते हुए परख द्वारा सारी वासनाओं का त्याग करते हुए अपने स्वरूप में स्थित होता है तो वह संसार-सागर से आज ही पार हो चुका है। हमें चाहिए कि हम इस शरीर को संसार-सागर से तरने के साधन जहाज के रूप में देखें और इसका उपयोग उसी काम के लिए करें।

दूसरी बात है कि यह मन कौआ है। यह अपने स्वभाव से मलिन विषयों पर ही टूटता रहता है। यह हर क्षण लाखों योजन उड़ जाता है। इसका अर्थ है कि यह शरीर के भीतर रहते-रहते देखे, सुने तथा भोगे हुए विषयों की क्षण-क्षण याद करता रहता है। इसलिए यह 'अगम दरिया' में भ्रमता रहता है। अगम दरिया एवं अपार सागर यह संसार है, यह विषयों का जाल है। विषयी मन इसी में भटकता है। परन्तु यह कभी-कभी आकाश में भी उड़ जाता है। मन कभी-कभी वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष एवं संसार से एकदम निवृत्त होकर असंग-स्थिति का भी विचार करता है।

अंततः मन का आश्रयस्थल शरीर ही है। इस दृष्टिकोण को लेकर "तन बोहित मन काग है" इस साखी में कहा गया है। मन शरीर में रहते हुए ही संसार-सागर में भटकता है तथा आकाश में भी उड़ता है। अतएव इसी हाड़-चाम के शरीर में रहते हुए विवेकज्ञान हो जाने पर मन विषयों के सागर से मुक्त होकर अध्यात्म के आकाश में चढ़ सकता है। हमारे जीवन की विशेषता यही है कि मन संसार के कीचड़ से निकलकर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति के दिव्य गगन में विहरण करे, हमारा मन कौआ से बदलकर हंस बन जाये और ज्ञान का मोती चुगे। जब हमारा मन हंस बनकर स्वरूपज्ञान में रमेगा, तब हमारा शरीर संसार-सागर से तरने का जहाज है यह चरितार्थ हो जायेगा।

मौन और वक्तव्य के महत्त्व

ज्ञान रतन की कोठरी, चुम्बक दीन्हों ताल।
पारखि आगे खोलिये, कूँजी वचन रसाल॥ 254॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न—हीरा, पन्ना, मोती, माणिक, लाल, जवाहर, नगीना आदि (मुख्य रत्न नौ हैं—माणिक, नीलम, लहसुनिया, हीरा, पन्ना, पुखराज,

मूंगा, मोती, गोमेद),[1] ज्ञानरूप रत्न। चुम्बक= एक तरह का पत्थर जो लोहे को खींचता है, तात्पर्य में आकर्षक। ताल=ताला, मौन। कूँजी=कुंजी, ताला खोलने का साधन, ताली। रसाल=मधुर, मीठा।

भावार्थ—ज्ञानरूपी रत्नों से भरी अंतःकरणरूपी कोठरी में मौन का आकर्षक ताला लगा दो, और जब उन रत्नों के ग्राहक सच्चे पारखी मिलें तब उसे मीठे वचनरूपी कुंजी से उनके आगे खोलो॥ 254॥

व्याख्या—सद्गुरु ने क्या खूब कहा है, स्वाद में उत्तम और गुणों में सर्वोत्तम! सीख तो सर्वोत्तम है ही, कहने का तरीका भी कितना उत्तम है! ज्ञान का रूपक रत्न है, अन्तःकरण का कोठरी, मौन का चुम्बक ताला, जिज्ञासु का पारखी एवं जौहरी तथा मीठे वचन का कुंजी रूपक है। इन रूपकों एवं अलंकारों में कबीर देव हमें बहुत बड़ी सीख देते हैं। कितने ज्ञानी कहलाने वाले "बदो तो पंच न बदो तो पंच" बने हर जगह हर समय अधिकारी तथा अनधिकारी के सामने अपना ज्ञान झाड़ते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ज्यादा बकबक करने से न तुम्हारा कल्याण होगा और न दूसरे का।

ज्ञानी का ज्ञान उसके अन्दर में पचना चाहिए। खाया हुआ आहार यदि बिना पचे शरीर से निकल जाये तो उससे शरीर को कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार अर्जित किया हुआ ज्ञान बिना आचरण किये परोपदेश में निकल जाये तो उससे वक्ता का अपना कोई लाभ नहीं हुआ। प्राप्त जानकारी को दूसरों के सामने परोसने का उतावलापन ओछापन का लक्षण है। सभा में प्रवचन देना हो तो वहां भी मांग होने पर ही समयानुसार देने योग्य को देना चाहिए, और व्यक्तिगत मिलने वालों को बिना अगले आदमी की ओर से मांग हुए उसे ज्ञान की बातें परोसने लगने से न जिसको उपदेश दिया जाता है उसका लाभ होता है, न उपदेश की इज्जत होती है और न उपदेष्टा की। ज्ञानातिरेक में बहुत बोलने की आदत होती है जो केवल छिछलापन सिद्ध करती है। अनुभूत ज्ञान जीवन का स्वरूप होता ही है; अर्जित ज्ञान भी रहनी सम्पन्न व्यक्ति में उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। इसलिए वह हर समय फट-फट ज्ञान नहीं झाड़ता; किन्तु प्राप्त ज्ञान का आचरण रूप में दोहन करता है। हम जो कुछ जानते हैं उनका निरन्तर आचरण करने का प्रयत्न करना ही उनका दोहन करना है।

जो प्राप्त जानकारी का आचरण करता है वह वाक्यसंयमी होता है। वह मौन का ताला लगाये रखता है। वह तो उसे तभी खोलता है जब उसका ग्राहक पारखी मिल जाता है। बेपारखी के सामने अपने रत्नों को खोलना उनका निरादर करना है। कुजड़ों की हाट में रत्न नहीं बिकते। रत्न तो पारखियों एवं जौहरियों

---

15. बृहत् हिन्दी कोश।

की हाट में बिकते हैं। कल्पित देवी-देवताओं में उलझे हुए लोग स्वरूपज्ञान का विषय क्या समझ सकते हैं! किन्तु यह भी समझना चाहिए कि सत्पात्र हर जगह होते हैं। जिन मनुष्यों को स्वरूपज्ञान की बातें बताने वाला कोई नहीं मिला, तो वे देवी-देवताओं की अलीक धारणा में ही उलझे हैं। यदि उन्हें कोई जड़-चेतन का निर्णय तथा स्वरूपज्ञान की परख देने वाला हो, तो उनमें कितने ही सत्पात्र मिलेंगे जो थोड़े ही दिनों में सारे जंजाल छोड़कर स्वरूपज्ञान में निष्णात हो जायेंगे। इतिहास साक्षी है कि आज के बड़े-बड़े पारखी पहले देवी-देवताओं के ढोंग-पोंग में पड़े थे। जब उन्हें किसी पारखी की संगत मिली तो वे भी सत्य का मोती परखकर कृतकृत्य हो गये। जीव मात्र का स्वरूप पारख अर्थात ज्ञान है। परख की शक्ति तो सब में है। वह जहां रहता है किसी-न-किसी प्रकार परखता रहता है। मानव-शरीर तो अधिक विवेकसम्पन्न है। मानव अंधविश्वासियों की संगत में अंधविश्वासी हो गये हैं। जब वे पारखियों की संगत पाते हैं तो उनमें से कितने ही सत्पात्र ऐसे निकल आते हैं जो शुद्ध पारखी हो जाते हैं। वे 'स्व' और 'पर' दोनों की परखकर 'पर' से 'स्व' को निकाल लेते हैं।

सद्गुरु ने उपदेश देने तथा किसी सत्पात्र को सत्यासत्य की परख देने के लिए तरीका बताया "पारखि आगे खोलिये, कूँजी वचन रसाल"। एक तो सत्पात्र के आगे अपनी बातें रखो और दूसरी बात है कि मीठे वचनों से किसी को सीख दो। रुचिहीन आदमी के पीछे अपना समय व्यर्थ मत करो, परन्तु जो तुम्हारी बातों में रुचि ले उससे मीठे वचनों में बातें करो। यह ध्यान रखो, सारा सत्य किसी के सामने एक साथ नहीं कहा जा सकता। भले ही कोई बहुत गहरे अंधविश्वास में पड़ा हो, परन्तु उसे मीठे वचनों में जितना ज्यादा सफलतापूर्वक समझाया जा सकता है, उतना कटु कहकर नहीं। उपदेशक के मीठे वचनों के कारण श्रोता का उपदेशक से प्रेम हो जाता है और प्रेम हो जाने के बाद सीख देने वाले की बात गले उतरने लगती है।

इस साखी में मुख्य दो बातें बतायी गयी हैं कि विवेकवान का काम है कि वह या तो मौन रहे और या तो सत्पात्र मिलने पर मीठे वचनों से उसे अच्छी सीख दे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी वैराग्य संदीपनी में कहा है—

की मुख पट दीन्हें रहें, यथाअर्थ भाषंत।
तुलसी यह संसार में, सो विचार युत संत॥

साधना के नाम पर मोटी-झीनी माया का जाल

स्वर्ग पाताल के बीच में, दुई तुमरिया बद्ध।
षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध॥ 255॥

शब्दार्थ—स्वर्ग पाताल=आकाश-पाताल, तात्पर्य में पूरा संसार। दुई तुमरिया=मोटी तथा झीनी माया। षट दर्शन= छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण—तात्पर्य में समस्त आध्यात्मिक विचारक। संशय=अनिश्चय, संदेह, खतरा।

भावार्थ—संसार के वे समस्त लोग जो खाने-भोगने से ऊपर उठकर आत्म-उद्धार की बातें सोचते हैं, उनके मन में यह संदेह पैदा हुआ कि हम इस संसार-सागर से कैसे तरेंगे, तो उन्होंने इसके लिए मोटी-झीनी माया की दो तुमड़ियां बांधकर उसके सहारे से तरना चाहा। इसी में लाखों साधक एवं चौरासी सिद्ध भी पड़े हैं॥ 255॥

व्याख्या—कबीर देव अपने कथनों के बीच-बीच में बुझव्वल कहा करते हैं जिससे लोग अपने मस्तिष्क का ज्यादा प्रयोग करें और उनकी समझ-क्षमता बढ़े। इस साखी में कुछ ऐसा ही कथन है। "स्वर्ग पाताल के बीच में" कहकर सद्गुरु ने पूरे संसार को व्यक्त किया है। आकाश-पाताल के बीच में ही तो यह हमारा संसार है। अतएव "स्वर्ग पाताल के बीच में" का लाक्षणिक अर्थ हुआ पूरा संसार।

"दुई तुमरिया बद्ध" क्या है? लोग ताल-तलैयों एवं छोटी नदी और नालों को दो तुमड़ियों एवं सूखी लौकियों को एक में बांधकर उसके सहारे तैरकर पार हो जाते हैं। परन्तु यदि कोई उसी के सहारे समुद्र पार करना चाहे तो डूबकर मर जाने के सिवा कोई दूसरा परिणाम नहीं होगा। तुमड़ियां पानी में नहीं डूबतीं यह उनका स्वभाव है। इसीलिए उनके सहारे नदी-नाले पार किये जाते हैं। परन्तु वे समुद्र नहीं पार कर सकतीं। यहां तुमड़ियों के अभिप्राय में है मोटी और झीनी माया। संसार के समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतकों एवं साधकों ने उपासना एवं ध्यान के जितने आलंबन निर्धारित किये हैं सब मोटी या झीनी माया के भीतर हैं। ध्यान एवं उपासना के विषय जहां तक किसी महापुरुष के आकार, चित्र या नाद, बिन्दु, सबद आदि बनाये जाते हैं, मोटी माया है और जहां तक किसी परोक्ष लोकवासी या सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की अवधारणा की जाती है और उन्हें ध्यान एवं उपासना के विषय बनाये जाते हैं, झीनी माया है। क्योंकि ये सब इन्द्रियगोचर जड़-पदार्थ या मनगोचर कल्पनाएं एवं अवधारणाएं हैं। इन सबकी उपासना एवं ध्यान से मन में एकाग्रता, सात्त्विकता तथा थोड़ी शांति आ सकती है। परन्तु चिरंतन स्थिति और शांति तो स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति में ही संभव है।

हम मन को रोकने एवं ध्यान उपासना करने के जितने आलंबन बनाते हैं वे सब विजाति होते हैं, हमारे निज चेतनस्वरूप से अलग होते हैं। अतएव वे हमारी स्थिति एवं विश्राम के परम आश्रय नहीं बन सकते। मनुष्य मन से सोच

करके ही सारे उपास्य बनाता है। अतएव साधक के सारे उपास्य मन के खिलौने हैं, और मन के आयाम से पार जाकर ही जीव की सर्वोच्च स्थिति होती है। मन के पार वही जाता है जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है। वह मन को शून्य कर देता है और स्वयं शेष रह जाता है।

"षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध" छह दर्शनियों, लाखों साधकों एवं चौरासी सिद्धों के मन में यह संदेह हुआ कि हम संसार-सागर से कैसे पार जायेंगे। षड्दर्शन में संसार के सभी सम्प्रदाय आ जाते हैं। षड्दर्शन में योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। सेवड़ा में जैन-बौद्धादि सब आ जाते हैं। दरवेश का शाब्दिक अर्थ फकीर या भिक्षु है, परन्तु उसमें सारे अभारतीय मत आ आते हैं। षड्दर्शन का लाक्षणिक अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है भी। साखीग्रन्थ में आया है "गुरु को पूजै गुरुमुखी, बाना पूजै साध। षटदर्शन जो पूजही, ताका मता अगाध॥" इसमें आये हुए 'षटदर्शन' का अर्थ संसार के समस्त धार्मिक मत है।

संसार के समस्त धार्मिक मत वालों के मन में संसार-सागर से पार जाने में संदेह हुआ, अतएव पार जाने के लिए सब ने कोई पूजा, आराधना, उपासना एवं ध्यान का आलंबन बनाया। वे पहली साधना में पात्रानुसार ठीक हो सकते हैं परन्तु गंतव्य तक पहुंचाने वाले नहीं, क्योंकि वे माया की दो तुमड़ियों के भीतर हैं। वे या तो मोटी माया के भीतर हैं या झीनी माया के। वे या तो स्थूल जड़ पदार्थ हैं या मन की कल्पनाएं। परन्तु पांचों विषयों तथा मनःकल्पनाओं के पार जाने पर ही जीव की अपने स्वरूप में स्थिति होती है। स्वरूपस्थिति ही जीव का परम गंतव्य एवं सर्वोच्च विश्रामस्थल है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि संसार के अधिकतम साधक माया की दो तुमड़ियों के बीच में ही फंसे पड़े हैं। वे स्थूल बुद्धि वाले बनकर देवी-देवता एवं नाद, बिन्दु, सबद तक ही उपासना एवं ध्यान में सीमित हैं या बहुत उड़कर चले तो ईश्वर की कल्पना करके मन में कोई उसका आकार बना लिये और उसी में अपने मन को जोड़ते हैं। इन्द्रियगोचर पंचविषय पदार्थ तथा मनगोचर समस्त कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर स्वरूप में स्थित होने वाले कम लोग हैं। अधिकतम लोग साधना, उपासना के नाम पर मोटी और झीनी माया के आयाम में ही पड़े रहते हैं।

इस साखी में चौरासी सिद्ध शब्द आये हैं। चौरासी सिद्धों के नाम इस प्रकार हैं—1. लूहिपा 2. लीलापा 3. विरूपा 4. डोम्भिपा 5. पबरीपा 6. सरहपा 7. कंकालीपा 8. मीनपा 9. गोरक्षपा 10. चोंगगिपा 11. वीणपा 12. शांतिपा 13. तत्तिपा 14. चमरिपा 15. खंगपा 16. नागार्जुन 17. कराहपा 18. कर्णरिपा 19. थगनपा 20. तारोपा 21. शालिपा 22. तिलोपा 23. छत्रपा 24. भद्रपा 25.

दोखन्धिपा 26. अजोगिपा 27. कालपा 28. धोकिपा 29. कंकणपा 30 कमरिपा 31. डेगिपा 32. भदेपा 33. तन्घेपा 34. कुकुरिपा 35. कुसूलिपा 36. धर्मपा 37. महिपा 38. अचिन्तिपा 39. भलहपा 40. नलिनपा 41. भुसुकुपा 42. इन्द्रभूतिपा 43. मेकोपा 44. कुठलिपा 45. कमरिपा 46. जलन्धरपा 47. राहुलपा 48. घवरिपा 49. मेदिनीपा 50. पंकजपा 51. घणटापा 52. जोगीपा 53. चेलुकपा 54. गुण्डरिपा 55. लुचिकपा 56. निर्गुणपा 57. जयानन्नपा 58. चर्षटिपा 59. चश्पकपा 60. भिकनपा 61. भलिपा 62. कुमरिपा 63. जवरिपा 64. मणिभद्रपा 65. मेखलापा 66. कनखलापा 67. कलकल्पा 68. कुन्तलिपा 69. धहुलिपा 70. उधलिपा 71. कपालपा 72. कमालिपा 73. किलपा 74. सागरपा 75. सर्वभक्षपा 76. नागबोधिपा 77. दारिका 78. पुतुलिपा 79. पनहपा 80. कोकलिपा 81. अनंगपा 82. लक्ष्मीकरापा 83 समुद्रपा और 84. भलिपा

हंस की रहनी

सकलो दुर्मति दूर करु, अच्छा जन्म बनाव।
काग गौन गति छाड़ि के, हंस गौन चलि आव॥ 256॥

शब्दार्थ—दुर्मति=दुर्बुद्धि, कुमति। काग=कौआ। गौन=चंचल, गमन, आचरण। गति=चाल, दशा।

भावार्थ—सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो। जीवन को अच्छा बनाओ। चंचल कौए की चाल एवं दशा छोड़कर हंस के आचरण में चलते हुए स्वरूपस्थिति को प्राप्त करो॥ 256॥

व्याख्या—सद्गुरु ने 255वीं साखी में षड्दर्शनियों एवं सिद्धों के मायामय तथा उलझन भरे साधनों की चर्चा कर उनके गुण-दोषों को परखाया है। इस साखी में वे सरल साधना बता रहे हैं। वे इस साखी में चार बातें बताते हैं—सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो, जीवन को अच्छा बनाओ, कौए की चाल छोड़ दो और हंस की चाल में चलकर स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। हम इन चारों बातों पर अलग-अलग विचार करें।

"सकलो दुर्मति दूर करु" दुर्मति का अर्थ कुमति एवं दुर्बुद्धि है। यही सारे अनर्थों की जड़ है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो भाई से भाई लड़ते हैं, पिता से पुत्र तथा पुत्र से पिता लड़ते हैं, पति से पत्नी तथा पत्नी से पति लड़ते हैं। पड़ोस, गांव, मोहल्ला, राष्ट्र तथा अन्ताराष्ट्र में लड़ाई का कारण दुर्बुद्धि है। यह दुर्बुद्धि का ही फल है जो न खाने योग्य पदार्थों को आदमी खाता है तथा न पीने योग्य पदार्थों को पीता है। आदमी अखाद्य मांस, मछली एवं अंडे ही नहीं खाता है, अपितु वह शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि सर्वथा

हानिकारी चीजों को भी खाता-पीता है। जिसमें लाभ कुछ न हो अपितु केवल हानि हो ऐसे नशा की चीजों को पैसा से खरीदकर खाना दुर्बुद्धि नहीं तो क्या है! पढ़े-लिखे लोग अपने आप को बुद्धिवादी मानते हैं और वे ही लोग उस सिगरेट को पीते हैं जिसके डिब्बे पर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। इससे अधिक बुद्धि का दीवाला पिटना और क्या होगा! ऐसे लोगों को बुद्धिवादी कहा जाये तो बुद्धि का शत्रु किये कहा जाये!

पवित्र आचरण में चलकर शांतिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। परन्तु संसार के अधिकतम लोग आपस में लड़-लड़कर जीवन बिताते हैं। कुछ लोग तो यहां तक शूरवीर होते हैं कि थोड़ी-थोड़ी चीजों के लिए मुकदमे में हजारों-लाखों रुपये खर्च करते हैं और जीवन के अधिकतम वर्ष लड़ाई में बिता देते हैं। एक आदमी ने पांच सौ रुपये के मूल्य की जमीन के लिए मुकदमे में पचहत्तर हजार रुपये खर्च किये और वह सत्ताईस वर्षों से लड़ रहा है। जब उससे पूछा गया कि थोड़ी जमीन के लिए इतना समय और धन मुकदमे में क्यों बरबाद करते हो; तब उसने बड़े रोब से कहा—"साहेब, लड़ाई जमीन की नहीं, बात की है।" इस प्रकार बात-बात की लड़ाई में बहुमूल्य जीवन खोना, समय, शक्ति बरबाद करना और जीवनभर राग-द्वेष में जलना कौन-सी बुद्धिमानी है! यह केवल मिथ्या अहंकार है। 'धिग स्वारथ झूठा हंकारा।' आदमी दुर्बुद्धि के कारण ही अपने समय, शक्ति सबका दुरुपयोग कर अपने जीवन को दुखों से भर लेता है।

देह को 'मैं' मानना सबसे बड़ी दुर्मति है। यह हाड़-मांस का बना शरीर जिसमें टट्टी-पेशाब भरी है, इसे यह मानना कि मैं शरीर हूं, महती दुर्बुद्धि है। फिर इन्द्रियों के विषय-भोगों में लालायित होकर उनमें डूबना दुर्मति का प्रकाश है, क्योंकि इन्द्रिय-भोगासक्ति ही तो जीवन को नरक बनाती है। इसी प्रकार मन की जिन अवधारणाओं, वाणी तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से जीवन उलझन और अशांति में पड़े, उन सबके मूल में दुर्बुद्धि है। सद्गुरु कहते हैं कि सारी दुर्बुद्धि को दूर कर दो।

दूसरी बात है "अच्छा जन्म बनाव।" जीवन को अच्छा बनाना क्या है! कई भाषाओं का ज्ञान, पद, प्रतिष्ठा, वाहन, परिवार, रुपये-पैसे आदि सांसारिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होना जीवन को अच्छा बनाना है—सामान्य लोगों की यही समझ है। यह सब ठीक है। इनका कोई निरादर नहीं कर सकता। अच्छे जीवनस्तर के ये भौतिक अंग हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि निष्पाप और निर्मल जीवन ही अच्छा जीवन है। अपने मन के पाप और मलिनता के कारण विद्वान दुखी हैं, पद-प्रतिष्ठा वाले दुखी हैं, धन, महल, वाहन एवं ऐश्वर्य वाले दुखी हैं, परिवार वाले दुखी हैं और यदि जीवन में दुख है तो जीवन अच्छा कहां है!

केवल कुछ भाषा और लिपि का ज्ञान हो जाना विद्या-प्राप्ति नहीं है और

दुनिया का कुछ कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा हो जाना धन-प्राप्ति नहीं है। वस्तुतः शुद्ध बुद्धि और आत्मज्ञान का पाना ही विद्या-प्राप्ति है और सदाचार ही धन है। इनके बिना बड़े-बड़े ऐश्वर्य वाले केवल दुखों में जल रहे हैं। अतएव जिसके जीवन में शील, क्षमा, करुणा, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परोपकार, संतोष, शांति आदि सद्गुण एवं सदाचार है उसका जीवन ही अच्छा है। स्वरूपज्ञान और सदाचार से पूर्ण जीवन ही अच्छा जीवन है।

सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता सबके जीवन में है, परन्तु वे सबके पास समान रूप से नहीं होती है। रोटी सबको चाहिए। यह अलग बात है कि किनको कितनी कीमती रोटी मिलती है, अर्थात किनकी रोटी के साथ घी, दूध, मलाई, दही, मेवे आदि हैं, किनकी रोटी के साथ केवल रूखी सब्जी है और किनकी रोटी के साथ केवल नमक। अच्छी चीज पाने की भावना सब के मन में होती है, परन्तु थोड़ी ठीक समझ हो जाये तो यह जाना जा सकता है कि इन सब चीजों में जितना अन्तर समझा जाता है उतना अन्तर नहीं रहता। यदि मन प्रसन्न है तो रोटी के साथ केवल नमक मिले तो उसमें मानो बहुत प्रोटीन और विटामिन है। भूख लगने पर सूखी रोटी भी अमृत लगती है और बिना भूख के मेवे-मलाई भी विष लगते हैं और यदि मन मलिन, पापी एवं दुखी है तो मेवे-मलाई भी मनुष्य को शक्ति न देकर पानी बन जाते हैं। हमारे शरीर पर कितना मूल्यवान वस्त्र है, हम कितने बड़े महल या झोपड़ी में रहते हैं, हमें कितने लोग जानते हैं, इन सब बातों का महत्त्व बहुत ऊपरी-ऊपरी है। महत्त्व तो इसमें है कि हमारा मन कितना पवित्र है। मन जितना पवित्र होगा जीवन में उतनी प्रसन्नता होगी। मन की पूर्ण पवित्रता में ही जीवन में पूर्ण प्रसन्नता रहती है। मन, वाणी तथा कर्मों की निर्मलता ही जीवन की निर्मलता है और जीवन की निर्मलता ही जीवन की अच्छाई है। अतः जो अपने जीवन को निर्मल बनाता है वही मानो अपने जीवन को अच्छा बनाता है।

तीसरी बात है "काग गौन गति छाड़ि के" कौए के आचरण एवं चाल छोड़ दो। कौए के मन, वाणी और कर्म तीनों गंदे होते हैं। उसका मन चंचल होता है, उसकी वाणी कर्कस होती है तथा उसके आचरण गंदे होते हैं। सभी पक्षियों में कौआ ज्यादा चालाक होता है। कहा जाता है कि जब कौआ को बच्चा पैदा हुआ तब उससे कौआ ने कहा कि देखो बेटे, यदि किसी आदमी को जमीन पर झुकते देखो तो समझ लो कि वह तुम्हें मारने के लिए पत्थर उठा रहा है, अतः तुम तुरन्त उड़ जाना। कौए के बच्चे ने कहा कि पिताजी, यदि आदमी अपनी जेब में पत्थर पहले से रख लिया हो तो? कौए ने कहा कि बेटा, तुम मुझसे भी ज्यादा चालाक हो। इस प्रकार कौए का बच्चा कौए से भी अधिक चालाक होता है। परन्तु ऐसा चालाक कि सुबह होते ही वह गंदगी पर चोंच मारता है।

गोस्वामी जी के वचनों में "कागा काह न खाय" कौआ क्या नहीं खा लेता!

कौआ का मन बड़ा चंचल होता है। वह सबसे डरता है। उसे सब पर संदेह होता है। दूसरे पक्षी लोगों से इतना नहीं डरते। उन्हें लोगों पर इतना संदेह नहीं होता, इसलिए वे लोगों से इतने सावधान नहीं रहते है। कौए की दशा एकदम भिन्न है। वह सबसे सब समय सावधान रहता है। मालूम होता है कि वह हर समय बहुत बड़ा खजाना बांधे घूमता है। चंचल, चालाक एवं पापी मन वालों की दशा यही होती है। इस प्रकार आपने कौए के मन को देखा कि वह कितना मलिन और चंचल है।

कौए की वाणी कर्कस होती है यह जगत-प्रसिद्ध है। सबको इसका अनुभव है। कौआ जैसे आकर ऊपर बैठता है, वह बड़े जोरों से कर्र-कर्र आवाज करता है। इसलिए यह दोहा कहा गया है—"कागा काको धन हरै, कोयल काको देत। अपनो शब्द सुनाय के, जग यश अपयश लेत॥" इस प्रकार कौए के मन की चंचलता और वाणी की कर्कसता को आपने देखा। उसके आचरण की गंदगी की भी चर्चा ऊपर आ ही गयी है कि वह सब कुछ खाता रहता है।

कुछ मनुष्य भी ऐसे ही होते हैं जो मन के चंचल, वाणी के कर्कस तथा आचरण के गंदे होते हैं। वे कौए के समान ही सब पर संदेह करने वाले तथा ज्यादा चतुर-चालाक होते हैं। परन्तु कौआ चालाक होकर भी सुबह से गंदगी ही तो खोदता है। इसी प्रकार ज्यादा चालाक लोग अपने जीवन में बुराइयों की ही कमाई करते हैं। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि कौए की जैसी मन की चंचलता, वाणी की कर्कसता तथा आचरण की गंदगी की चाल छोड़ दो। अर्थात तुम कौए के समान चंचल-चालाक, कटुभाषी एवं गंदे आचरण के मत बनो। किन्तु सरल मन वाले, मधुरभाषी एवं पवित्र आचरण वाले बनो। सद्गुरु कहते हैं कि तुम कौए की चाल छोड़ दो।

चौथी बात है "हंस गौन चलि आव" हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर-जैसी बड़ी एवं स्वच्छ झील में रहता है। उसके लिए दो किंवदंतियां हैं। एक यह कि वह मोती चुगता है और दूसरी यह कि वह नीर-क्षीर विवेक करता है। अर्थात दूध और पानी एक में मिला हो तो वह उसमें से केवल दूध लेकर पानी छोड़ देता है। हो सकता है ये दोनों बातें हंस पक्षी में न हों। मोती का चुगना तो काल्पनिक है ही, उसका नीर-क्षीर विवेक भी काल्पनिक लगता है। वैसे नीर-क्षीर अलग करने-जैसी बात असंभव नहीं है। हम दूध में नीबू का रस डाल देते हैं दूध छेना बन जाता है और पानी अलग हो जाता है और छेना खाने या मिठाई बनाने आदि के काम में आता है। इसी प्रकार यदि हंस की चोंच में स्वाभाविक खटास होती हो तो उसको दूध में डुबाने से वह फटेगा ही और दूध छेना बन जाने से उसे हंस सहज ही खा सकता है तथा पानी छोड़ सकता

है। वस्तुतः यहां हंस का मोती का चुगना तथा नीर-क्षीर विवेक करना लाक्षणिक है। अर्थ है कि हंस गलत वस्तु को हटाकर पवित्र वस्तु खाता है। हंस मोती चुगता है। मनुष्य को चाहिए कि वह हंस के समान सद्गुणों को ग्रहण करने वाला हो और हंस के नीर-क्षीर विवेक के समान जड़-चेतन एवं बंध-मोक्ष का विवेक करके और जड़-बन्धनों को त्यागकर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हो।

भारतीय परम्परा में हंस का बड़ा आदर है। वैदिक साहित्य में भी हंस का उदाहरण अनेक बार आया है। कबीर साहेब की वाणियों में तो हंस के उदाहरणों की भरमार है। संस्कृत भाषा के अहंसः से शुरू के अ तथा अंत के विसर्ग लुप्त होकर हिन्दी में हंस हो गया है। अर्थ हुआ कि 'मैं वह हूं' जो मैं चाहता हूं। मैं दुखों से पूर्ण निवृत्ति तथा परम शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप वही है। अथवा दूसरी भाषा में कहूं तो मैं परमात्मा, राम एवं मोक्ष चाहता हूं, तो मैं ही परमात्मा हूं, राम हूं एवं मोक्षस्वरूप हूं। इस प्रकार हंस का हंसत्व है निजस्वरूप-विवेक तथा निजस्वरूप-स्थिति। सद्गुरु इस साखी के चौथे चरण में कहते हैं "हंस गौन चलि आव"—हंस की रहनी में चले आओ। जड़-चेतन का नीर-क्षीर विवेक करके अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाओ।

कथनी और करनी की एकता

जैसी कहै करै जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे।
तामें घटे बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँवारे॥ 257॥

शब्दार्थ—निरुवारे= त्याग करे। सँवारे=सुधारे।

भावार्थ—जैसी ज्ञान की बातें कही जाती हैं, वैसा ही आचरण करना चाहिए, और हृदय से राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। अपनी रहनी से रत्तीभर विचलित न हो। इस प्रकार से अपने आप का सुधार करना चाहिए॥ 257॥

व्याख्या—"जैसी कहै करै जो तैसी" बहुत बड़ी बात है। पुस्तकें पढ़कर, प्रवचन सुनकर तथा संसार की घटनाओं को देखकर मनुष्य को अनेक प्रकार की जानकारियां हो जाती हैं। उन जानकारियों को वह दूसरों के सामने सहज ही कह सकता है। परन्तु उनके अनुसार अपने आचरण बनाने में त्याग और श्रम करने पड़ते हैं। थोड़ी भी जानकारी बहुत बड़ा काम देती है यदि उसका आचरण जीवन में हो रहा है, और बहुत बड़ी जानकारी किस काम की जिसका आचरण न हो। आदमी जानता कम नहीं है, किन्तु करता कम है। किसी साधारण-से-साधारण आदमी से कह दो कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि पर अपने विचार कहे, तो वह अपनी बुद्धि तथा वाक्यशक्ति के अनुसार यही कहेगा कि ये सब नरक के द्वार हैं। परन्तु वह उन्हें नरक समझकर, उनका त्याग नहीं

कर पाता, बल्कि उन्हें बड़े प्यार से अपनाता है। इसका अर्थ यह है कि आदमी गलत को गलत जान तो सहज जाता है और उसे गलत कहता भी है, परन्तु उसे त्याग नहीं पाता, तो उसके वे जानना और कहना सार्थक नहीं होते। आदमी के जीवन में तब ऊंचाई आती है जब वह जिसे गलत समझता है उसको त्यागने के लिए कमर कस लेता है और जिसे सही समझता है उसे ग्रहण करने के लिए कमर कस लेता है।

जितना कहने में आता है उतना तत्काल करने में तो किसी से भी नहीं आता, परन्तु जिसे करने की चेष्टा है वह धीरे-धीरे अपनी कथनी को करनी में उतारता जाता है। कथनी को करनी में उतारना असंभव तो है ही नहीं, कठिन भी इसलिए लगता है कि मनुष्य के मन में विषयासक्ति है। परन्तु जिसे कल्याण एवं जीवन में परम शांति की इच्छा है वह आचरण में जी-जान से डट जाता है। जिसे रहनी धारण करने की तीव्र इच्छा है, उसके लिए यह सरल काम है। कोई भी संभव काम कठिन इसलिए लगता है कि हम उसके लिए तीव्र इच्छुक नहीं हैं। जब हमें जिस काम के करने के लिए तीव्र इच्छा होती है तब उसको करना सरल हो जाता है। इच्छाशक्ति मनुष्य का महान बल है। अमेरिका का इंजीनियर पेरी अपनी नब्बे वर्ष की उम्र के बाद अपनी प्रबल इच्छाशक्ति से उत्तरी ध्रुव क्षेत्र पर पहुंचा था जहां हजारों किलोमीटर चारों तरफ ठंडी के कारण आकाश में पक्षी भी नहीं उड़ते। वह हजारों किलोमीटर बर्फ में चलकर तथा हजारों फीट ऊंची बर्फ की चोटियों पर कठिनता से चढ़-उतरकर उस निर्जन स्थल में पहुंचा था और जब उसने उत्तरी ध्रुव-क्षेत्र पर पहुंचकर अमेरिका की ध्वजा गाड़ दी तो वह हर्ष से भर गया था। आदमी चन्द्रलोक-यात्रा-जैसे कठिनतम काम को सरल कर लेता है, तो अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में क्यों नहीं कर सकता!

संसार में अनेक महापुरुष हुए हैं और वर्तमान में भी हैं जिन्होंने कथनी के अनुसार अपनी करनी तथा रहनी बनायी है। जब एक आदमी ऐसा कर सकता है तब अन्य जो दिलोजान से चाहेगा वह भी कर लेगा। वैसे संसार के सभी मनुष्य कुछ-न-कुछ पवित्र रहनी में चलते हैं। संसार में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो प्राप्त जानकारी का एकदम आदर न करता हो। सभी मनुष्य समझ के अनुसार कुछ-न-कुछ सदाचार के मार्ग में चलते हैं। जो आदमी रहनी में जितना लाभ समझता जाता है वह उतना ही उस दिशा में चलता है।

जैसी कथनी वैसी करनी की परिभाषा है "राग द्वेष निरुवारे।" राग कहते हैं आसक्ति को और द्वेष कहते हैं किसी के लिए जलन एवं ईर्ष्या रखने को। निरुवारने का अर्थ है छुड़ाना, हटाना या त्याग करना। राग-द्वेष ही संसार-बन्धन है। बिना राग के द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष में सारे बंधन आ जाते हैं। राग

के भीतर ही आसक्ति, कामना, लालसा, मोह, ममता, काम, लोभ आदि हैं और द्वेष के अन्दर ईर्ष्या, वैर, जलन, क्रोध, हिंसा आदि हैं। हमें भोगों की जितनी लालसा होती है, उतने ही हमारे मन में राग-द्वेष होते हैं। भोगों का एक स्थूल अर्थ काम-भोग ही नहीं है, किन्तु सम्मान, प्रतिष्ठा, पूज्यता की लालसा भी भोग है। कोई अपनी ओर से हमारी प्रतिष्ठा, पूजा या सम्मान करता है और हम उस ओर से अनासक्त हैं तो हमारे मन में कोई बन्धन नहीं है। परन्तु यदि हम सम्मान-प्रतिष्ठादि चाहते हैं तो हम भोगासक्त हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच में केवल प्रतिष्ठा की ही बात थी, परन्तु उनमें साधारण राग-द्वेष ही नहीं थे, किन्तु एक दूसरे के पुत्रों तक की उन्होंने हत्या कर दी थी। दावाग्नि की तरह सारा संसार राग-द्वेष में जल रहा है। संसारी तो जल ही रहे हैं, वेषधारी भी उससे बचे नहीं हैं। इससे तो कोई विवेकी ही बचते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यदि तुम कहते हो कि हम जैसा कहते हैं वैसा करते हैं तो इसकी पहचान है राग-द्वेष का त्याग। तुम राग-द्वेष से निवृत्त हो, इसके लिए दूसरे के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है। इसकी परख तो तुम्हें अपने भीतर ही करना है। किसी को भी पूरा-का-पूरा दूसरा कोई नहीं जान सकता। 'मैं' को पूर्णतया 'मैं' ही जान सकता हूं। जब हमारा मन कभी विवशता का अनुभव नहीं करता तब हमें समझना चाहिए कि वह राग-द्वेष से रहित है। हमें लोगों में इसका प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए कि हम राग-द्वेष से रहित हैं। हमें तो राग-द्वेष से रहित होना चाहिए। संसार में ऐसा कोई सन्त नहीं हुआ है जिसे संसार के सभी लोग राग-द्वेष से रहित समझ लिये हों। बड़े-से-बड़े संत को बुरा कहने वाले संसार में रहे हैं, फिर हम किस खेत की मूली हैं जो हमें कोई बुरा न कहे! सच्चे साधक एवं संत पुरुष अपनी निन्दा अमृत-तुल्य समझते हैं, बल्कि अपनी प्रशंसा ही विषतुल्य समझते हैं। हमें यह बिलकुल सोचना ही नहीं है कि हमें लोग क्या कहते हैं, बल्कि हमें यह सोचना है कि हम क्या हैं! राग-द्वेष से पूर्ण निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। यही जीवन का सर्वोच्च शिखर है।

"तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" अर्थात उक्त स्थिति में रत्तीभर न घटे और न बढ़े। इसका अर्थ लाक्षणिक है और वह है एकरस एवं अचल रहना। हमारी राग-द्वेष विहीनता की स्थिति अविचल होनी चाहिए। किसी साधना में निरन्तरता एवं अविचल निष्ठा उस दिशा की सफलता की कुंजी है। राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त हो जाना साधना नहीं, सिद्धि है। और सिद्धि की कसौटी यही है "तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं" एकरस, अबोल, अडोल "मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।" कृतार्थ अवस्था वही है जिसमें घट-बढ़ न हो, उथल-पुथल न हो, जीवन में कोई सिकवा-शिकायत न रह जाये। मुक्त पुरुष के मन में किसी के लिए शिकायत नहीं रह जाती। चाहे उसके प्रति कोई द्वेष करने वाला ही क्यों न हो,

उसके लिए भी बोधवान के मन में कोई शिकायत नहीं रहती। औटते हुए तेल में जब तक पानी रहता है तब तक उसमें कल-कल की आवाज होती है। पानी के सर्वथा जल जाने पर कटाह का तेल शांत हो जाता है। वैसे राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त साधक शांत हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार अपना सुधार करना चाहिए। यही जीवनधारण करने का फल है।

सभी आसक्ति छोड़ने पर बोध मिलता है

द्वारे तेरे राम जी, मिलहु कबीरा मोहि।
तैं तो सब में मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि॥ 258॥

शब्दार्थ—राम जी=घट-घट में रमने वाले चेतन जीव। कबीरा=काया में वीर जीव, चेतन मनुष्य।

भावार्थ—मानव तनधारी हे राम! हे कबीर! सद्गुरु तुम्हारे द्वार पर आकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिलो। यदि तुम कहो कि सद्गुरु ही आकर तुमसे मिलें तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि तू तो सब में मिल रहा है, इसलिए मैं तुमसे नहीं मिल सकता। मुझसे मिलना चाहे तो सबको छोड़कर मेरे पास आ जा!॥ 258॥

व्याख्या—जिज्ञासुओं को समझाने के लिए कबीर देव के विचित्र-विचित्र ढंग हैं। कबीर साहेब ने बीजक में जीव के लिए राम शब्द का प्रयोग तो किया ही है, कबीर शब्द का प्रयोग भी किया है। उपर्युक्त अर्थ में 'राम जी' तथा 'कबीरा' दोनों ही जीव के अर्थ में लिये गये हैं। सद्गुरु जीव के मोक्षद्वार मानव-जीवन पर आकर मानो उसे पुकारते हैं कि हे राम, हे कबीर, तुम मुझसे मिलो। मनुष्य का कल्याण तभी है जब वह सद्गुरु से आकर मिले। "जहां धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।"[1] हे लोगो! तुम विनम्रतापूर्वक उठकर वहां जाकर मिलो जहां अत्यन्त धीर एवं गम्भीर पुरुष हैं। "सन्त मिलन को जाइये, तजि माया अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे धरे, कोटिन यज्ञ समान॥" यह तो जिज्ञासु एवं मुमुक्षु का ही कर्तव्य है कि वह विनम्रतापूर्वक गुरु से मिले।

यदि कहो गुरु ही जिज्ञासु एवं मुमुक्षु से मिलें, तो इसमें भी कोई बुराई नहीं है। गुरु तो पुकार ही रहे हैं कि हे मनुष्यो! तुम आकर हमसे मिलो। परन्तु निरानिर गुरु पुकारकर क्या करेंगे जब तक जिज्ञासु की अपनी जिज्ञासा नहीं जगती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि मैंने तुम्हें थोड़ा संकेत कर दिया। तुम्हारे दरवाजे पर आकर तुम्हें पुकार दिया। अब मैं तुम्हारे पीछे कितना पड़ूं! आगे

16. बीजक, शब्द 29।

तुम्हारा काम है कि तुम खुद चेष्टा वाले होकर आकर मुझसे मिलो। "जो जिव झाँकि न ऊपजै, तो कहा पुकार कबीर।"[1] अर्थात यदि जीव के मन में स्वयं प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेष्टा गुरु पुकारकर क्या करेगा!

सद्गुरु कहते हैं कि केवल मेरे पुकारने से, केवल तुम्हारे पीछे मेरे पड़े रहने से तुम्हारा कल्याण होने वाला भी नहीं है। क्योंकि "तैं तो सब में मिलि रहा" अर्थात खानी-वाणी का जितना पसारा है तू सब में आसक्त है। तू मोटी माया तथा झीनी माया—दोनों में लीन है। तू संसार के प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति तथा मन की असंख्य परिकल्पनाओं में डूबा है। तूने अपने आप को सब में आसक्त करके खो दिया है। विषयी जीवों का चित्त तो संसार के विस्तार में आसक्त ही है, कितने आध्यात्मिक महापुरुष भी जड़-चेतन सब कुछ अपना ही स्वरूप मानकर सब में मिल रहे हैं। जिसने जड़-प्रपंच को भी अपना स्वरूप मान लिया है उसमें विवेक जगा पाना बड़ा कठिन है। जो अपने आप को विस्मरण करके सब में आसक्त है उसके पीछे गुरु पड़े भी तो क्या फल होगा! अतएव गुरु ने थोड़ा संकेत कर दिया। अब जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह सबको छोड़कर गुरु से मिले। सबकी ममता छोड़कर केवल गुरु के उपदेशों पर ध्यान दिये बिना जीव का कल्याण नहीं है। सद्गुरु कहते हैं—"मैं ना मिलूंगा तोहि।" यदि तुम मेरी बातों पर ध्यान नहीं देते हो तो मैं तुमको नहीं मिलूंगा। यहां सद्गुरु जीवों की कल्याण-कामना से उसे पुकारते हैं और उससे निस्पृह भी हैं। इस प्रकार इस साखी में सद्गुरु की जीवों पर करुणा तथा संसार से निस्पृहता सुन्दर ढंग से झलकती हैं।

उक्त साखी को हम इस ढंग से भी समझ सकते हैं—कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगो! तुम राम को कहां खोजते हो! राम जी तो मानो तुम्हारे दरवाजे पर खड़ा होकर तुम्हें पुकारते हैं कि तुम आकर मुझसे मिल लो। परन्तु हे मोहासक्त! तू तो संसार के प्राणी-पदार्थों में उलझा हुआ सब में मिल रहा है, सब में आसक्त हो रहा है। अतः राम जी कहते हैं कि हे जीव! तू जब तक सब में आसक्त है मैं तुझसे नहीं मिलूंगा। तू जब सबकी आसक्ति छोड़ दे तो "मैं तो तेरे पास में।"

उक्त अर्थ लाक्षणिक है। राम का जीव से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। जीव ही में रामत्व है, शिवत्व है, गुरुत्व है, कल्याणत्व है। जब जीव सब में मिलना छोड़ देगा तब मानो वह राम को पा गया, गुरु को पा गया। सबकी आसक्ति छोड़ देने पर जीव असंग हो जाता है। बस वही राम है, गुरु है, मुक्त है। इस प्रकार जीव को राम को खोजने नहीं जाना है। उससे अलग कहीं कोई राम है ही नहीं। यदि जीव से अलग अन्य जीव हैं तो वे सजाति हैं। किसी जीव का सत्य एवं परमार्थ उससे अलग नहीं होता। अलग का सत्य कभी मेरा स्थायी

अपना नहीं बन सकता। जीव का प्राप्तव्य उसका निजस्वरूप ही है। वही उसका राम है। अतएव राम को खोजना नहीं है। राम तो दरवाजे पर खड़ा है। अर्थात वह तो मेरा निजस्वरूप चेतन ही है। सब में मिलना छोड़कर तथा सबके राग-द्वेष से निवृत्त होकर अपने आप में लौट आना है; बस, मानो राम मिल गया।

भ्रम से जागो

भरम बढ़ा तिहुँलोक में, भरम मण्डा सब ठाँव।
कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव॥ 259॥

शब्दार्थ—भरम=भ्रम, मिथ्याज्ञान, भटकाव। तिहुँलोक=अर्ध, उर्ध्व, मध्य; सर्वत्र, त्रिगुणी जीव। मण्डा=सजाया हुआ, मड़ा, रखा हुआ।

भावार्थ—मिथ्याज्ञान सर्वत्र फैला हुआ है। मानो सब जगह भ्रांति ही सजाकर रखी गयी है। कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि हे संसार के लोगो! तुम भ्रम की नगरी में ही बसे हुए हो॥ 259॥

व्याख्या—जड़ और चेतन तथा उनके शाश्वत गुण-धर्मों की परख न होने से ज्ञान के क्षेत्र में सर्वत्र भ्रांति फैली है। भूत, प्रेत, देवी, देवता तथा अनेक अदृश्य शक्तियों की कल्पना कर आदमी भ्रांतियों में डूबा है। संसार में जितनी घटनाएं घटती हैं सब चेतन प्राणियों के कर्म या जड़प्रकृति की क्रिया का फल है। उसमें इन दोनों को छोड़कर किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना ही सारे भ्रमों का सृजन करती है। इसीलिए कुछ चालाक लोग पूजा के बल पर जनता को सारे दुखों से मुक्त करने का झांसा देकर तथा उनके मन में भ्रम पैदाकर उन्हें मानसिक रूप से दुर्बल बनाते हैं और उनका धन ऐंठते हैं। प्रत्यक्ष प्राणियों के अलावा सारे देवी-देवता झूठे हैं, भूत-प्रेत झूठे हैं, प्रार्थना-पूजा करने से कोई देवता एवं ईश्वर कुछ दे देगा, या पाप काट देगा, दुख दूर कर देगा ये सब झूठी धारणाएं हैं, परन्तु इन सब भ्रांतियों में अशिक्षित से शिक्षित तक आंकठ डूबे हैं। इसलिए उनके ज्ञान और आचरण गड्डमड्ड हैं। इसी का फल है कि मनुष्य अपने श्रम एवं कर्म पर न विश्वास कर मंत्र-तंत्र एवं पूजा-पाठ के बल पर सारी ऋद्धि-सिद्धियां पाना चाहता है। जिधर निकलिए उधर मिट्टी एवं पत्थर की पिंडी देवी-देवता के रूप में विद्यमान हैं। आदमी पत्थर, पेड़, नदी, पानी, पूजते-पूजते जड़-बुद्धि का हो गया है। यदि वह इनसे बचता है तो आकाश में हाथ उठाकर किसी सर्वसमर्थ की कल्पना कर उससे सब कुछ पाना चाहता है। पानी बरसने न बरसने में कारण जड़-प्रकृति की योग्यता तथा अयोग्यता है। भूचाल, ज्वालामुखी, छह ऋतुओं का परिवर्तन, वन, पर्वत, झरने, नदी, समुद्र, असंख्य तारे, ग्रह-उपग्रह आदि जड़-प्रकृति के खेल हैं जो स्वाभाविक हैं। परन्तु मनुष्य

को महाभ्रम है कि इसे कोई देवता या ईश्वर चला रहा है। मनुष्य निर्भ्रांत होने के लिए प्रकृति का उदारतापूर्वक अध्ययन ही नहीं करना चाहता। वह प्रकृति के स्वतःसिद्ध तथा अनादिनिहित गुण-धर्मों पर ध्यान न देकर मिथ्या दैवी कल्पना में डूबा रहता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तीनों लोकों में भ्रम बढ़ा हुआ है। तीनों लोक का लाक्षणिक अर्थ है पूरा संसार। सतप्रधान, रजप्रधान एवं तमप्रधान मनुष्यों के समूह को भी तीनों लोक कहा जा सकता है। इन त्रिगुणी मनुष्यों में भ्रांतियां फैली हैं। "भरम मण्डा सब ठाँव।" मण्डा का अर्थ सजाया हुआ। मानो सब तरफ एवं सब जगह भ्रम ही सजा करके रखा है। लोग झूठी-झूठी बातों को ऐसा सजाकर रखते हैं कि मानो उन्हें इनसे ऋद्धि-सिद्धि मिल जायेगी। चालाक लोग झूठी बातों के बल पर भोले लोगों को भटका रहे हैं और अपना स्वार्थ साध रहे हैं।

ऊपर परोक्ष कल्पनाओं के भ्रम के विषय में निवेदन किया गया। प्रत्यक्ष चीजों में भी बहुत बड़ा-बड़ा भ्रम है। संसार के प्राणी-पदार्थों में अपना-पराया मानने का भ्रम; जड़, क्षणभंगुर, दुखपूर्ण एवं मलिन भोगों में रमणीय और स्थायी सुख का भ्रम; शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेने का भ्रम, इसी प्रकार जीव अनेक भ्रमों में डूबा है। देह, गेह, प्राणी, पदार्थों को अपना मानने का भ्रम महा दुखदायी है। सभी दुखों एवं बंधनों का मूल है शरीर को अपना स्वरूप मानना। यदि यह भ्रम टूट जाये तो अन्य भ्रम के टूटने में बड़ी सरलता हो।

आदमी भ्रमवश गलत तरीके से धन कमाकर मकान, जमीन तथा ऐश्वर्य का संग्रह करता है; परन्तु उसके गलत आचरण के कारण उसका मन मलिन बना रहता है। उसे जीवनभर शांति नहीं मिलती और एक दिन सब कुछ अचानक छोड़कर यहां से सदा के लिए चला जाता है। आदमी जीवनभर नये-नये भ्रम पालता रहता है। मनुष्य भ्रमवश ही कुछ लोगों में ममता करता है और भ्रमवश ही कुछ लोगों से वैर करता है। मनुष्य मानो भ्रम के नशे में सदैव डूबा रहता है। जीव का संसार में कुछ भी अपना नहीं है, परन्तु वह भ्रमवश संसार के प्राणी-पदार्थों में ममता बनाकर दुखी रहता है।

"कहहिं कबीर पुकारि के, तुम बसेउ भरम के गाँव।" कबीर साहेब संसार में आये और सबको भ्रम में डूबा देखकर चिल्ला उठे कि हे मानव! तू तो भ्रम के गांव में बसा हुआ है। इस संसार-पागलखाने में आकर और लोगों के भ्रमजनित पागलपन की बातें देखकर कबीर को बेहद पीड़ा हुई। वे किसी की परवाह किये बिना पुकारकर बोल पड़े "तुम बसेउ भरम के गाँव।" कबीर साहेब पूरे मानव-समाज को भ्रमरहित कल्याणरूप देखना चाहते हैं।

आज ही स्वरूपस्थिति का लाभ लो

रतन अड़ाइनि रेत में, कंकर चुनि चुनि खाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई पिण्डे होहु कि जाय॥ 260॥

शब्दार्थ—रतन=रत्न, मोती। अड़ाइनि=अटका दिया, डाल दिया। रेत=धूल, वीर्य, विषय-वासना। ई पिण्डे=यह मानव-शरीर।

भावार्थ—मानो एक मूर्ख हंस मोती को धूल में डालकर कंकर चुन-चुनकर खाने लगा, वैसे मूढ़ मानव अपने स्वरूप-विवेक को विषयों में खोकर मलिन भोगों को भोगने में डूब गया। कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि इस शरीर में रहते-रहते अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, अन्यथा धोखे में पड़कर भटक जाओगे॥ 260॥

व्याख्या—लोक कहावत के अनुसार हंस मोती चुगता है। परन्तु कोई हंस अपनी चोंच में लिये हुए मोती को भी धूल में डाल दे और कंकर चुन-चुनकर खाने लगे तो यह उसकी मूर्खता है। वैसे मनुष्य मूलतः विवेकसम्पन्न होकर भी अपने स्वरूप-विवेक को न जगाये और निरन्तर विषय-भोगों में लगा रहे तो यह उसका अज्ञान है। मनुष्य स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति का अधिकारी है, परन्तु वह अपने दिव्य चेतनस्वरूप को भूलकर मलिन विषयों की गली में निरन्तर घूम रहा है। "रतन अड़ाइनि रेत में, कंकर चुनि-चुनि खाय।" यह कितना मार्मिक वचन है। सद्गुरु अनुप्रास अलंकार में कहते हैं—"रतन अड़ाइनि रेत में" जीव ने रत्न को रेत में डाल दिया। रत्न स्वरूपज्ञान है तथा रेत विषय-भोग है। स्वरूपज्ञान में रमना चाहिए तो अभागा मलिन विषयों में रमने लगा। मोती चुगना था तो कंकर चुगने लगा। अर्थात दया, क्षमा, शील, सत्यादि सद्गुण ग्रहण करना चाहिए था तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेषादि में जलने लगा।

सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु कि जाय" इसी पिंड में, इसी शरीर में स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लो, अन्यथा भ्रम में ही चले जाओगे। मनुष्य इसी जीवन में कल्याण करने का अधिकारी है। यह बात तो दुर्बलों के लिए है कि तुम सन्मार्ग में चलते रहो, आज नहीं तो कल, इस जीवन में नहीं तो अगले जन्म-जन्मांतरों में तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। "भक्ति बीज पलटे नहीं, जो युग जाय अनंत। ऊंच नीच घर अवतरे, होय संत का संत।" परन्तु श्रम करने वालों के लिए अगले जन्मों की आशा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ही नहीं है जो वर्तमान में न पूरा हो। हम वर्तमान में ही अपने जीवन के परम एवं चरम उद्देश्य परम शांति को प्राप्त कर सकते हैं। सारी भ्रांतियों एवं विषय-वासनाओं को छोड़ देने से ही परम शांति

की प्राप्ति होती है। छोड़ना सरल है। हम किसी वस्तु को ग्रहण करने में परतंत्र हो सकते हैं परन्तु छोड़ने में परतंत्र नहीं हैं। मनुष्य सोचता है कि हमें इतनी जमीन चाहिए, इतने रुपये चाहिए, इतने मकान चाहिए, इतनी प्रतिष्ठा चाहिए, परन्तु जितना वह सोचता है, हो सकता है कि उसे उतना न मिले, परन्तु यदि कोई सोचता है कि हमें कुछ नहीं चाहिए तो उसे क्या परतंत्रता है! विजाति पदार्थों की चाहना होती है और उन्हीं को छोड़ना है। जो मेरी आत्मा से अलग है उसे छोड़ने में मुझे क्या परतंत्रता है! अतएव मोक्ष का मार्ग बड़ा सरल है। उसमें केवल विजाति प्राणी-पदार्थों की अहंता-ममता छोड़ना है। जिन्हें अन्त में छोड़ना ही है उनका राग पहले ही छोड़ देने में क्या कठिनता है। जैसे मरे हुए को मारना सरल है, वैसे संसार का त्याग करना सरल है, क्योंकि सब कुछ छूटने वाला होने से मानो सब छुटा ही है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "ई पिण्डे होहु" इसी शरीर में रहते-रहते स्वरूपज्ञान में स्थित हो जाओ। स्वरूपस्थिति करने में आज तुम्हें क्या परेशानी है! संसार में तुम्हें क्या करना है। जिसको लेकर तुम स्वरूपस्थिति का काम अभी नहीं कर रहे हो! जो स्वरूपस्थिति का काम नहीं करता है वह धोखे में है।

संसार का काम कभी पूरा नहीं होता। उन्हें अनादिकाल से करते आ रहे हो, परन्तु आज तक वे पूरे नहीं हुए, और न इन्द्रियों के भोगों में कभी मन की तृप्ति हुई। संसार की सारी उन्नति अंत में स्वप्नवत छूट जाने वाली तथा समाप्त हो जाने वाली है। अतएव नित्य तृप्तिकर एवं कभी न छूटने वाली स्वरूपस्थिति ही तुम्हारा परम उद्देश्य है। उसे इसी जीवन में प्राप्त करो, अभी प्राप्त करो। अन्यथा केवल घाटा-ही-घाटा है।

परखकर ही कोई वाणी मानो

जेते पत्र बनस्पती, औ गंगा की रेन।
पण्डित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन॥ 261॥

शब्दार्थ—रेन=रेणु, बालु-कण।

भावार्थ—संसार में वनस्पतियों के जितने पत्ते हैं और नदियों के जितने बालु-कण हैं उतनी वाणियां जीवों ने अपने मुख से कह डाली हैं, एक बेचारा पंडित कितनी वाणी कहेगा!॥ 261॥

व्याख्या—जो महाशय कबीर साहेब को अतिमानवीय शक्ति मानते हैं इस साखी के 'कबीर' शब्द का कबीर साहेब में अर्थ लगाकर यह सिद्ध करते हैं कि कबीर साहेब ने उतनी वाणियां कही हैं जितने संसार में वनस्पतियों के पत्ते हैं तथा नदियों के बालु-कण हैं। यह सिद्ध करने के बाद वे कबीर के नाम पर चलने वाली सारी वाणियों को कबीर साहेब से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं, कबीर

और धर्मदास के संवाद के नाम पर जो कबीरपंथी महंतों ने हजारों पृष्ठ लिखे हैं उन्हें भी वे कबीर साहेब के मुख से निकली वाणी सिद्ध करते हैं, जिनमें काल्पनिक पौराणिक असत्य कथाओं की भरमार है।

वस्तुतः कबीर साहेब की मुख्य वाणी बीजक है और उनकी कुछ वाणियां उनमें भी हैं जो साखीग्रंथ तथा कबीरग्रंथावली के नाम से प्रसिद्ध हैं। या सिक्खों के गुरुग्रन्थ में संकलित हैं। परन्तु उन सब में कबीर साहेब के नाम पर मिलावट भी है जो बीजक सिद्धान्त से अलग है। कबीर साहेब ने इस साखी में "कबीर कही मुख बैन" कहकर अपने आप को नहीं प्रस्तुत किया है, किन्तु पूरे मानव-जगत को कहा है। यहां अभिधा अर्थ नहीं, किन्तु लक्षणा अर्थ समझना चाहिए।

सद्गुरु इस साखी में कहना चाहते हैं कि केवल बेचारे पंडित कितने वचन कहेंगे! संसार के मनुष्यों ने असंख्य वाणियां कह डाली हैं और उन वाणियों में ही पूरा मानव-समाज डूबा है। उनमें सार वाणियां भी हैं और असार वाणियां भी। इसलिए उनकी परख के लिए बीजक-वाणी की आवश्यकता है। बीजक-वाणी का अर्थ है कसौटी-वाणी। किसी भी वाणी को बिना उसकी परख किये नहीं स्वीकारना चाहिए। वाणी वे ही माननीय हैं जिनके भाव विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य-व्यवस्था तथा प्रकृति के गुण-धर्मों के अनुकूल हों। जो घटनाएं प्रकृति या जड़-चेतन के गुण-धर्मों में आज प्रत्यक्ष न घटती हों यदि उन-जैसी घटनाओं का कहीं चित्रण हो तो वे मान्य नहीं हो सकतीं। जैसे किसी संत या कल्पित भगवान ने किसी मुरदे को जिला दिया, अपनी आज्ञा से जड़ पदार्थों को चला दिया, या केवल आज्ञा देकर उन्हें रोक दिया आदि। चमत्कार-जैसी लगने वाली सारी बातें या तो चालाकों द्वारा कही गयी हैं या भ्रांतों द्वारा। चालाक भी अन्ततः भ्रांत ही हैं। अन्तर यह है कि वे जानते हैं कि जो हम कह या लिख रहे हैं वे सर्वथा असत्य हैं। परन्तु वे इसमें अपना स्वार्थ समझकर ऐसा लिखते या कहते हैं। किन्तु उसमें उनको अपना स्वार्थ मानना उनका भ्रम ही है। ऐसा स्वार्थ जो छलपूर्ण एवं धूर्ततापूर्ण हो अंततः कर्ता को तथा अन्य को गड्ढे में ही ले जाता है।

अतएव चाहे व्यवहार के नाम पर चलने वाली वाणियां हों और चाहे धर्म के नाम पर, "बाबा वाक्य प्रमाणम्" मानने की आवश्यकता नहीं है। चाहे पंडित की बात हो चाहे ऋषि-मुनि की, चाहे सन्त-महात्मा की बात हो और चाहे तथाकथित भगवान या प्रभु की और चाहे आम जनता की, सब पर कसौटी करना परम कर्तव्य है। जैसे सत्य का बोध कराने वाली वाणियां कल्याणकारी हैं वैसे भ्रम पैदा करने वाली वाणियां पतनकारी हैं। अतएव केवल वाणी के मोह में पड़ आंख मूंदकर किसी की बातों को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए पारखी सन्त सदैव वाणीजाल से सावधान रहने की चेतावनी देते हैं। जो

लोग भाव नहीं समझते हैं वे कहते हैं कि पारखी संत वाणी को जाल कहकर उसका खण्डन करते हैं तो स्वयं वाणी क्यों लिखते-बोलते हैं! निवेदन है कि ऐसा कहने वाले पारखी सन्तों के भाव को समझने का प्रयास करें। वे स्वयं सोचें, क्या वे संसार में प्रचलित सभी वाणियों को मान लेते हैं! अपनी समझ के अनुसार सभी मनुष्य सारासार विचार करते हैं। बस, उन्हें जहां पक्षपात हो जाता है, वहीं बिना विचार किये सब कुछ आंखें मूंदकर मान लेते हैं। पारखी संत कहते हैं कि कहीं की भी बात बिना विचार किये मत मानो।

बगला भगत से सावधान

हौं जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा, छुवै न देतेउँ अंग॥ 262॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। बगु=बगला पक्षी। बावरा=पागल।

भावार्थ—हे मनुष्य! मैं जानता हूं कि तुम हंस कुल के हो! तुम मूलतः विवेकसम्पन्न प्राणी हो। इसी से मैंने तुम्हें अपने साथ में लिया है और तुम्हें सन्मार्ग बताने की चेष्टा की है। यदि मैं तुम्हें बगला के समान स्वभावतः गंदा और स्वार्थ में पागल समझता तो पास भी न बैठने देता॥ 262॥

व्याख्या—सद्गुरु मनुष्य की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य मूलतः हंस है। हंस तो एक पक्षी है जिसमें विवेक होना सम्भव ही नहीं है। उसके लिए केवल एक रूढ़ कहावत है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करता है। मनुष्य अहंसः का विवेक करने वाला है इसलिए वह हंस है। मैं वह हूं जिसे मैं चाहता हूं। मैं पूर्ण तृप्ति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शांति चाहता हूं और मैं वही हूं जो मूलतः पूर्णतृप्त है। सभी मानव का मूल स्वरूप विवेकसंपन्न है। कौन कितना प्रयत्न करके अपने विवेक को विकसित कर लेता है यह हर व्यक्ति के अपने परिश्रम पर निर्भर है। यह निश्चित है कि मानव मात्र मूलतः विवेकशक्तिसंपन्न है। सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! मैं समझता हूं कि तुम हंस कुल के हो अर्थात तुम विवेचन शक्ति सम्पन्न श्रेष्ठतम प्राणी हो। इसीलिए मैंने तुम्हें सन्मार्ग में लाने एवं तुम्हारे विवेक को जगाने का प्रयास किया है। सभी सन्त, ऋषि-मुनि, औलिया इसीलिए तो मनुष्यों को शिक्षा देते हैं। पशु-पक्षी आदि मानवेतर प्राणियों को कौन शिक्षा देता है! यदि संतजन मनुष्य को पागल बगला समझते तो उसे उपदेश क्यों देते! बगला कब समझने लगा विवेक की बातें! मानवेतर प्राणी कब समझ सकते हैं सत्यासत्य के भेद! अतएव संतजन मानव मात्र को सत्यज्ञान का अधिकारी समझते हैं और उसी को सत्योपदेश देने का प्रयत्न करते हैं।

इस साखी का एक खुला अर्थ उलाहनापूर्ण लगता है। मानो कबीर साहेब ने

किसी जिज्ञासु या मुमुक्षु दिखते हुए व्यक्ति को अपनी शरण दी हो, परन्तु पीछे से उसकी कलई खुलने पर लगा हो कि यह बनावटी जिज्ञासु या मुमुक्षु है, असली नहीं है। तब उन्होंने कहा हो—

मैंने तो समझा था कि तुम समझदार एवं विवेकवान हो तब तुम्हें अपने साथ में लिया था। यदि मैं पहले समझ जाता कि तुम बगले के समान ऊपर उजले और भीतर काले हो और तुच्छ स्वार्थ में पागल हो, तो तुम्हें अपने पास न बैठने देता।

प्रायः हर महापुरुष के जीवन में अनुगामी बनकर कुछ ऐसे लोग आ जाते हैं जो दिल के सच्चे नहीं होते। कुछ दिनों में उनके व्यवहार से उनकी पोलपट्टी खुल जाती है। हो सकता है कि कबीर साहेब के पास ऐसा कोई आया हो जो देखने में हंस एवं व्यवहार में बगला रहा हो और अन्ततः उन्होंने उसे फटकारा हो। हंस और बगला दोनों सफेद होते हैं; परन्तु एक तो नीर-क्षीर विवेक करता है और दूसरा जलाशय में मछलियों तथा अन्य कीड़ों को खाने के लिए ध्यान लगाकर उन्हें कपटपूर्वक चाल से पकड़ता है। आप किसी जलाशय के निकट देख सकते हैं कि बगले आधी बन्द आंखों से मानो ध्यान लगाये हुए बैठे हैं और कभी-कभी केवल एक पैर के ही आधार पर ध्यान करने की मुद्रा में बैठ जाते हैं। उसमें उनका उद्देश्य होता है किसी सामने आये हुए मछली आदि जन्तु पर शीघ्रता से कूदकर उन्हें पकड़ खाना। कहां हंस दूध में मिले हुए पानी को भी छोड़कर केवल दूध लेने वाला और कहां बगला ध्यान-मुद्रा बनाकर जीव-वध करके उसे खाने वाला। ऊपर से दोनों सफेद और शांत दिखते हुए भी दोनों के आचरण में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। जो लोग ऊपर से हंस का स्वांग रचकर भीतर से बगला का चरित्र रखते हैं वे अत्यन्त निंदनीय हैं। विवेकियों ने बगला से अच्छा कौआ को माना है। क्योंकि कौआ ईमानदार दुष्ट होता है। वह बाहर काला और भीतर भी काला है। वह जैसे आकर ऊपर मकान या पेड़ आदि पर बैठता है तुरन्त कड़ी आवाज में बोलता है और प्रायः टट्टी भी कर देता है। अतः कौआ खुला दुष्ट है। उससे किसी को ठगाने का प्रायः चांस नहीं पड़ता। परन्तु बगला ऊपर सफेद और भीतर काला होता है। वह बनावटी साधुत्व दिखाकर दूसरे जीव पर चोट करने वाला होता है। इसीलिए पाखंडियों के विशेषण में 'बगला भगत' कहावत प्रसिद्ध है। सभी के जीवन में कभी-कभी ऐसे लोग मिलते हैं जो 'मन मैला तन उजरौ" होते हैं। ऐसे लोगों से सदैव सावधान रहना चाहिए।

गुणवान ही गुणों का आदर करता है

गुणिया तो गुण ही कहै, निर्गुणिया गुणहि घिनाय।

बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै क्या खाय॥ 263॥

शब्दार्थ—गुणिया=सद्गुणी व्यक्ति। निर्गुणिया=गुणहीन व्यक्ति। जायफर=जायफल, एक सुगंधित फल जिसका व्यवहार औषध और मसाले में होता है।

भावार्थ—गुणवान व्यक्ति सद्गुणों का ही वर्णन करता है किन्तु गुणहीन व्यक्ति सद्गुणों से घृणा करता है। बैल के सामने यदि सुगंधित जायफल रख दिया जाये तो वह उसे क्या समझेगा और क्या खायेगा!॥ 263॥

व्याख्या—गुणवान व्यक्ति दूसरे के गुणों का आदर करता है। वह न दूसरे के दुर्गुणों को देखता है और न उनकी चर्चा करता है। वह दूसरे के सद्गुणों को ही देखता तथा उन्हीं की चर्चा करता है। "गुणिया तो गुण ही कहै" यह बहुत बड़ी बात है। इस वाक्य से यही माना जायेगा कि वही सद्गुणी व्यक्ति है जो दूसरे के सद्गुणों को देखता है। जिसे अपना कल्याण प्रिय है वह दूसरे की बुराइयों को देखने के चक्कर में नहीं पड़ता, क्योंकि किसी की बुराई देखने तथा कहने से अपने मन तथा वाणी में बुराइयों को स्थान मिलता है। यह मानव मात्र के लिए अहितकर है और साधक के लिए पतनकर है। सद्गुणी आदमी दूसरे के दोषों को अपने पवित्र हृदय और वाणी में कैसे स्थान देगा! एक समझदार आदमी अपने बिछे हुए स्वच्छ बिस्तर पर कोई गंदी वस्तु कैसे रखेगा! साधक को दूसरे के दोषों को देखने और कहने का अवसर कहां है! अतएव सद्गुणी मनुष्य अन्य की बुराइयों को नजरअन्दाज कर सब में रहे हुए केवल सद्गुणों को देखता है और सद्गुणों की ही चर्चा करता है।

"निर्गुणिया गुणहि घिनाय" गुणहीन आदमी दूसरों के सद्गुणों से घृणा करता है। दूसरे के सद्गुणों को सह पाना बड़ा कठिन काम होता है। जब लोग दूसरों के सद्गुणों को सह ही नहीं पाते तब उनकी प्रशंसा करना तो दूर की बात है। लोग दूसरे की विद्या, कला, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, पवित्र रहनी का केवल अवमूल्यन ही नहीं करते, किन्तु ईर्ष्या भी करते हैं। गुणहीन आदमी गुणों की इज्जत नहीं कर पाता। सद्गुरु ने यहां गुणहीन आदमी के लिए बैल की उपमा दी है। बैल के सामने सुगंधित जायफल रखा जाये तो वह न उसे समझ सकता है और न खा सकता है। यही दशा गुणहीनों की है। कलाविद् ही कला की परख करता है। कला-हीन कला को क्या जाने!

सगुणोपासकों की दयनीय दशा

अहिरहु तजि खसमहु तजी, बिना दाद की ढोर।
मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर॥ 264॥

शब्दार्थ—अहिरहु=चरवाहे ने, गुरुओं ने। खसमहु=मालिक ने भी, कल्पित पति ने, भगवान ने। दाद=न्याय, इंसाफ। ढोर=पशु। मुक्ति=मुक्त, छुटा

हुआ, मोक्ष। बिललात=बिलखना, दुख से तड़पना। बृन्दाबन=गोकुल के पास का एक वन, संसार। खोर=गली, रास्ता।

भावार्थ—जैसे कोई बूढ़ा पशु हो, उसके मालिक ने उसे अनुपयोगी समझकर उसका त्याग कर दिया हो और उसके चरवाहे ग्वाले ने भी उसकी रक्षा करना त्याग दिया हो, अतः वह अपने विषय में कहीं न्याय न पाने से सब तरफ से त्यागा जाकर छुटा हुआ वृन्दावन-जैसे किसी वन की गलियों में दुख से विलखता हुआ घूमता हो, वैसे भगवान की विरह-भावना में पड़ा-पड़ा बूढ़ा व्यक्ति भगवान न मिलने से मानो वह मालिक की तरफ से त्याग दिया गया है और उसके चरवाहे-गुरु जो उसे उस भावना में हांकते थे उनका भी निर्देश कुछ काम न देने से मानो उसके द्वारा भी वह त्याग दिया गया है। अतः ऐसा भक्त सच्चा निर्णय एवं स्वरूपविवेक न पाने से अपने लक्ष्य से दूर वृन्दावन की गलियों में भगवान के लिए विलखता पड़ा रोता है।

अथवा मालिक और चरवाहे से उपेक्षित बूढ़े पशु की दयनीय दशा की तरह सगुणोपासक को भगवान न मिलने तथा गुरोपदेश निरर्थक हो जाने से उनकी दशा दुखपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उनके यहां मुक्ति का तो कोई मूल्य नहीं है। सगुणोपासकों के क्षेत्र वृन्दावन-जैसे स्थानों की गलियों में तो मुक्ति विलखती पड़ी रह जाती है। उसे कोई पूछता नहीं है॥ 264॥

व्याख्या—इस साखी में सटीक तथा सुन्दर उदाहरण देकर सगुणोपासकों की दयनीय दशा का चित्रण किया गया है। जो भावुक भक्त लोग गुरुओं की मोहक एवं रोचक वाणियों में उलझकर राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के रूप में किसी देहधारी भगवान को अपनी आंखों से देखना चाहते हैं, उसके पास रहना चाहते हैं, उसके रूप वाला होना चाहते हैं, या उसमें मिल जाना चाहते हैं; वे जीवनभर भक्ति-भावना के नशा में उसी के स्वप्न देखते रहते हैं। उन्हीं भावनाओं एवं धारणाओं में तन्मय होने से उन्हें अपने कल्पित भगवान का समय-समय पर भास भी होता है। परन्तु वह केवल उनके मन की कल्पना रहती है। वे कभी भी किसी भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाते।

सगुणोपासक गुरुओं ने बड़ी-बड़ी मोहक कथाएं लिख रखी हैं। वे जबान से भी नयी-नयी कल्पित कथाएं सुनाते रहते हैं। उनमें वे बताते हैं कि अमुक भक्त को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के दर्शन हुए, अमुक को विष्णु के तथा अमुक को शिव के दर्शन हुए। कबीर को भी भगवान मानकर उनके दर्शन के लिए कितने लोग लालायित रहते हैं। कितने लोगों ने तो यह भी कहने का साहस किया है कि हमें कबीर साहेब ने साक्षात दर्शन दिये हैं। लोग भक्ति के नाम पर नशा खाते और खिलाते हैं। एक हाईकोर्ट के जज ने कहा कि आपको कबीर साहेब के साक्षात दर्शन हो सकते हैं। उन्होंने कहा श्रीराम तथा लक्ष्मण के

दर्शन तुलसीदास ने चित्रकूट में पाये थे। उनसे कहा गया कि श्री राम और लक्ष्मण तुलसीदास को दर्शन देने आ सकते थे तो क्या हमलावर विदेशी शक, हूण, यूनानी, तुरुक, मंगोल, मुसलमान, आदि को भारत से खदेड़ने के लिए नहीं आ सकते थे जिससे उनके भक्तों, मंदिरों, गायों आदि की रक्षा हो सकती? सारे सगुण भगवानों के मंदिर तथा मूर्तियां तोड़ डाले गये परन्तु उन भगवानों ने इस पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया। फिर भी हम उनके गीत गाये जा रहे हैं कि पाप का घड़ा एक दिन फूटेगा और भगवान आकर पुनः धन्वा-बाण एवं चक्र-सुदर्शन सम्हालेंगे।

जिन देहधारी भगवानों के हम साक्षात दर्शन करना चाहते हैं उनके शरीरान्त हुए सैकड़ों-हजारों वर्ष हो गये। उनकी हड्डियों का चूर भी पृथ्वी तल पर नहीं होगा। सब-का-सब अपने कारण तत्त्वों में बदल गया होगा; और उनकी आत्माएं अपने कर्मों के अनुसार गति पायी होंगी। वे आज कहां किससे मिलने वाले हैं! उन भगवानों एवं देवताओं की मूर्तियां आज भी मंदिरों से चुरा ली जाती हैं और जाकर विदेश में बिकती हैं। इस प्रकार जो तथाकथित भगवान एवं देवता अपनी रक्षा नहीं कर पाते, वे दूसरे की क्या करेंगे!

भक्ति के नाम पर आज भी ऐसी घुट्टी पिलायी जाती है जिससे आदमी बदहोश रहे। भक्त लोग कहते हैं कि आज भी श्रीकृष्ण वृन्दावन में रोज रास करते हैं। एक चारदीवारी के भीतर तो यह धारणा है कि वहां जितने पेड़-पौधे तथा घास-फूस हैं सब गोपिकाएं हैं। वहां शाम को बिस्तर बिछा दिया जाता है, फूल सजा दिये जाते हैं और फाटक बन्द कर दिया जाता है। रात में उसके भीतर के सारे पेड़-पौधे गोपी का रूप धारणकर श्रीकृष्ण के साथ नाचते, गाते तथा रमण करते हैं। सुबह फाटक खोलने पर बिस्तर, फूल आदि सब भोग से मर्दित रहते हैं। श्रीकृष्ण जैसे शूरवीर को, जिनके विषय में ऋग्वेद, छांदोग्य उपनिषद् तथा महाभारत में रास की गंध भी नहीं है, भारतीय परम्परा के आत्मघाती एवं मलिन पंडितों ने पामर सिद्ध किया है। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है! परन्तु आश्चर्य है कि वे भक्त कहलाते हैं।

अतएव पवित्र मनुष्य तथा संत-सद्गुरु के अलावा और कोई देव या भगवान नहीं है, जो किसी को आकर दर्शन दे। परन्तु भ्रामक गुरुओं के झांसे में पड़े हुए कितने लोग प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन के चक्कर में अपने जीवन को खो देते हैं। जब उन्हें बुढ़ापा तक कोई भगवान नहीं मिलता तब वे मालिक तथा चरवाहे—दोनों द्वारा उपेक्षित बूढ़े पशु की तरह वृन्दावन की गलियों में बिलबिलाते हैं। यह बात केवल वृन्दावन की नहीं है, किन्तु सारे संसार की है। जो भी अपनी आत्मा की स्थिति एवं स्वरूपस्थिति से अलग किसी भगवान के दर्शन करना चाहेगा, उसको अन्त में पछताने के अलावा और कोई चारा नहीं

है।

"मुक्ति परी बिललात है, बृन्दाबन की खोर" इस पंक्ति को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि वृन्दावन-जैसे सगुणोपासकों के क्षेत्र में बेचारी मुक्ति पड़ी बिलखती है। उसे कोई नहीं पूछता। क्योंकि सगुणोपासक लोग मुक्ति का महत्त्व नहीं समझते। वे तो किसी भगवान के दर्शन तथा उसके लोक एवं धाम पाना चाहते हैं। मोक्ष है वासना का त्याग। सारे मोह एवं वासनाओं को त्याग देने के बाद जीव की जो स्वरूपस्थिति होती है, अर्थात अपने आप में परम तृप्ति एवं शांति होती है, यही मोक्ष है। यह तथ्य है। यह स्थिति किसी भी मनुष्य को मिल सकती है। इसमें कुछ पाना नहीं है, किन्तु विकारों-वासनाओं को छोड़कर अपने आप शांत हो जाना है। सगुणोपासक इसके महत्त्व को समझते नहीं, अतएव वे इसकी स्वयं उपेक्षा कर देते हैं और वे जिसके दर्शन करना चाहते हैं वह उन्हें मिलता नहीं, मिल सकता नहीं, अतएव वह मानो उन भक्तों की उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न माड़े" वाली उनकी दशा होती है। जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के लिए दौड़ता है, वह दोनों तरफ से खाली जाता है।

अतएव साधक को चाहिए कि वह किसी भगवान के दर्शन पाने का भ्रम छोड़ दे, क्योंकि वह असत्य एवं काल्पनिक है। उसे चाहिए कि वह संत-सद्गुरु की संगत में स्वयं विवेक जगाकर अपने स्वरूप को समझे और सारी वासनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो!

तुम अंतरात्मारूपी राम को ठग नहीं सकते

मुख की मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहहिं कबीर ता लोगन से, तैसेहिं राम सयान॥ 265॥

शब्दार्थ—मति=अभिप्राय। आन=दूसरा, अन्य। राम=मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा। सयान=समझदार।

भावार्थ—जो लोग मुख से तो मीठी बातें करते हैं और हृदय में कपट-कतरनी रखते हैं, कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे लोगों से राम ज्यादा समझते हैं, वे राम को ठगने की चेष्टा न करें। अर्थात अपनी अन्तरात्मा को कोई ठग नहीं सकता॥ 265॥

व्याख्या—मनुष्य की अन्तरात्मा ही राम है। उसे कोई ठग नहीं सकता। लोग चोरी करें, व्यभिचार करें, हत्या करें और उन्हें कोई दूसरा न देख सके या न जान सके यह संभव है, परन्तु यह सब करने वाला खुद उन्हें न देखे या न जाने यह संभव नहीं है। चोरी, व्यभिचार, हत्या, घूसखोरी, मिलावटबाजी, चोरबाजारी, असत्यभाषण तथा अन्य जितने दुराचार आदमी करता है। उसे

दूसरा कोई भले न जाने या न देखे, परन्तु इन सब का करने वाला स्वयं इन्हें देखता और जानता है। कोई व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से अपने कर्म छिपा नहीं सकता।

सुभान नाम के एक मियां थे। वे एक दिन बेर पेड़ के नीचे बैठे टट्टी कर रहे थे। वहां पके-पके बेर गिरे थे। वे लालच न रोक सके, अतः टट्टी करते-करते बेर खाते गये। गांव में रात में वेश्या का नाच हो रहा था। सुभान मियां नाच देखने गये। वे धनी आदमी थे। वे आदरपूर्वक आगे बैठाये गये। वेश्या का नाच शुरू हुआ। उसने गाना शुरू किया "सुभान तेरी बतिया जान गयी राम।"

सुभान के मन में संदेह हुआ कि इसने कहीं से मुझे टट्टी करते समय बेर खाते देख लिया है। आज मैंने और तो कोई गलती नहीं की है, केवल टट्टी करते-करते बेर खाये हैं। यदि इसने समाज में यह बात कह दी, तो मेरी बड़ी बेइज्जती होगी। यह सब सोचकर सुभान ने अपने हाथ की अंगूठी उतारकर वेश्या को दे दी, जो बेशकीमती थी।

वेश्या बहुत खुश हुई। उसने अगली कड़ी गायी "सुभान तेरी बतिया कह दूंगी राम।" सुभान को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सोचा कि इतनी कीमती अंगूठी दे देने के बाद भी यह हरामजादी मेरी बुराई कह देना चाहती है। मियां जी ने अपने मन को सम्हाला और उन्होंने जो एक उत्तम शाल ओढ़ रखा था, उतारकर वेश्या को दे दिया। वेश्या बहुत खुश हुई। गाना शुरू करते ही उसे इतना बड़ा इनाम कभी नहीं मिला था। अतः उसने भावमग्न होकर जोर के आलाप में गाया "सुभान तेरी बतिया कर रही हूं राम।"

अब सुभान मियां से न रहा गया। वे तमककर खड़े हो गये और वेश्या से कहा—"तुम्हें न अपनी इज्जत का डर है और न दूसरे की इज्जत का। तुम क्या कहोगी, यही तो कहोगी कि सुभान मियां टट्टी करते हुए बेर खाते थे कि और कुछ कहोगी!"

सारा समाज हंस पड़ा। वेश्या स्तब्ध रह गयी। उसने मियां जी से कहा—"हुजूर, मैं ईश्वर का गुणानुवाद गाती हूं। मैं नहीं जानती कि यहां कोई सुभान मियां[18] बैठे हैं और वे टट्टी करते समय बेर खाते थे।"

वेश्या न सुभान मियां को जानती थी और न उनकी हरकत को कि उन्होंने टट्टी करते समय बेर खाये हैं। परन्तु सुभान मियां की अन्तरात्मा तो जानती थी। अतएव जब हम पर्वत की गुफा में, समुद्र के भीतर, आकाश के ऊपर, जमीन के नीचे, कमरे में, वन में—कहीं भी अकेले हों तो यह न समझें कि जो हम

18. 'सुभान' का शुद्ध रूप 'सुब्हान' है जो अरबी भाषा का शब्द है और जिसका अर्थ होता 'पाक परमेश्वर'।

कर रहे हैं उसे कोई नहीं देख रहा है। हमारी अपनी अन्तरात्मा तो हमारी हर हरकत को हर समय देख रही है। उससे कुछ भी छिपाने की बात ही संभव नहीं है। हमारी आत्मा भगवान है और हमारी आंखें भगवान की आंखें हैं। उससे कुछ भी छिपाना असंभव है। किसी की आत्मा अपने आप को कभी क्षमा नहीं करती। हम पाप करने के बाद किसी कल्पित भगवान या देवी-देवता की पूजा या चढ़ौती कर भले अपने मन को संतोष देने का प्रयास करें कि हमारे पाप कट गये, परन्तु हृदय अपने पापों से जलता रहेगा। यही तो चित्रगुप्त का लिखना है। मनुष्य के मन में जो सारे कर्मों के चित्र गुप्तरूप से अंकित हो जाते हैं यही चित्रगुप्त का लिखना है। इससे कोई बच नहीं सकता।

तीन-तीन घंटे पूजा करने वाले लोग घूस लेते समय, मिलावट एवं चोरबाजारी या कोई दुराचार करते समय, दूसरों की नजरों से उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। एक तरफ वे भगवान का गुणानुवाद गाते हुए नहीं अघाते। वे उसके लक्षण भी बताते हैं कि भगवान सब कुछ जानता और सब कुछ देखता है, परन्तु वे जब कोई दुराचार करते हैं तब दूसरे मनुष्यों से छिपाते हैं। उन्हें मनुष्यों पर विश्वास है, ईश्वर पर नहीं। इसीलिए तो वे मनुष्यों से अपने दोष छिपाते हैं और ईश्वर से नहीं डरते। यदि वे ईश्वर से डरें तो ईश्वर की आंखें कहां नहीं हैं! वस्तुतः बाहर ईश्वर तो एक भावना या कल्पना है। मनुष्य की आत्मा ही ईश्वर है और वह मनुष्य की सारी हरकतें जानती है। यहां मनुष्य और उसकी आत्मा का भिन्न अर्थात दो अस्तित्व न समझना चाहिए। सार अर्थ यह है कि आत्मा ही राम है और वह अपने द्वारा किये गये कर्मों का साक्षी है। अतः किसी को भी अपनी अन्तरात्मा को ठगने का प्रयास न करना चाहिए; क्योंकि ठगना असंभव है, और पाप तो है ही। उसका फल तो मिलना ही है। मनुष्य बुरे कर्म करते हुए भी भले कहता रहे 'राम दोहाई गंगा किरिया हम कोई पाप नहीं करते' परन्तु उसकी अंतरात्मा उसको कचोटती रहेगी। वह कहीं भी रहेगा अपने पाप-कर्मवश मन-ही-मन भयभीत रहेगा। लहसुन-प्याज खाने से दुर्गन्धी की डकार आती है।

स्वर्ग हत्या का नहीं, प्रेम का फल है

इतते सब कोई गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोई न आइया, जासों पुछिये धाय॥ 266॥

शब्दार्थ—इतते=संसार से। उतते=स्वर्ग से।

भावार्थ—संसार के लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिए वध, कुर्बानी, होमबलि आदि के नाम पर जीववध कर तथा अच्छे-बुरे नाना कर्मों के बोझा लाद-लादकर संसार से चले गये, परन्तु स्वर्ग से कोई नहीं आया, जिससे दौड़कर

पूछा जाये कि स्वर्ग का आनंद कैसा है!॥ 266॥

व्याख्या—वैदिकों में यह भ्रम था कि यज्ञ के नाम पर पशु-पक्षियों को मारकर देवताओं को तृप्त किया जा सकता है और उनकी खुशी में स्वर्ग पाया जा सकता है। बाइबिल वाले ईश्वर के नाम पर होम-बलि कहकर जीव की हत्याकर उसे आग में डालते और इस क्रिया से वे समझते कि इससे ईश्वर खुश होगा, और वह हमें स्वर्ग का आनंद देगा। मुसलमानों के यहां कुर्बानी के नाम पर बकरीद के दिन लाखों पशु काट दिये जाते हैं। कहते हैं आजकल भी मक्का यात्रा करने वाले मक्का में जाकर हजारों ऊंटों एवं जानवरों की ईश्वर के नाम पर हत्या कर देते हैं। यह जंगली-युग का अंधविश्वास आज भी चल रहा है। हिन्दुओं में तो इस बात में काफी सुधार हो गया है, परन्तु मुसलमानों में आज भी सुधार नहीं है। किसी देवता या ईश्वर के प्रीत्यर्थ किसी जीव की हत्या करने की बात कैसी उलटी है। जीवहत्या जो सबसे बड़ा पाप है उससे कोई देवता या ईश्वर खुश कैसे होगा! सद्गुरु कहते हैं—"कहुँधौं बिहिस्त कहाँ ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई।" कहां है स्वर्ग जिसको पाने के लिए तुमने मूक पशुओं के गले पर छूरी चलायी है, और किसके कहने से चलायी है! कहने वालों की मनगढ़ंत कल्पना है।

वस्तुतः इस धरती से अलग कहीं स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं हुआ हैं। स्वर्ग की केवल कल्पना की गयी है और नाना मत वालों ने उसका अपना रूप खड़ा किया है। मनुष्य को चाहिए कि अपने प्रेम के व्यवहार से इस धरती को ही स्वर्ग बनाये। जब हमारा मन पवित्र हो जाता है तब हृदय ही स्वर्ग बन जाता है। जो अपने मन को स्वर्ग बना लेता है उसके द्वारा बाहर का वातावरण भी स्वर्ग बनता है। यह स्वर्ग ही सच्चा है। इसे पाने के लिए जीवहत्या जैसा घोर पाप नहीं, किन्तु दया और प्रेम का व्यवहार अपेक्षित है।

स्वर्ग तो काल्पनिक है, परन्तु पुनर्जन्म एक वास्तविकता है। पुनर्जन्म सिद्धान्त माने बिना चैतन्य-जगत की स्थिति नहीं समझी जा सकती। बुरे कर्मों के परिणाम में आज तथा पुनर्जन्म में दुख तथा अच्छे कर्मों के परिणाम में सुख यही मानो नरक और स्वर्ग है। हम पुनर्जन्म पर थोड़ा विचार करें।

तालाब, नदी, समुद्र आदि का जल सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से वाष्प बनकर आकाश में जाता है और ऊपर परमाणु रूप में रहता है। कालान्तर में वही बुन्द रूप में बरसकर पुनः तालाब आदि भरता है। वे ही तारे, चांद, सूर्य घूम-घूमकर रोज आकाश में उगते हैं। दिन में चांद-तारे नहीं दिखते तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे नष्ट हो गये। वे ही पुनः रात में दिखते हैं। ये सब नित्य नये बनकर नहीं आते, वे ही रहते हैं।

इसी प्रकार वे ही अविनाशी चेतन जीव एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर

धारण करते हैं। न जीव का नाश होता है और न जड़ का। जड़ अपने स्वभाव में बरतते हैं और जीव अपने कर्मवश भटकते हैं। जड़ तत्त्वों का क्रियाशील रहना स्वाभाविक है और जीवों का भटकना कर्मवश सहेतुक है। इसीलिए कर्मभूमि का रूप नरजन्म में कर्म-संस्कार (विषयासक्ति) नष्ट हो जाने पर जीव गमनागमनरहित अपने आप शान्त हो जाता है। यह बात विवेक से गम्य है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है। इस ज्ञान के लिए बहुत काल साधना-सत्संग करने की आवश्यकता है। जब एक साधारण अध्यापक की योग्यता-प्राप्ति के लिए वर्षों पढ़ना पड़ता है, तब ऐसा सूक्ष्म विषय घंटों में कैसे समझ लें!

कोई जन्म से ही प्रतिभावान, कोई प्रतिभाहीन, कोई बहुत पढ़ाने पर भी नहीं पढ़ पाता, कोई थोड़े में बहुत जान लेता है। इसी प्रकार सबके गुण-स्वभाव, भोग, बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं। यह इसीलिए है कि जीवों के पूर्वजन्मों के कर्मों की भिन्नता है।

खट्टे आम के पेड़ के फल सभी खट्टे और मीठे आम के पेड़ के फल सभी मीठे होते हैं, क्योंकि फल केवल वृक्ष के स्वभावानुसार उसी के ही रूपान्तर हैं। परन्तु एक माता-पिता से अनेक बच्चे होते हैं। उनके स्वभाव माता-पिता जैसे ही सबके नहीं रहते, भिन्न-भिन्न रहते हैं। क्योंकि उनकी देह के उत्पन्न होने में केवल माता-पिता के रज-वीर्य ही नहीं कारण हैं, बल्कि उन-उन अविनाशी जीवों के उत्तम-मध्यम कर्म भी कारण हैं।

अतएव अगणित अविनाशी चेतन जीवों के कर्म-फल भोग, पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष सर्वथा विवेक अनुकूल हैं। यहां तो किंचित संकेत-मात्र है। इस विषय को ठीक से समझने के लिए अधिक सत्संग, सद्ग्रन्थावलोकन तथा विवेक करने की आवश्यकता है।

रामभक्ति सर्वाधिक प्रिय है

भक्ति पियारी राम की, जैसी पियारी आग।
सारा पट्टन जरि मुवा, बहुरि ले आवै माँग॥ 267॥

शब्दार्थ—पट्टन= शहर, नगर।

भावार्थ—राम की भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। देखो, आग लगने पर गांव या शहर जल जाता है, तो भी आदमी भोजन बनाने एवं प्रकाश जलाने के लिए उसे पुनः दूसरों के घरों से मांग लाता है॥ 267॥

व्याख्या—भक्ति की परिभाषा पीछे 228वीं साखी "अर्ब खर्ब ले दर्ब है" की व्याख्या में की जा चुकी है। सार इतना ही है कि कबीर का राम व्यक्ति की अपनी अन्तरात्मा है और उसके प्रति अनुराग भक्ति है। अतएव स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति ही भक्ति है। परन्तु इस स्थिति को पाने के लिए प्राणिमात्र पर

करुणा, प्रेम और सेवा का व्यवहार चाहिए तथा बोधवान सद्गुरु-संतों के प्रति उपासनापूर्वक उनसे दिशानिर्देश लेना चाहिए। प्राणिमात्र को रामरूप समझकर उनसे प्रेम तथा अपनी अन्तरात्मारूपी राम में स्थिति भक्ति का स्वरूप है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, बोध-वैराग्यसम्पन्न सद्गुरु-संतों के प्रति श्रद्धा-उपासना एवं अंततः निज चेतनस्वरूप में अनन्य अनुराग एवं स्थिति—ये सब भक्ति के लक्षण हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। आग जब घर, गांव तथा शहर में लगती है, तब उन्हें जलाकर राख कर देती है। इस प्रकार आग का परिणाम कभी-कभी कितना भयावह हो जाता है। परन्तु क्या कोई आग का तिरस्कार करता है। जिस आग में अपना सब कुछ जल गया हो, उसी आग को लोग पुनः बड़े प्रेम से दूसरे के घर से मांगकर अपने घर में ले आते हैं, क्योंकि जलपान, भोजन आदि पकाने के लिए आग की कितनी अनिवार्यता है! रात के अंधकार को दूर करने के लिए भी प्रकाश जलाना पड़ता है और प्रकाश आग का ही गुण-धर्म है।

भक्ति-मार्ग में लगने पर कभी-कभी कठिनाइयां आती हैं, परन्तु उनमें विचलित होने वाला व्यक्ति भक्ति-पथ पर नहीं चल सकता। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के जंगली क्षेत्र में गांव का एक धनी आदमी भक्त हुआ। उसने जीव-हत्या और मांस, शराब आदि छोड़ दिया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव-हत्या करना भी छोड़ दिया। जिस देवपूजन में जीव-वध हो उसमें चंदा देना, सहयोग करना तथा सम्मिलित होना भी छोड़ दिया। गांव वाले उस पर रुष्ट हो गये। पूरे गांव के लोग देव-पूजन में बकरे-मुरगे काटने वाले तथा शराब-मांस के सेवन करने वाले थे। उन सबने पंचायत कर उक्त भक्त के विरोध में गांव में घोषणा कर दी कि उसके यहां कोई नौकर न लगे, मजदूरी करने न जाये, उसे कोई आग तक न दे, उससे कोई बात न करे।

भक्त गांव वालों से पूर्णतया उपेक्षित हो गया। उसके कई हल चलते थे। कई नौकर तथा मजदूर लगते थे। बाहर से सब काम ठप्प हो गया, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। वह अपने मार्ग पर दृढ़ रहा। भक्त और उसका एक पुत्र दो जोड़ी बैलों को लेकर सुबह से दोपहर तक हल चलाते। दोपहर में बैलों को लेकर घर पर छोड़ देते। घर वाले उन बैलों को खिलाते-पिलाते और घर से दूसरे दो जोड़ी बैलों को लेकर पिता-पुत्र शाम तक हल चलाते। दूसरे गांव से मजदूर लाकर खेत में काम कराते। यह स्थिति पचीस वर्ष तक रही। उसके बाद गांव के लोग सामान्य हो गये। फिर उनको नौकर-मजदूर मिलने लगे। ऐसी कठिनाइयां या इनसे नरम-गरम कठिनाइयां जगह-जगह लोगों को पड़ी या पड़ती हैं, परन्तु जो दृढ़ रहते हैं, वे ही भक्ति कर सकते हैं।

प्रहलाद की कहानी चाहे पूर्णतया काल्पनिक हो, परन्तु उसमें भक्ति-पथ के

पथिकों के लिए साहस का अन्यतम पाठ है। ध्रुव की कहानी की भी यही बात है। कबीर, मीरा, तुलसी तक को अपने पथ में कितनी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं। दयानन्द, ईसा, मुहम्मद, विवेकानन्द, बुद्ध, महावीर किसे कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा! ईसा, दयानन्द, सुकरात, मंसूर, बंदा वैरागी, गुरु गोविन्द सिंह, उनके दो बच्चे, गुरु तेगबहादुर आदि को तो शहीद हो जाना पड़ा। धर्म के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रांतिकारी कबीर को अपने जीवन के पूर्वार्ध में जो कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं, रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं। उन्हीं की महिमा में बावन कसनियों का वर्णन है। उनमें चमत्कारों की अतिशयोक्तियां हैं, परतु उनमें सार यही है कि उन्हें कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। परन्तु उनका कोई बाल बांका न कर सका। अंततः वे समाज द्वारा पूज्य हुए।

भक्त होने तथा गुरुदीक्षा लेने के पश्चात जिनकी भैंस मर जाती है या कोई नुकसान हो जाता है वे यह भ्रम करके कि भक्ति हमें नहीं छाजती या नहीं शोभती, भक्ति छोड़ बैठते हैं। वे कायर-कुपूत लोग क्या भक्ति कर सकते हैं! भक्ति जितनी प्रगाढ़ होती जाती है उतना ही सत्य का व्यवहार बढ़ता है, किन्तु उसमें आर्थिक हानि मानकर जो भक्ति छोड़ देता है वह भक्ति नहीं कर सकता। किसी अन्य भक्त, साधक, साधुवेषधारी की फिसलन देखकर या किसी गुरु की ही डगमगाहट देखकर जो भक्ति छोड़ बैठता है वह भक्ति-पथ का पथिक नहीं है। भक्ति-पथ में वही चल सकता है जो सारे द्वन्द्वों, दुखों, हानियों, अपमानों एवं कष्टों को सहकर उसे न छोड़े।

सद्गुरु ने इस साखी में बताया है कि भक्ति आग के समान प्रिय होनी चाहिए। भक्ति करने में चाहे जितनी हानि दिखे उसका परित्याग कभी न करना चाहिए। संसार की हानि झूठी है, परन्तु भक्ति का फल सच्चा है। राम की भक्ति जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। राम मनुष्य के भीतर भी है और बाहर भी। बाहर प्राणिजगत राम का विराट स्वरूप है। उसकी यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। पहली सेवा है प्राणिजगत का शक्ति चले तक अहित न करना और बन सके तो उसकी सुविधा में सहयोग करना। भीतरी राम मेरी अपनी अंतरात्मा है, उसका चिंतन, उसमें स्थिति यह उसकी भक्ति करना है। अतएव दूसरे की सेवा और अपने आप में स्थिति यही राम की भक्ति है। यह जीवन की परम उपलब्धि है। जो व्यक्ति यथासाध्य दूसरे की सेवा करता है और अपने आप में संयत होकर स्थित होता है उसके समान सफल जीवन कौन होगा, और ऐसी स्थिति एवं भक्ति को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ का स्वाहा कर देना पड़े तो क्या हानि है! इसलिए सद्गुरु ने कहा है—

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वर्ण कुल खोय॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

अनन्य भक्ति

नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुशी क्यों होय॥ 268॥

शब्दार्थ—जार=पराई स्त्री से प्रेम करने वाला पुरुष, उपपति, आशना। खसम=पति।

भावार्थ—कोई स्त्री पत्नी तो अपने पति की कहलावे, परन्तु विलास दूसरे के साथ करे, और उस जार मित्र को ही अपने हृदय में बसाये रखे, तो उसका पति उस पर कैसे प्रसन्न हो सकता है! इसी प्रकार जो सद्गुरु या राम का भक्त कहलाकर काल्पनिक देवी-देवताओं में उलझता है, न उससे सद्गुरु प्रसन्न हो सकते हैं और न उसकी अंतरात्मा प्रसन्न हो सकती है॥ 268॥

व्याख्या—सद्गुरु ने साखीग्रन्थ में कहा है—"दुनिया सेती दोस्ती, परत भजन में भंग। एकाएकी राम ते, की संतन के संग॥" अर्थात संत-सद्गुरु के सत्संग, सेवा, भक्ति आदि में रमो या अपने स्वरूप-राम में रमो। इसके अलावा जंजाल है। जो गुरु का भक्त है अथवा जो राम का भक्त है वह कल्पित एवं जड़ देवी-देवताओं को न मानता है और न पूजता है। और जो देवी-देवताओं में उलझा है वह न गुरुतत्त्व को जानता है और न रामतत्त्व को जानता है। बाहरी गुरु बोधदाता है जो मनुष्य के रूप में है और भीतरी गुरु मनुष्य का निज विवेक है और अंततः उसका निजस्वरूप चेतन है। इसी प्रकार बाहरी राम प्राणि जगत है और भीतरी राम अपनी आत्मा है, जीव है। इस प्रकार जिसे रामतत्त्व और गुरुतत्त्व का बोध है वह संत-गुरु की सेवा करता है, प्राणियों की सेवा करता है, अपने विवेक को जाग्रत करता है और अपने चेतन पारखस्वरूप में स्थिति करता है। वह कल्पित जड़ देवी-देवताओं की उपासना-पूजा में नहीं भटकता।

वस्तुतः मनोवृत्ति पत्नी है और जीव पति है। यदि मनोवृत्ति जीव को छोड़कर अर्थात अंतरात्मा को छोड़कर इधर-उधर भटकती है तो मानो वह जारकर्म में निरत रहने वाली व्यभिचारिणी है। ऐसी मनोवृत्ति से चेतनपति को कभी संतोष नहीं मिल सकता। जब मनोवृत्ति निजस्वरूप में स्थित होती है तभी जीव को परम शांति मिलती है।

भटकाव में कुसंग कारण

सज्जन से दुर्जन भया, सुनि काहू की बोल।
काँसा तामा होय रहा, हता ठिकों का मोल॥ 269॥

शब्दार्थ—काहू=अविवेकी। काँसा=ताँबे और जस्ते के मेल से बनी एक धातु। तामा=लाल रंग की एक धातु। हता=था। ठिकों का मोल=सही कीमत।

भावार्थ—मनुष्य मूलतः सच्चे सोने की कीमत का था और है, परन्तु वह अविवेकियों की बातें सुनकर और उनसे प्रभावित होकर अच्छा से बुरा बन गया और तुच्छ कांसे-तांबे के भाव बिकने लगा॥ 269॥

व्याख्या—जब मनुष्य शिशु के रूप में जन्म लेता है तब वह शुद्ध और साफ-पाक होता है। यदि मनुष्य के बच्चे शुरू से ही कुसंग न पायें और अच्छी संगत, अच्छे साहित्य एवं अच्छे वातावरण पायें तो उनका प्रायः अच्छा ही निर्माण हो। मनुष्य मूलरूप में विवेक-शक्तिसम्पन्न है। वह मौलिक रूप में शुद्ध है। परन्तु दुख की बात है कि उसे शुरू से ही कुसंग मिलने लगता है। स्वार्थपरता एवं झुठाई आदि की सीख तो कितनी माताएं ही देने लगती हैं। जब बच्चा माता की गोद से उतरकर जमीन पर खेलना शुरू करता है तो दूसरे कुसंस्कारी बच्चों की संगत से उसमें कुसंस्कार आने लगते हैं। फिर वह गांव तथा मोहल्ले के लड़कों से मिलता है, पाठशाला में पढ़ने जाने लगता है तब वहां बहुत लड़कों का सम्बन्ध होता है। इनमें कितने लड़के अनेक दुर्व्यसनों के शिकार तथा दुर्गुणों के पंडित होते हैं। यदि इन बच्चों की संगत में पड़ गया तो थोड़े दिनों में स्वभाव बिगड़ जाता है।

फिर तो समय जितने बीतते हैं उसे अनेक लोगों की संगत मिलती जाती है जिनमें अच्छे तो कम मिलते हैं, किसी-न-किसी प्रकार भटका देने वाले बहुत मिलते हैं। जिनकी संगत से मांस-अंडे खाने या किसी प्रकार के नशा करने एवं किसी प्रकार के गलत आचरण की आदत पड़ जाये वह तो बुरी संगत है ही, परन्तु जिनकी संगत से भूत, प्रेत, देवी, देवता, ग्रह, लग्न, मुहूर्त, शकुन, अपशकुन या किसी अदृश्य शक्ति का भय या लालच का भ्रम मन में खड़ा हो जाये, वह भी महान कुसंग है। कितने भ्रामक लड़के या गुरु लोग मिलते हैं। वे गायत्री-जप, देवी-देवता-पूजन या और किसी टंट-घंट करने से परीक्षा में उत्तीर्ण होने, मुकदमे में विजय पाने, पुत्र-धन पाने, नौकरी आदि पाने का झांसा देकर मनुष्य की मानसिकता को दुर्बल बनाने का पाप करते हैं। ऐसे लोगों के कुसंग से मनुष्य कारण-कार्य तथा विश्व के शाश्वत नियमों के ज्ञान से दूर होकर चमत्कारों में विश्वास करने लगता है, जो केवल अज्ञान या धूर्तता से पैदा हुए हैं। भ्रामक लोग जनता को झूठी आशा देकर उन्हें केवल मूर्ख बनाते हैं और उसी क्रम में किसी को अपने श्रम एवं प्रारब्ध से पुत्र, धन, विजय, परीक्षोत्तीर्णता आदि मिल गये तो उन्हें भी भ्रम दृढ़ हो जाता है कि यह सब उपलब्धि मान-मनौती से हुई है और वंचक लोग ढिंढोरा पीटते हैं कि देखो अमुक ने गायत्री या अमुक देवी-देवता की पूजा के बल पर पुत्र-धनादि पाये हैं। भ्रामकों एवं भोले

लोगों ने मिलकर ही सारे देवी-देवताओं, चमत्कारों एवं अन्धविश्वासों को जन्म दिया है। इसके मूल में मिथ्या स्वार्थ है। इससे भ्रामकों का स्वार्थ खूब सिद्ध होता है। वे भोले लोगों को अपने मायाजाल में फंसाकर उन्हें खूब बेवकूफ बनाते हैं और उनसे धन, यश आदि लूटते हैं, परन्तु भोले लोग जो फंसते हैं उनका लाभ तो कुछ भी नहीं केवल हानि ही हानि है। किसी कल्पित देवी-देवतादि की पूजा, वन्दना, उपासना करने से किसी को भी पुत्र, धन, नीरोग्यता, विजय आदि नहीं मिलते हैं।

संसार में मनुष्य सर्वोच्च सत्ता है। उसकी सर्वाधिक कीमत है। समस्त शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान उसी की देन हैं। परन्तु वह 'काहू' की बोल सुनकर भटक गया है। यहां 'काहू' शब्द पर काफी जोर है। 'काहू' से अर्थ है 'बेपारखी'। जिसे जड़-चेतन का ज्ञान नहीं है, विश्व के शाश्वत नियमों, कारण-कार्य की व्यवस्था एवं प्रकृतिगत गुण-धर्मों की पहचान नहीं है, अथवा जिसके आचरण पवित्र नहीं हैं, उसके लिए ही 'काहू' शब्द का प्रयोग है। ऐसे लोगों की ही बातें सुनकर मनुष्य सज्जन से दुर्जन हो जाता है। ज्ञान में भ्रांति और आचरण की मलिनता मनुष्य को नीचा बनाती है।

यदि सोना कांसा-तांबा के भाव बिकने लगे तो यह सोने के महत्त्व को न समझना है। इस संसार में जिस मनुष्य की कीमत सबसे ज्यादा है वह तुच्छ कहा जाने लगा। वह अपने बनाये जड़-पिंडियों, शब्द-समूहों एवं मनःकल्पनाओं के सामने रोने, गिड़गिड़ाने एवं भोग-मोक्ष मांगने लगा। वह पत्थर, पेड़, पहाड़, नदी, आकाश, चांद, सूरज, सबसे भीख मांगने लगा। जितना मूल्य पत्थर, पेड़ और कांसा-तांबा का है, मनुष्य का उतना भी नहीं रहा। इसके मूल में है "काहू की बोल"। जो ज्ञान और आचरण से गिरे हैं उनकी बातें सुन-सुनकर अच्छे लोग भी भटक जाते हैं।

विवेचनशक्तिसंपन्न होने से मनुष्य की मर्यादा सर्वोत्तम है। इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य समस्त विकारों को जीतकर स्वयं परमात्मा या भगवान है। इससे बढ़कर या इसके समान कोई अन्य नहीं है।

बिरही जीवों का भटकाव

बिरहिन साजी आरती, दर्शन दीजै राम।
मूये दर्शन देहुगे, तो आवै कौने काम॥ 270॥

शब्दार्थ—बिरहिन=पति-वियोग की पीड़ा से व्यथित नारी, तात्पर्य में ईश्वर को पति मानकर उसके दर्शन के लिए तड़पता भक्त।

भावार्थ—ईश्वर के वियोग के अनुभव से पीड़ित भक्त अपने आप को ईश्वर की पत्नी मानकर और उसे पति मानकर उससे मिलने, उसके दर्शन पाने के लिए

आरती साजता है, उसकी वन्दना करके कहता है कि हे राम, मुझे दर्शन दो। यदि मरने पर दर्शन दोगे तो उससे क्या लाभ होगा!॥ 270॥

व्याख्या—ऐसा बहुत लोगों को भ्रम होता है कि आत्मा से अलग परमात्मा होता है। कितनों को यह भी विश्वास होता है कि उसके विरह में तड़पने से वह आकर साक्षात दर्शन देता है। इस भ्रांत मानसिकता के बहुत लोग शिकार होते हैं। ऐसे लोग अपने रत्नतुल्य समय और जीवन को उसके दर्शन पाने के प्रयास के गोरखधंधे में व्यर्थ बिता देते हैं। उनको इतना-सा विवेक नहीं होता कि रूप विषय को छोड़कर अन्य चार गंध, शब्द, स्वाद एवं स्पर्श के ही आंखों से दर्शन नहीं होते, तो अभौतिक, अदृश्य परमात्मा के दर्शन कैसे होंगे! इसके अलावा जो मेरी आत्मा से अलग होगा वह परमात्मा अपना कैसे बन सकता है! वे उन मोहक एवं काल्पनिक वाणियों के व्यामोह में पड़े रहते हैं, जिनमें बताया गया है कि अमुक को राम के दर्शन हुए, अमुक को कृष्ण के, अमुक को शिव या विष्णु के दर्शन हुए आदि, इस प्रकार की सारी वाणियां मानसिक सनक से लिखी गयी होती हैं। परन्तु आदमी वाणियों के व्यामोह में पड़ा भटकता है।

कितने गुरु लोग कहते हैं कि यदि आदमी जीवनभर ईश्वर की विरहाग्नि में जलता रहे तो मरने के बाद उसे भगवान के दर्शन अवश्य होंगे। परन्तु मरने के बाद ईश्वर-दर्शन का झांसा देना आदमी को गुमराह करना है। जो इस जीवन में नहीं घटेगा वह मरने पर क्या घटेगा! इस झांसे में पड़े हुए अनेक साधक जीवनभर तपस्या का घोर कष्ट उठाते हैं। उन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं होता जो स्वयंप्रत्यक्ष एवं हाजिर हुजूर है। इस प्रकार स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान के बिना मानव भटकता है। विरह का अर्थ ही है, वियोग, जुदाई। परन्तु जुदाई एवं बिछुड़न भ्रमजनित है। मेरा 'अपना' बिछुड़ा ही नहीं है। जो मेरा अपना आपा है, स्वत्व है, स्व-स्वरूप है, वही मेरा परमात्मा है और वह मुझसे कभी बिछुड़ ही नहीं सकता। जब बिछुड़ा ही नहीं, तब वियोगजनित पीड़ा कैसी! अतएव अपने से अलग परमात्मा या राम मानकर उससे बिछुड़न की कल्पना ही अज्ञानजनित है, फिर मिलने का क्या मतलब हो सकता है! अध्यात्म के क्षेत्र में इतना ही है कि मुझे स्व-स्वरूप का केवल विस्मरण है। उसे जानकर केवल स्मरण कर लेना है और विषय-वासनाओं को छोड़कर सदैव स्वरूपस्थिति में रहना है।

वर्तमान सुधारो

पल में परलय बीतिया, लोगहिं लागु तमारि।
आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि॥ 271॥

शब्दार्थ—तमारि=तम+अरि—अंधकार का शत्रु, सूर्य, तात्पर्य में ज्ञान। आगल=भविष्यकाल। पाछल=भूतकाल। गोहारि=सत्संग में पुकार।

भावार्थ—पल मात्र में तेरी मौत हो जायेगी, फिर तेरा अपना माना हुआ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। इसलिए हे मानव, तू गुरु के ज्ञान-पथ में लग और भूत की चिंताओं तथा भविष्य की कल्पनाओं को छोड़कर वर्तमान के सारे बन्धनों को तोड़ने के लिए सत्संग में पुकार कर!॥ 271॥

व्याख्या—हम घर, धन, पशु, परिवार का शृंगार करते हैं, अपने माने हुए शरीर को सजाते हैं और उसे बड़ा स्थायी मानते हैं। इस प्रकार संसार की माया को हम अजर-अमर मानकर उसके प्रमाद में फूले नहीं समाते। परन्तु हमें कालबली का तमाचा क्षण में लग जाता है और हमारे शरीर का अंत हो जाता है। शरीर का अंत हो जाना मानो हमारे मायावी अहं का प्रलय हो जाना है। शरीर के मिटने के साथ पल मात्र में हमारा सब बीत जाता है। विचार करके देखो तो हमारे देह-गेहादि के प्रति बनाये हुए अहं-मम कितने मिथ्या हैं! पागल मानव जिसको जीवनभर मेरा-मेरा कर रटता है क्षण ही में वह सब खो जाता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है—

आगाह अपनी मौत से कोई बसर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं॥

इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे मानव! तू देह-गेहादि का अहंकार मत कर, बल्कि "लागु तमारि" अर्थात अज्ञाननाशक ज्ञान में लग। 'देह-गेहादि भौतिक पदार्थ मेरे हैं' ऐसी धारणा ही अज्ञान है और ये सब मेरे नहीं हैं, मैं शुद्ध चेतन असंग, अविनाशी एवं निराधार हूं, यह ज्ञान है। कबीर देव कहते हैं कि अज्ञान को छोड़कर ज्ञान में लगो। जैसे सूर्य के उगते ही अंधकार समाप्त हो जाता है, वैसे स्वरूपज्ञान के उदित होते ही माया-मोह नष्ट हो जाता है। जैसे अन्धकार में आदमी को ऊंच-नीच, रास्ता-खाईं आदि का पता न चलने से वह जगह-जगह ठोकरें खाता है, परन्तु सूर्योदय होने पर प्रकाश हो जाता है, और उसे सब कुछ साफ दिखता है तथा वह कांटा-खाईं से बचकर अच्छे रास्ते पर चलता है। इसी प्रकार देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों के मोह में डूबा आदमी विवेकहीन होकर भटकता है। उसे अपना हिताहित नहीं दिखता। परन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है, फिर मैं किस प्राणी-पदार्थ के लिए राग-द्वेष करूं तो वह सुपथ पर चलता है। वह सब कुछ के अहंकार को छोड़कर अविनाशी-स्वरूप में स्थित होता है।

सद्गुरु कहते हैं "आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" अर्थात आगे-पीछे की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में बन्धनों से मुक्त होने के लिए सत्संग में गोहार करो। हम भूतकाल की अपने द्वारा घटी घटनाओं को लेकर चिंता और पश्चाताप करते हैं कि ऐसा करता तो ऐसा अच्छा हो जाता। मैंने गलत किया जिससे काम बिगड़ गया इत्यादि। परन्तु आदमी चाहे जितना पश्चाताप करे और

चाहे जितनी चिंता करे जो बीत गया वह लौट नहीं सकता। बीता हुआ मुरदा है। उसे कौन जिला सकता है! अतएव बीती घटनाओं को लेकर चिंता एवं पश्चाताप करना अविवेक है।

हम भविष्य के लिए नयी-नयी स्वर्णिम कल्पनाएं करते हैं, ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यह होगा, वह होगा, परन्तु आदमी जितना सोचता है क्या उतना होता है! तथागत बुद्ध ने कहा है कि मूढ़ आदमी सोचता है कि मैं ठंडी में अमुक जगह, गरमी में अमुक जगह तथा वर्षा में अमुक जगह रहूंगा। परन्तु उसको क्या पता कि काल उसे कब उठा लेगा! इसका मतलब यह नहीं है कि भविष्य के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। कार्यक्रम बनाना पड़ता है, तभी जीवन की गाड़ी चलती है, और तभी कुछ किया जा सकता है। परन्तु विवेकवान आदमी मन के लड्डू नहीं खाते। वे भविष्य के सपने में डूबते नहीं। वे भूत की चिंता एवं पश्चाताप तथा भविष्य की कल्पना छोड़कर वर्तमान सुन्दर बनाते हैं। वर्तमान हमारे हाथों में हैं हमें आज सत्संग करना चाहिए, विवेक करना चाहिए और प्राप्त निष्कर्ष के अनुसार जीवन बनाना चाहिए। वर्तमान में हम राग-द्वेष से मुक्त होकर स्ववश रहें, यही जीवन में महान उपलब्धि है। श्री पूरण साहेब कहते हैं—

वर्तमान में बरतो भाई। भूत भविष्य सब देउ बहाई॥
होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जिव काहेक रोई॥
तू अविनाशी सुख में कहिए। याहि जानि धीरता लहिए॥ निर्णयसार॥

"आगल सोच निवारि के, पाछल करहु गोहारि" को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि भविष्य में क्या होगा इसकी चिन्ता छोड़ दो। तुम भूतकाल में बनी हुई वासनाओं एवं बन्धनों को नष्ट करने के लिए सत्संग में पुकार करो। अर्थात विनयावनत होकर सन्तों से सत्यासत्य समझकर सारे अध्यासों को ध्वंस करो। तुम्हारे सारे बन्धन भूतकाल में ही तो बने हैं। यदि उन्हें वर्तमान में मिटा देते हो तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमने वर्तमान में भूत का सुधार कर लिया और जीवनभर केवल वर्तमान को ठीक बनाये रखा तो भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

मन को वश में करना ही सर्वोच्च उपलब्धि है

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं॥ 272॥

शब्दार्थ—एक=मन। समाना=आसक्त हुआ। सकल=पंचविषय जगत। बूझ=ज्ञान, परख। दूतिया=दृश्य जगत।

भावार्थ—साधारण मनुष्य का मन संसार के सारे प्रपंच में आसक्त रहता है और सारे प्रपंच के संस्कार उसके मन में लीन रहते हैं। परन्तु जिसका मन संसार की सारी वासनाओं को छोड़ देता है, उसका मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है, जहां दृश्य जगत नहीं है॥ 272॥

व्याख्या—जो लोग प्रसंग को नहीं देखते वे "एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि" का अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म सब में लीन है तथा सब एक ब्रह्म में लीन है। परन्तु यहां 'एक' का अर्थ मन है। यही बात इसकी अगली साखी में भी दोहरायी गयी है कि "एक साधे सब साधिया"। वहां भी अर्थ मन का है कि एक मन साध लिया जाये तो सब सध गया।

सामान्य जीवों की यही दशा है कि उनका मन संसार के सारे प्रपंच में लीन होता है और सारे प्रपंच के संस्कार उनके मन में लीन होते हैं। ये कहने के दो तरीके हुए, परन्तु दोनों का अर्थ है कि साधारण आदमी का मन जगत-विषयों में ही डूबा रहता है। साधारण आदमी अपने मन को सब समय किसी-न-किसी विषय के राग में ही लगाये रखता है। विषयों का स्मरण मानो उसके मन का व्यापार है। इसीलिए सामान्य लोग यह समझ भी नहीं पाते हैं कि हम विषयों से अलग शुद्ध चेतन हैं।

परन्तु जिन्हें अपने अविनाशीस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और उन्होंने विषयों की वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उनका शुद्ध मन स्वरूपज्ञान में लीन हो जाता है। "कबीर समाना बूझ में" बड़ा वजनदार वचन है। जहां सबकी बूझ, समझ एवं परख होती है वह जीव का निजस्वरूप है। श्री पूरण साहेब ने कहा है—"जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झांई भ्रम कूप॥" जिस चेतन भूमिका से सबकी परख होती है वही तो व्यक्ति का निजस्वरूप है। जिसका मन वासनाहीन हो गया है उसका मन उसी में लीन होता है। "कबीर समाना बूझ में" कबीर तो केवल बूझ में समाये हैं वे केवल ज्ञान में लीन हैं। कबीर अपने आप को स्वरूपस्थिति में लीन बताकर मानो उन सबको स्वरूपलीन बताते हैं जिनको स्वरूपज्ञान हो गया है और जिनका मन शुद्ध हो गया है।

वह स्वरूपस्थिति की दशा कैसी होती है? सद्गुरु बताते हैं "जहाँ दूतिया नाहिं" वहां द्वैत नहीं रहता, यह दृश्य जगत वहां नहीं रहता। वहां केवल शुद्ध चेतन की स्थिति है। मन का यह स्वभाव है कि वह एक काल में केवल एक ही विषय को ले सकता है। जब मन स्वरूपज्ञान में लीन हो गया तब वहां दूसरा विषय कैसे उपस्थित हो सकता है! स्वरूपज्ञान में स्थिति ही मानो अद्वैत दशा है। ब्रह्मवादी जड़-चेतन को एक मानकर अद्वैत की कल्पना करते हैं जो केवल एक सांप्रदायिक मतवाद है। परन्तु विषयों को त्यागकर स्वरूपस्थिति ही अद्वैत

है। अद्वैत का अर्थ है अकेलापन। सारे संकल्पों के छूट जाने के बाद शुद्ध चेतन मात्र रहा, और वही अद्वैत है। वहां स्वरूपस्थिति के अलावा कुछ नहीं है।

एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय।
जैसा सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥ 273॥

शब्दार्थ—एक=मन। साधे=रोके, वश में करने से। सब=संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा आदि।

भावार्थ—एक मन को वश में कर लेने से मानो सब कुछ वश में हो गया, परन्तु संसार के सारे प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठादि को जो अपने वश में करने का प्रयत्न करता है उसका मन संसार में भटक जाता है। जैसे पेड़ की जड़ में पानी डालने से पूरा पेड़ हरा-भरा होता है और फूलता-फलता है और सींचने वाले को पेटभर खाने को मिलता है, वैसे जो अपने मन को वश में कर लेता है वह अखण्ड तृप्ति पाता है॥ 273॥

व्याख्या—कोई व्यक्ति पेड़ के पत्ते-पत्ते को पानी से सींचे तो इससे न तो पेड़ को ठीक से खुराक मिलेगी और न उसके फूलने-फलने में सहयोग मिलेगा, परन्तु केवल पेड़ की जड़ में पानी डालकर सींचने से पूरा पेड़ हरा-भरा हो जायेगा। उसमें फूल तथा फल आयेंगे और सींचने वाले को अघाकर फल खाने के लिए मिलेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति संसार को अपने वश में करके सुख चाहता है वह भोला है। सच्चा तथा स्थायी सुख तो तब मिलता है जब अपने मन को वश में कर लिया जाये।

"एक साधे सब साधिया" बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। एक मन को अपने वश में कर लेने पर सारा संसार अपने वश में हो गया। वस्तुतः जब अपने मन को वश में कर लिया जाता है तब कुछ इच्छा ही नहीं रह जाती, और जिसकी सारी इच्छाएं बुझ गयीं उसके सारे प्रयोजन मानो पूर्ण हो गये। शरीर की आवश्यकताएं तो प्रयत्न तथा प्रारब्ध से पूर्ण होती रहती हैं, मनुष्य की इच्छाएं ही नहीं पूर्ण होतीं। परन्तु जब वह मन को वश में कर लेता है तब इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं। जिसके मन की इच्छाएं बुझ जाती हैं वह परम तृप्त हो जाता है।

"सब साधे एक जाय" यदि आदमी सारी दुनिया को अपने वश में करने की दुराशा करता है तो उसका मन भटक जाता है। संसार के प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा, पद, यहां तक कि जवानी, सौंदर्य, शरीर—कुछ भी अपने वश में नहीं हैं। ये सब सर्वथा कभी अपने वश में हो नहीं सकते। कुछ प्राणी-पदार्थों पर हमारा थोड़े दिनों के लिए अधिकार हो जाता है और हम उनके अहंकार में इतराने लगते हैं, परन्तु उनके बिछुड़ने, पराये होने तथा विमुख होने में देरी नहीं लगती। जो प्राणी, पदार्थ, पद आदि आज हमारे हाथों में हैं वे ही कल दूसरे के हाथों में

चले जाते हैं। दूसरे प्राणी, पदार्थ तो दूर हैं ही, जिसे हम बिलकुल अपना मानते हैं और जो सबसे ज्यादा निकट है वह शरीर भी हमारे वश में नहीं है। कौन चाहता है कि जवानी तथा उसके सौन्दर्य-माधुर्य समाप्त हो जायें, परन्तु वे देह में ही समाप्त हो जाते हैं। मीलों दौड़ लगाने वाला एक दिन बिस्तर पर पड़ा-पड़ा करवट नहीं बदल पाता। उसका हाथ जब कोई दूसरा आदमी उठा देता है तब वह एक जगह से दूसरी जगह होता है।

जिस संसार के एक कण पर भी अपनी स्ववशता नहीं है, विमोहित आदमी उस संसार के सारे प्राणी, पदार्थों को अपने वश में करने को सोचता रहता है। परन्तु वह जितना ही संसार को अपने वश में करने को सोचता है उतना ही उसका मन चंचल हो जाता है। जो व्यक्ति जितना ही संसार को समेटकर रखना चाहेगा, उसका मन उतना ही चंचल होकर भटकेगा। "सब साधे एक जाय" यह अमर वचन है। संसार को अपने वश में करना चाहोगे तो मन भटक जायेगा, और संसार भी अपने वश में नहीं होगा, और यदि मन को अपने वश में कर लोगे तो संसार की आवश्यकता ही समाप्त हो जायेगी तो मानो संसार वश में हो गया।

संसार में केवल एक ही वस्तु हमारे वश में हो सकती है, वह है मन। इसके अलावा हमारे वश में कुछ भी नहीं हो सकता। हम काले शरीर को गोरा नहीं बना सकते, परन्तु अशुद्ध मन को शुद्ध बना सकते हैं। हम बूढ़े शरीर को जवान नहीं बना सकते परन्तु आसक्ति की दुर्बलता से घिरे मन को वैराग्य-ज्ञान के बल से सबल कर सकते हैं। पहली बात, संसार के प्राणी-पदार्थ अपने वश में होंगे ही नहीं। यदि हम थोड़े समय के लिए असंभव को संभव भी बना लें और उन्हें अपने वश में कर लें तो भी उनसे हमारे मन में तृप्ति तो आ नहीं सकती। संसार के ऐश्वर्य से कौन तृप्त हुआ है! अखंड तृप्ति का केवल एक साधन है—मन को अपने वश में करना।

जिसका मन पूर्णरूपेण उसके वश में है वह सदैव सहज-समाधि में डूबा रहता है। सहज-समाधि है अभ्यासकाल में संकल्पहीनता और व्यवहारकाल में राग-द्वेष-हीनता एवं आसक्तिहीनता। ऐसा मानव आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम, निवृत्तकाम एवं तृप्तकाम होता है। इस सुख के समान संसार में कोई सुख नहीं है। भूला मनुष्य संसार को वश में कर अनंत सुख चाहता है। जो दोनों ही असंभव हैं; परन्तु विवेकवान मानव अपने मन को वश में कर अनंत सुख पा लेता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछु नाहिं चाहिए, सोई शाहन्शाह॥

"एक साधे सब साधिया, सब साधे एक जाय" इसे हम इस प्रकार भी

समझ सकते हैं कि एक अपने मन को वश में कर लेने पर मानो सारी साधनाएं कर ली गयीं, क्योंकि इससे पूर्ण तृप्ति मिल जाती है, परन्तु जो नाना देवी-देवताओं की उपासना में पड़े रहते हैं उनका मन भटक जाता है। परम शांति मन के निर्बीज होने में है, न कि किसी कल्पना में लगे रहने में।

कल्पनालोक की बातें छोड़कर निजस्वरूप पहचानो

जेहि बन सिंह न संचरे, पन्छी ना उड़ि जाय।
सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥ 274॥

शब्दार्थ—बन=कल्पनालोक। सिंह=जीव। संचरे=प्रवेश। पन्छी=पक्षी, मन। हींड़िया=खोज किया, भटका।

भावार्थ—जिस कल्पनालोक में जीव का प्रवेश नहीं होता है और मन-पक्षी जहां उड़कर नहीं पहुंच सकता, भटके हुए लोगों ने शून्य में समाधि लगाकर उसकी खोज कर डाली है॥ 274॥

व्याख्या—उक्त पूरी साखी का भाव व्यंग्यात्मक है। जैसे कोई घना एवं भयंकर बन हो, जहां सिंह भी प्रवेश न कर सके तथा पक्षी भी उड़कर न जा सके यदि उसमें कोई मनुष्य पहुंच जाये तो उसकी प्रशंसा है, वैसे मनुष्यों ने ऐसे-ऐसे भगवानों, देवताओं एवं अदृश्य शक्ति के मूर्तिमान रूपों की कल्पना की है, अथवा उनके ऐसे-ऐसे लोकों की कल्पना की है, जो विचित्र हैं। आप नाना मतों के पौराणिक एवं धार्मिक किताबों को पढ़िए तो आपको पता चलेगा कि उनके कैसे-कैसे देवता हैं, भगवान हैं और उनके कैसे-कैसे स्वर्गलोक हैं! उनके ईश्वरों, भगवानों एवं स्वर्गलोकों के दिव्य भोगों का ऐसा आकर्षक वर्णन है कि साधारण लोगों का ही नहीं, बड़े-बड़े समझदारों का मन ललचा जाये।

यदि उनसे पूछो कि आप लोग ऐसे देवताओं, भगवानों एवं लोकों का पता कैसे पाये, क्या आप लोग वहां जाकर देख आये हैं! तो वे कहते हैं कि हमारे पैगंबरों तथा सिद्धपुरुषों ने ध्यान लगाकर समाधि में उनका साक्षात्कार किया है। "सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय॥" यह पंक्ति उन्हीं तथाकथित पैगंबरों एवं सिद्धों पर व्यंग्य है। यहां कबिरन ग्रन्थकार का वाचक नहीं है, किन्तु यह शब्द उनके लिए है जो संसार में चतुर लोग हुए हैं और जिन्होंने अपनी सनक में भविष्यवाणियां की हैं, अजीब-अजीब काल्पनिक बातें की हैं और अपने वाक्यजाल में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये हैं। यदि यह माना जाये कि 'कबिरन' ग्रन्थकार का ही नाम है और उन्होंने पद बैठाने के लिए ऐसा कहा है, तो भी मूल अर्थ में कोई अंतर नहीं है।

लोगों को थाली में सामने रखी हुई रोटी-सब्जी अच्छी नहीं लगती, किन्तु वे मनःकल्पित लड्डू खाना चाहते हैं। लोग मानव या प्राणिमात्र में छिपे चेतनरूपी

भगवान को नहीं पहचानते और प्राणिमात्र को देवी-देवता नहीं मानते जिससे यह धरती स्वर्ग बन सके। वे मनोराज्य के स्वर्ग बनाते हैं और मनोराज्य के ही देवी-देवता तथा भगवान बनाते हैं। इसका फल यह होता है कि उनकी दृष्टि और व्यवहार में न यह पृथ्वी स्वर्ग बन पाती है और न इस पर रहने वाले जीव देवी-देवता बन पाते हैं। वे शून्य के देवी-देवता तथा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए धरती के प्राणीरूपी देवी-देवता एवं ईश्वर की हत्या करते हैं।

समाधि का अपना सर्वोच्च महत्त्व है। सच्ची समाधि संकल्पों का शून्यत्व ही है। जब सारे संकल्पों की समाप्तिरूप समाधि लगती है तब उसमें कुछ प्रपंच का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। न उसमें कोई देवी-देवता दिखता है, न कोई भगवान एवं ईश्वर तथा न कोई स्वर्गलोक। यह सब तो मन का विलास है, मन की कल्पना है और वहां मन ही नहीं रहता। फिर वहां मन का राज्य कहां रहेगा! समाधि का अर्थ है सारे संकल्पों का सर्वथा शून्य हो जाना, और संकल्पों के शून्य होने पर रहती है केवल गहरी शांति। वहां तो सारे दृश्यों का अन्त हो जाता है। "कबीर समाना बूझ में, जहाँ दूतिया नाहिं।" वहां तो साधक अपने चेतनस्वरूप में लीन होता है। वहां द्वैत-दृश्य नहीं होता।

अतएव यदि कोई यह कहता है कि हमें या हमारे आप्त पुरुषों को समाधि में कोई भगवान, ईश्वर, देवता या स्वर्गलोक दिखाई पड़ा, तो उसकी समाधि नहीं, मनोराज्य है। समाधि में तो केवल स्वरूपस्थिति एवं शांति रहती है।

"जेहि बन सिंह न संचरे, पंछी ना उड़ि जाय।" इसमें सिंह जीववाचक तथा पंछी मनवाचक है। गुरुआ लोग कहते हैं कि उस भगवान, ईश्वर या स्वर्गलोक में न सामान्य जीव प्रवेश कर सकता है और न मन उसको ग्रहण कर सकता है। वह तो आप्तपुरुषों की शून्य-समाधि का ही विषय बन पाता है। परन्तु यह सब वाक्यजाल की भूलभुलैया है। वस्तुतः समाधि में कुछ मिलता नहीं है, किन्तु वहां तो सारी कल्पनाएं ही खो जाती हैं। वहां तो शुद्ध चेतन मात्र अवशेष रहता है और रहती है गहरी शांति!

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि॥ 275॥

शब्दार्थ—ढेंकुली=कुआं से पानी निकालने का काष्ठ-यन्त्र, टेंड़ा।

भावार्थ—यदि सच्ची बात कहूं तो इस द्रष्टा, ज्ञाता, मंता, बोद्धा चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है, परन्तु लोगों को तो झूठी बातें ही बहुत प्यारी लगती हैं। मेरे सिर पर तो ढेंकुली का पानी ढालते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात लोग मेरा अनुयायी बनते हैं और स्वरूपज्ञान छोड़कर नाना कल्पित मतों का पोषण करते हैं॥ 275॥

व्याख्या—इस साखी से पता लगता है कि कबीर साहेब की महानता से कुछ ऐसे लोग भी उनके पास आकर्षित होकर आ गये थे जो उनके खरे ज्ञान को धारण नहीं कर सके थे, परन्तु उनके प्रति भक्ति-भावना व्यक्त करते थे। वे बनते थे कबीर के अनुयायी, परन्तु कबीर के सत्य को पचा नहीं पाते थे। अतएव वे कबीर का नाम लेकर उन्हीं बातों का प्रचार करते थे जो अन्य पौराणिक मत वाले करते हैं। उनमें शायद नाम का ही परिवर्तन था, काम सब ढोंग-ढकोसलों का ही था। इसी दर्द का प्रकटीकरण यह पंक्ति है "मो सिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।" कहने का तरीका भी कितना काव्यात्मक है! वे "ढारे ढेंकुली" कहकर अुनप्रास शब्दालंकार में अपने भाव कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं! जब उनके सामने ही उनके अनुयायियों में उनसे भिन्न विचार रखने वाले थे तब आज समय के इतने अंतराल में कबीर-अनुयायी कहलाकर उनका कबीर से भिन्न विचार रखना सहज बात है। संसार की विचार-स्वतंत्रता का यही लक्षण है। संसार के सभी मूलाचार्यों के बाद की बात ऐसी ही है। वैदिक परम्परा हो या श्रमण परम्परा, ईसाई परम्परा हो या इसलामिक परम्परा, सबकी यही दशा है।

"साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।" बड़ी क्रांति की पंक्ति है। ऊपर 274वीं साखी में वन, सिंह, पन्छी आदि शब्दों में कल्पनालोक की बातें कहकर उन पर व्यंग्य किया गया है। उसी प्रसंग को लेते हुए सद्गुरु ने इस साखी में खुलासा करते हुए कहा है कि यदि सच्ची बात कहूं तो यही कहना पड़ेगा कि इस प्रत्यक्ष अनुभविता साक्षी चेतन के अलावा कोई ईश्वर-परमात्मा नहीं है। प्राकृतिक जगत तो अपने गुण-धर्मों से चल रहा है और ज्ञान-विज्ञान का सारा काम इन प्रत्यक्ष चेतन जीवों का है। यदि मनुष्य-जीव न होता तो वेद, कुरान, बाइबिल एवं माना शास्त्र न बनते, न ज्ञान का आविष्कार होता और न देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म की कल्पना होती। ज्ञान का सारा क्षेत्र चेतन जीवों की ही देन है।

जहां तक ध्यान तथा समाधि में किसी देव या ईश्वर को देखने एवं उसका साक्षात्कार करने की बात है, वह एक मानसिक भ्रम है। मनुष्य पहले अपने मन में किसी देव या ईश्वर का आकार गढ़ता है। फिर वह जब आंख मूंदकर बैठता है तब वही आकार उसके मन में प्रतिबिंबित होता है। इसी में निरन्तर धारणा बना लेने पर उसे हर क्षण मानो उसके दर्शन होते रहते हैं। आंख मूंदकर एकांत और एकाग्र होने पर सबको अपनी अभ्यस्त कल्पना के मन में दर्शन होते हैं। उसी को ईश्वर-दर्शन तथा ईश्वर-साक्षात्कार मान लिया जाता है।

विचार यह करना है कि इन सारे प्रपंचों की कल्पना तथा अवधारणा कौन करता है! वह कल्पना करने वाला तू ही है जो सबका द्रष्टा, साक्षी, मंता, बोद्धा,

ज्ञाता एवं पारखी है। अतएव तू ही सच है और तेरी सारी मनःकल्पनाएं झूठी हैं। इस ग्रन्थ की अनेक पंक्तियों की व्याख्या में यह देख लिया गया है कि संकल्पों का सर्वथा अन्त ही ध्यान या समाधि है। इसका समर्थन सांख्य-योगादि शास्त्रों में भी हुआ है। "जहाँ दूतिया नाहिं" सारे दृश्यों का अन्त ही समाधि है। ध्यान या समाधि-लाभ ही अध्यात्म की ऊंचाई है। उसमें कुछ मिलता नहीं, किन्तु सारे दृश्यों का विसर्जन ही होता है, तब वहां कौन-से ईश्वर-परमात्मा को पाने की आशा की जाये!

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि सच्ची बात यही है कि अपनी आत्मसत्ता के अलावा कुछ भी अपना प्राप्तव्य नहीं है; क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीव को मिल सके। जीव को जो कुछ मिलता है वह मायावी वस्तु है और वह मिलकर छूट जाती है। परन्तु लोगों को झूठी तथा नकली बातें बहुत प्यारी लगती हैं। वे उन्हीं में बहुधा पड़े रहते हैं। सब वासनाएं छोड़कर निजस्वरूप में स्थित होना यह वास्तविकता है, परन्तु कम लोग इस विवेक एवं सत्यता में ठहरते हैं। लोग तो किसी परमात्मा एवं ब्रह्म को पाना चाहते हैं जो उनसे अलग है और बड़ा भारी है, परन्तु आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है। अतएव आत्मा को कुछ पाना नहीं है। उसे सब वासनाएं, कल्पनाएं एवं अवधारणाएं छोड़कर अपने आप में शांत होना है।

विचारपूर्ण वाणी की कीमत है

बोल तो अमोल है, जो कोई बोले जान।
हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन॥ 276॥

शब्दार्थ—बोल=बात, वाणी। आन=लाना।

भावार्थ—बातें तो ऐसी उत्तम-उत्तम होती हैं कि उनका कोई मूल्य नहीं चुका सकता, परन्तु यदि बोलने का ढंग जाने तो। वह ढंग यह है कि पहले हृदयरूपी तराजू पर तौलकर तब बात को मुख से बाहर निकालना चाहिए॥ 276॥

व्याख्या—वाक्यशक्ति एक अद्भुत शक्ति है जो केवल मनुष्य को प्राप्त है। उसका सदुपयोग करने से बड़े-बड़े काम बन जाते हैं और दुरुपयोग करने से बने काम भी बिगड़ जाते हैं। रावण ने कठोर वचन कहकर अपने भाई विभीषण को शत्रु बना लिया और राम ने उससे मीठे वचन कहकर मित्र बना लिया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दुर्योधन को जल का थल तथा थल का जल आदि भ्रम होने से उसकी गतिविधि पर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेवादि के द्वारा

व्यंग्यात्मक हंसी करने से[1] दुर्योधन के मन में आग लग गयी और उसके पीछे युद्ध के बीज बो गये।

एक ट्रक-निर्माता कम्पनी का एजेंट एक ट्रक-व्यापारी के कार्यालय में उसे अपने माल का ग्राहक बनाने के लिए पहुंचा। व्यापारी ने उसे देखते ही कहा "आपका माल मैं नहीं ले सकता, क्योंकि मैंने अमुक कम्पनी का माल लेने की बात तय कर ली है।' उस एजेंट ने बड़ी विनम्रता और शालीनता से कहा— "बहुत अच्छा, जिस कम्पनी से आपने सौदा किया है वह प्रामाणिक कम्पनी है, माल भी अच्छा बनाती है। उसके सौदे में आपको लाभ ही होगा। परन्तु आज नहीं तो आगे कभी, मेरी कम्पनी को भी सेवा का अवसर देने की कृपा कीजियेगा।"

व्यापारी एजेंट की बातें सुनकर उससे बहुत प्रभावित हुआ और तुरंत उससे करोड़ों का सौदा कर लिया। यदि एजेंट उस कम्पनी की निंदा करता जिससे व्यापारी ने सौदा कर लिया था, तो व्यापारी एजेंट से चिढ़कर उससे बातें भी नहीं करता; परन्तु उसकी पर-गुण-प्रशंसा ने व्यापारी को मोह लिया। हम दूसरे की लकीर काटकर उसे छोटी करने के चक्कर में रहते हैं, अपनी बड़ी लकीर द्वारा उसे छोटी नहीं कर पाते।

दूसरे की बुराई एवं निंदा करने वाला तथा दूसरे को कटु कहने वाला कभी वार्तालाप में सफल नहीं हो सकता। जिसकी वाणी में अपने विषय में अहंकार तथा दूसरे के प्रति हीनभावना रहती है वह बातचीत में दूसरे के ऊपर अच्छा असर नहीं डाल सकता। डॉक्टर, एजेंट, व्यापारी, वकील, अध्यापक, राजनेता, किसी समूह के स्वामी आदि को वाक्य-कुशल होना चाहिए, जिससे वह अधिक-से अधिक लोगों को अपनी ओर ला सके। गुरु, धर्मोपदेशक एवं प्रवक्ता को तो चाहिए कि वह ऐसी वाणी बोले जिससे जन-समाज उसकी बातों को समझने के लिए आकर्षित हो। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मीठे वचन के नाम पर असत्य एवं केवल मनोरंजन का आश्रय ले। सत्य प्रायः कटु होता है और उसके बिना किसी को निर्भ्रांत ज्ञान नहीं हो सकता। जो सत्य का ग्राहक होगा वह उसे सुनेगा और उसका आचरण करेगा। ज्वरग्रस्त आदमी का कल्याण मिठाई से नहीं, कड़वे काढ़े से होगा, परन्तु उसमें थोड़ा मीठा मिला देने से वह उसे सरलता से पी लेगा। कटु सत्य को जितना संभव हो मीठे लेप में देना प्रवक्ता की समझदारी है।

सद्गुरु ने यहां मानव मात्र को राय दी है कि वे बोलने का ढंग समझकर बात करें। बोलने का ढंग है "हिये तराजू तौलिके, तब मुख बाहर आन।"

---

19. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 47, श्लोक 7-8-9।

केवल इस आधी साखी का जीवन में व्यवहार हो जाये, तो बड़ी शांति आ जाये। मालूम होता है कि हम सदैव नशा में होते हैं और पदे-पदे बिना विचार किये बोलते रहते हैं और उसके फल में लोगों द्वारा उपेक्षित होते हैं तथा भीतर से भी असंतुष्ट होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि जब वह किसी भी प्रकार के मानसिक उद्वेग में हो तो उस समय मौन रहे। उद्वेग में बात न करे। किसी महत्त्वपूर्ण बात पर अनेक बार विचार करने के बाद अपनी राय समाज में रखना चाहिए। शीघ्रता से कही गयी कई बातें केवल पश्चाताप उत्पन्न करती हैं। यदि हम आज से केवल एक साधना शुरू कर दें कि हृदयरूपी तराजू पर तौल-तौलकर बात करें, जब तक मन में खूब सोच-समझ न लें कोई बात न बोलें तो निश्चित ही हमारी रहनी वजनदार हो जाये, हमारे हृदय में शांति आ जाये और हमारा व्यक्तित्व निखर जाये।

जिभ्या कर्म कछोत्तरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा जमपुरी, गंजि सकै नहिं कोय॥ साखी ग्रंन्थ॥

स्वावलंबी बनो

करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ बिरानी आस।
जाके आँगन नदिया बहै, सो कस मरै पियास॥ 277॥

शब्दार्थ—बहियाँ=हाथ, बल, भरोसा।

भावार्थ—अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरों की आशा छोड़ दो। जिसके आंगन में ही नदी बहती हो, वह प्यासा क्यों मरे!॥ 277॥

व्याख्या—कबीर साहेब की हर वाणी टॉनिक है, शक्तिवर्द्धक औषध है और इस साखी को तो कहना ही क्या! वे कहते हैं कि दूसरे की आशा छोड़ दो और अपने बाहुबल का भरोसा करो। जो व्यक्ति अपना काम दूसरे के भरोसे रखता है उसका काम समय पर नहीं होता। जो अपना काम अपने हाथों से करता है वही प्रगतिशील है। वही उन्नति कर सकता है। यह ठीक है कि बहुत काम ऐसे हैं जो दूसरे के सहयोग से होते हैं। हर काम आदमी अकेले नहीं कर सकता। परन्तु जो काम दूसरों के सहयोग से होता है उस काम का करने वाला संयोजक एवं संपादक यदि सावधानी एवं सतर्कता से उसे नहीं करायेगा तो नहीं होगा। उसमें भी संयोजक, संपादक, प्रवर्तक एवं प्रबंधक की विशेषता है। अतएव व्यवहार के काम भी स्वयं लगे बिना नहीं हो सकते। जो व्यक्ति आलस्यपूर्वक रहकर परावलंबी बनता है वह मनुष्य नहीं, मिट्टी है। जो लोग अपने आप को यह प्रदर्शित करते हैं कि हम मोटा काम नहीं कर पाते, हम सुकुमार हैं, कोमल हैं, वे अभागे हैं। उन्होंने अपने मिथ्या अहंकार में अपने

आप का मानो पतन किया है। जो किसान, गोबर, मिट्टी, ठंडी, गरमी, वर्षा, कीचड़ एवं श्रम से डरेगा वह क्या कर सकता है! जो व्यापारी तथा नौकरीपेशे वाला अपने क्षेत्र के श्रम एवं कर्तव्य से विमुख होगा, उसकी क्या उन्नति होगी! मेहनत से थककर चूर-चूर हो जाने वाला आदमी ही अपने जीवन में उन्नति के दिन देख सकता है।

व्यावहारिक क्षेत्र में कोई मेरे लिए कुछ भी कर दे, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो यह बिलकुल ही चलने वाला नहीं है। जैसे कोई मेरे लिए मकान बना दे, भोजन बना दे, बिस्तर लगा दे या इसी प्रकार मेरे अन्य काम कोई कर सकता है; परन्तु मेरे मन की वासना को दूसरा कोई नहीं मिटा सकता। मेरे अन्दर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-विकलता, देहाभिमान आदि को कोई दूसरा नहीं समाप्त कर सकता। मेरे भीतर विवेक, वैराग्य, शील, समता, संतोष, शांति आदि की स्थापना कोई दूसरा नहीं कर सकता। दूसरा कोई या सन्त गुरुजन हमें केवल उपदेश देकर प्रेरित कर सकते हैं; परन्तु परिश्रम हमें ही करना पड़ेगा। हमारे व्यवहार का काम दूसरा कोई भले कर दे, परन्तु हमारे मोक्ष का काम हमें स्वयं करना पड़ेगा।

संसार में उलटी धारा है। व्यवहार के अपने सारे काम तो लोग स्वयं करते हैं। कोई नहीं कहता कि हे देवी-देवता, हे हनुमान जी, हे भगवान, हमारे खेत जोत दो, फसल काट दो, भोजन पका दो इत्यादि। लोग जानते हैं कि इन्हें स्वयं करना पड़ेगा, परन्तु अपने कल्याण या मोक्ष के लिए देवी-देवता तथा भगवान के भरोसे सोते हैं। धार्मिक क्षेत्र में यह काफी भ्रम है कि जब भगवान कृपा करेगा तब हमारे सारे पापों को काटकर हमें कृतार्थ कर देगा। हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान को केवल पुकारते जायें, फिर उसके कानों में कभी भनक पड़ेगी ही—"कबहुंक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।" इस बात को दृढ़ाने के लिए लोगों ने अनेक काल्पनिक तथा मिथ्या कहानियां गढ़ रखी हैं। परन्तु सत्य के इच्छुक कान खोलकर सुन लें कि इस प्रकार विनय-प्रार्थना करने एवं रोने-गिड़गिड़ाने से तुम्हारा मन थोड़ा कोमल अवश्य बनेगा, अच्छे संस्कार जगेंगे, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, परन्तु न तो कोई तुम्हारा विनय सुनने वाला है, न उत्तर देने वाला, न तुम्हारे पापों को काटने वाला और न तुम्हें मुक्त करने वाला है। तुम इस विनय-वन्दना के चक्कर में पड़कर एक अन्धविश्वास पाल रहे हो, और अपनी उन्नति का रास्ता रोक रहे हो। यह भ्रम अपने मन में मत बैठा लो कि तुम्हारा उद्धार कोई दूसरा कर देगा। संत-गुरुजन केवल प्रेरक बनेंगे, साधना तुम्हें ही करना पड़ेगा। तुम्हारे मन के भीतर का बन्धन दूसरा कोई कैसे काट सकता है!

सद्गुरु कहते हैं कि तुम अपने बाहुबल का भरोसा करो, दूसरे की आशा

बिलकुल छोड़ दो। तुम्हारे बन्धनों को दूसरा कोई नहीं काट सकता। परन्तु तुम अपने बन्धन काट सकते हो। तुम्हारे आंगन में शीतल, स्वच्छ एवं सुमिष्ट जल की नदी बहती है और तुम अभागे बने प्यासे मरते हो। तुम्हारे अन्तःकरण में बन्धनों को तोड़ने के लिए विवेक का प्रबल साधन है, परन्तु तुम उससे अपरिचित हो और बन्धनों को तोड़ने के लिए बाहर गोहार मचा रहे हो। तुम्हारा गोहार करना सत्संग तक सार्थक है। तुम साधकों, सन्तों एवं गुरुजनों से युक्ति सीखो, स्वरूपज्ञान एवं रहनी का परिचय प्राप्त करो। गुरुजन तुम्हारे ही हृदय के धन को तुम्हें बता देंगे, तुम उसे जानकर सबल हो जाओगे और अपने बनाये बन्धनों को तोड़कर कृतार्थ हो जाओगे।

व्यक्ति अपने हृदय के बन्धनों को स्वयं ही जान सकता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। इसके अलावा कोई चारा नहीं है। तुम्हारे में अनन्त शक्तियां हैं। तुम उन्हें पहचानो। गुरुजनों की उपासना कर उनके सत्संग से अपने आप को भलीभांति परखो और अपने उद्धार के लिए स्वयं उठ खड़े होओ।

बुरे के साथ बुरा मत बनो

वो तो वैसा ही हुआ, तू मति होहु अयान।
वो निर्गुणिया तैं गुणवन्ता, मत एकहि में सान॥ 278॥

शब्दार्थ—अयान=अज्ञानी। निर्गुणिया=गुणहीन, सद्गुणरहित। गुणवन्ता=गुणवाला, सद्गुणयुक्त। सान=मिलाना।

भावार्थ—वह तो गलत आचरण करके गलत हुआ ही, तुम भी उसी के समान गलत काम करके अज्ञानी मत बनो। क्योंकि वह गुणहीन आदमी है और तुम सद्गुणयुक्त समझदार हो, अतएव दोनों को एक में मत मिलाओ॥ 278॥

व्याख्या—कोई ऐसा आदमी है जिसने तुम्हें गाली दी, तुम्हारी निन्दा की, तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहा तथा आज भी सब समय नीचा दिखाना चाहता है, तो तुम उसके लिए क्या सोचते हो! क्या तुम भी उसके साथ उस-जैसा ही व्यवहार करके अपनी विजय समझते हो! यदि समझते हो तो तुम भी धोखे में हो। उसने तो अपने अज्ञान से अपने मन, वाणी तथा कर्मों को मैला कर लिया है। तुम्हें नीचा दिखाने के बहाने उसने अपने आप का पतन कर लिया है। अब तुम भी यदि उसकी निंदा करने लग जाओ, उसको समाज में नीचा दिखाने का षड्यंत्र करने लगो तो तुम्हारा भी मानो पतन हो गया। ध्यान रखो, कर्म अपना सीधा प्रभाव अपने कर्ता पर ही डालते हैं। यदि कोई आदमी दूसरे का अनिष्ट सोचता है, दूसरे की निंदा करता है और दूसरे को समाज में नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है तो उसका मन अपने इन दुष्कर्मों के फल में चंचल, तेजहीन, मलिन एवं कलुषित होता है। उसका मन अधिक मलिन होने से वह

आगे और मलिन कर्म करता है, उसके फल में उसका मन और मलिन होता है। इस प्रकार छत से जीने पर गिरे हुए गेंद की तरह वह उत्तरोत्तर नीचे गिरता चला जाता है। इस प्रकार अपने आप को पतित करने वाला आदमी अज्ञानी है। वह तो अपने पैरों में स्वयं अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारता है। ऐसा भोला आदमी बेचारा क्षमा-दया का पात्र है। तुम्हें चाहिए कि तुम उस पर तरस खाओ। बन सके तो उसके कल्याण का उपाय सोचो, अन्यथा उसका हितचिन्तन तो करो ही। उसका अनिष्ट कभी मत सोचो।

ध्यान रहे, तुम्हारी चाहे कोई कितनी निंदा एवं बुराई करे, सामने आकर तुम्हें समाज में नीचा दिखाना चाहे, परन्तु यदि तुम ठीक हो तो कोई कुछ नहीं कर पायेगा। यदि कोई धूल उड़ाये तो वह स्वयं धूल से ढक जायेगा, और तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा मनुष्य के अपने कर्म ही उसे दूषित करते हैं, दूसरे के कर्म नहीं। जिसके मन, वाणी और शरीर के कर्म स्वच्छ हैं उसे कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अतएव दूसरे के दुर्व्यवहार से तुम भयभीत मत होओ। आदमी की यह कमजोरी है कि वह किसी द्वारा अपनी निंदा या बुराई सुनकर भयभीत हो जाता है कि अब सब लोग मुझे बुरा समझ लेंगे, और इस भावना से वह आतंकित होकर अपने ऊपर आरोपित बुराइयों के लिए सफाई देने लगता है तथा अपने निंदकों को बुरा कहने लगता है। वह आदमी निंदा की प्रतिक्रिया में निंदा करने लगता है। उसकी इसी में हार होती है। मान लो, किसी के बुरा कहने से लोग मुझे बुरा मान लें तो इसमें मेरी क्या हानि है यदि मैं बुरा नहीं हूं तो। मेरे में बुराई नहीं है, यह मेरा मिथ्या अहंकार है। मैं भी देहधारी हूं। मुझ में भी बुराइयां हो सकती हैं। विनयावनत हृदय की तो यह स्वीकृति है कि "मुझ सा बुरा न कोय" अथवा "कबीर हम सब ते बुरे।"

अतएव हम अपने प्रति अपराध करने वाले के प्रति अपराध करके उसी के समान न बनें। दूसरे की बुराई करना, निंदा करना, दूसरे का अनिष्ट करने की बात सोचना या करना यह सब मनुष्य के चरित्र की दुर्बलता के लक्षण हैं। अतएव यदि हम चाहे प्रतिक्रिया में ही सही, यही सब करते हैं तो दुर्बल हैं। दूसरे अज्ञानी के समान हम भी अज्ञानी हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं "तू मति होहु अयान"। तुम भी दूसरे अज्ञानी के समान अज्ञानी मत बनो। वह गुणहीन है और तुम गुणवान हो, फिर दोनों को एक में क्यों सानते हो! तुम भी नीच के समान नीच क्यों बनते हो! गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसको लात मारोगे! कुत्ता तुम्हें देखकर भोंके तो क्या तुम भी उसको भोंकोगे! चातुर का काम है कि पातुर से बचाकर चले।

किसी के उद्वेगित करने पर यदि हम उद्वेगित हो गये तो यह हमारी पशुता है। हम न स्वयं उद्वेगित हों और न दूसरों के उद्वेगित करने से उद्वेगित हों। हमारी

उच्चता हमारी सहनशीलता में है। सहनशीलता ही धर्म है, सहनशीलता ही अध्यात्म की स्थिति है और सहनशीलता ही परमार्थ की उच्च रहनी है।

मन के भास को ही ईश्वर मान लेने का भ्रम

जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥ 279॥

शब्दार्थ—मतवारे= उन्मत्त, पागल।

भावार्थ—जो लोग ईश्वर के पीछे पागल हैं वे अपने मन के द्वारा गढ़े गये उसके किसी रूप को लेकर मन-ही-मन गद्‌गद होते रहते हैं, परन्तु जैसे किसी सुन्दरी स्त्री का प्रतिबिम्ब किसी दर्पण में पड़ता हो और कोई उसे मोहवश पकड़ना चाहे, परन्तु वह पकड़ में न आवे, वैसे उसका कल्पित ईश्वर उसकी पकड़ में नहीं आता॥ 279॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने ग्रन्थरत्न बीजक में राम शब्द बहुतायत से लिया है। उनका विधेयात्मक राम व्यक्ति का हृदय-निवासी चेतन है। यदि कोई उससे अलग ईश्वर मानता है तो सद्‌गुरु उसका खंडन करते हैं। इस साखी में आया हुआ राम खंडनपरक है। यहां राम शब्द से अभिप्राय उस काल्पनिक सत्ता से है जो व्यक्ति की अपनी आत्मा से अलग मानी गयी है। मनुष्य समझता है कि मेरी अपनी चेतनात्मा से अलग कोई परम चेतन सत्ता है जिसे हम राम, रहीम, ईश्वर, ब्रह्म, गॉड आदि कह सकते हैं। वह परम आनन्द का सागर है। जब हमें वह मिल जायेगा तब हम सभी दुखों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जायेंगे। लोग उस कल्पित ईश्वर के अपने-अपने ढंग से रूप गढ़ते हैं। कोई उसे चार भुजावाला, कोई आठ भुजावाला, कोई हजारों भुजावाला मानता है। कोई उसे मोर-मुकुटधारी, कोई धनुर्धारी तथा कोई चक्रसुदर्शनधारी मानता है। कोई उसे किसी विशेष लोक में, कोई सातवें तपक पर तथा कोई उसे सर्वत्र व्याप्त कहता है। कोई उसे पुरुष के रूप में तो कोई उसे नारी के रूप में निरूपित करता है। जो व्यक्ति उसका जैसा नक्शा गढ़ता है वह व्यक्ति उसके उसी रूप के पीछे पागल रहता है और जो जिस कल्पित रूप के पीछे पागल रहता है वह उसी भाव में मगन रहता है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि वह कोई तथ्य नहीं है। वह तो केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। जो एकांत में भूत की कल्पना कर लेता है वह भयभीत हो जाता है तथा जो ईश्वर की कल्पना कर लेता है गद्‌गद हो जाता है। परन्तु न कहीं भूत है और न आत्मा से अलग ईश्वर। आदमी कल्पित ईश्वर का मन से जैसा रूप बना लेता है उसी रूप की वह निरंतर कल्पना करता है, उसी में अनुराग और प्रेम करता है, इसलिए उसे वही समय-समय पर मन में दिखाई देता है। यद्यपि वह

एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है, तथापि वह उसे ईश्वर का साक्षात्कार मान लेता है। परन्तु वह दर्पण में पड़ी हुई सुन्दरी की परिछाईं के समान मन का एक आभास है। अतएव वह पकड़ने में आने वाला नहीं है।

मनुष्य को चाहिए कि वह इन सारे भास-अध्यासों को छोड़कर अपने स्वरूप को समझे और अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करे। निज चेतनस्वरूप की गरिमा का बोध न होने से ही यह सब भटकाव है।

जौं लौं लखि नाहीं परत, तुलसी पर पद आप।
तौ लौं मोह विवश सकल, कहत पुत्र को बाप॥ तुलसी सतसई॥

साधू होना चाहिए

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के खेल।
कच्चा सरसों पेरिके, खरी भया नहिं तेल॥ 280॥

शब्दार्थ—साधू=उत्तम, विरक्त। खेल=साधना।

भावार्थ—विरक्त साधु होना चाहिए, परन्तु दृढ़ निश्चय करके साधना-पूर्वक। कच्ची सरसों पेर देने पर न तेल होता है और न खली॥ 280॥

व्याख्या—साधु के अर्थ बढ़िया, उत्तम, पूर्ण, उपयुक्त, ठीक, धार्मिक, धर्मपरायण, दयालु, शुद्ध, प्रिय, कुलीन, शिष्ट[1] आदि माने गये हैं, परन्तु साधु का रूढ़ अर्थ उससे है जो व्यक्ति घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्ति का वेष लेकर विचरण करता है। यदि कोई सच्चे ढंग से विरक्त होता है तो वह उत्तम, पूर्ण, धार्मिक, शुद्ध आदि होता ही है।

सद्गुरु कबीर घर-गृहस्थी त्यागकर विरक्त साधु होने की आज्ञा देते हैं, परन्तु वे कहते हैं, कि जब अपने मन में वैराग्य का पक्का निश्चय हो जाये और निश्चयतापूर्वक साधना भी कर ले तभी साधु-वेष धारण करना चाहिए। कुछ लोग दूसरे की देखादेखी, थोड़े उत्साह में पड़कर घर छोड़ देते हैं, ऐसे लोग पीछे पश्चाताप करते हैं। जो लोग घर के काम-धंधे के डर से आलस्यवश या केवल खाने-पीने के लिए साधु-वेष धारण करते हैं वे तो अत्यन्त निंदनीय हैं। कुछ लोग संसार में किसी प्रकार की ठोकर लगने से या प्रिय-वियोगादि से साधु-वेष में आ जाते हैं। यदि उन्हें अच्छी संगत मिल गयी, वे विवेकवान संतों की संगत में पड़ गये तथा उन्हें विवेक जग गया तो सच्चे वैराग्यवान हो जाते हैं, अन्यथा वे कुछ दिनों में पुनः लौटकर संसार में रागवान बन जाते हैं।

जब घर-गृहस्थी में रहते हुए मन में वैराग्य का भाव निरंतर प्रदीप्त होता

---

20. बृहत् हिन्दी कोश।

जाये, सारे विषय-भोग फीके लगने लगें, परिवार के लोग पराये लगने लगें, सबके प्रति आसक्ति समाप्त होती जाये और यह भाव-धारा मन में निरन्तर बनी रहे तब घर-गृहस्थी का त्याग करना चाहिए। जब घर में रहते हुए ऐसा लगे कि मानो मैं घर में नहीं हूं, जब घर-गृहस्थी के हानि-लाभ तुच्छ दिखने लगें, तभी समझना चाहिए कि मैं जीवनभर वैराग्य-पथ में रह सकूंगा। जब सब समय मन में वैराग्य एवं साधु-दशा, साधु-संग, साधु-सेवा तथा प्रपंच-रहित ज्ञान-दशा के ही सम्बन्ध में संकल्प उठने लगें तब समझना चाहिए कि मैं घर-गृहस्थी से विरक्त होने की योग्यता रखता हूं।

उत्तम वैराग्य होने पर साधु-दशा में जाना चाहिए। विरक्त होने की कोई अमुक उम्र नहीं है, परन्तु बहुतायत कैशोर एवं नवजवानी ही इसके लिए उपयुक्त अवसर है। साधु-दशा में जीवनपर्यन्त रहने की इच्छा वालों को चाहिए कि वे अपने पूर्व के माने हुए घर-गृहस्थी एवं परिवार वालों के प्रति थोड़ा भी मोह न रखें और न उनसे व्यावहारिक सम्बन्ध रखें, न वहां विशेष आना-जाना रखें। उन्हें रसासक्ति का त्याग करना चाहिए, सादा और स्वल्प भोजन करना चाहिए। उन्हें खाने, पहनने, आसन, बिस्तर आदि में यथाप्राप्ति में संतोष, अधिक प्राप्त को दूसरे की सेवा में लगाते हुए स्वयं थोड़े में गुजर करना चाहिए।

साधक को सेवा, स्वाध्याय और साधना—इसकी त्रिवेणी में निरन्तर निमज्जन करना चाहिए। आलसी आदमी वैराग्यवान नहीं हो सकता। जिसे वैराग्य होगा वह आलसी होगा ही नहीं। कामी पत्नी के लिए अथक परिश्रम करता है तो वैराग्यवृत्ति वाला साधु-सेवा में निश्चित ही पूर्ण श्रमशील होगा। सच्चा वैराग्यवान मोटा-से-मोटा काम करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करेगा। सेवा करने से चित्त शुद्ध होता है, स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है तथा साधना से वैराग्य बढ़ता है। सेवा, स्वाध्याय एवं साधना को मजबूती से पकड़ना चाहिए। जो ज्यादा उम्र में विरक्त हों, उन्हें भी शक्ति अनुसार सेवा, स्वाध्याय एवं साधना में लगे रहना चाहिए। जो लोग स्वाध्याय एवं साधना की अधिक योग्यता रखते हैं, उन्हें भी सेवा का काम यथासमय एवं यथाशक्ति करते रहना चाहिए। हमें दूसरे की सेवा मिलती है, अतः हमें भी चाहिए कि हम दूसरे की सेवा करें। भारतवर्ष और उसमें हिन्दू-समाज का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसने हजारों वर्ष से यह धारणा बना ली है कि मोटा काम करने वाला न धार्मिक है और न बड़ा आदमी। इस गलत धारणा को हमें दिल से निकाल देना चाहिए और मोटा काम करने में निष्ठा उत्पन्न करना चाहिए। साधु होने का मतलब निकम्मा होना नहीं है। हां, यह भी ठीक है कि साधु को केवल मोटे काम में अधिक लीन नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसे स्वाध्याय और साधना का समय

नहीं मिल सकेगा।

मनुष्य को चाहिए कि वह जिस दिशा में आगे बढ़ने का शौक रखे उसमें पूरे मन से लगे और मन में यह निश्चय कर ले कि मैं उस दिशा में निरन्तर आगे बढूंगा। वैराग्य-मार्ग तो सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। व्यापार करके फिर छोड़ देना उसके स्थान पर गुजर का खेती आदि दूसरा धन्धा करना तथा खेती-बाड़ी छोड़कर व्यापार आदि करना कोई बुरा नहीं है, परन्तु वैराग्य-पथ पकड़कर फिर उसे छोड़ना निंदनीय काम है। इसलिए बहुत सोच-समझकर वैराग्य-पथ के लिए कदम उठाना चाहिए और कदम ऐसा उठाना चाहिए कि उसी दिशा में निरन्तर बढ़ते जायें।

सद्गुरु ने इस साखी में साधु होने के लिए पक्का होकर खेलने की बात कही है। "पक्का ह्वै के खेल" बड़ा मार्मिक वचन है। केवल एकनिष्ठ वैराग्य मार्ग में पक्का निश्चय होना और निष्कपट तथा निश्छल भाव से साधना में लगे रहना पक्का होकर खेलना है। इससे विपरीत अधकचरे लोगों के विषय में सद्गुरु ने कच्ची सरसों का उदाहरण दिया है, जिसके पेरने पर न तेल होता है और न खली। इसी प्रकार कच्चे मन वाले घर छोड़कर साधु-वेष धारण करते हैं, वे न साधु हो पाते हैं न गृहस्थी में रहकर सेवा कर पाते हैं। उनकी दशा होती है "दोनों दीन से गये पांड़े, हलुए हुए न मांड़े"। अतएव वैराग्य-मार्ग में पक्का होकर लगना चाहिए।

मुमुक्षु को सच्चे वैराग्यवान संत की शरण पकड़ना चाहिए और उनकी सेवा में रहकर साधुत्व का काम करना चाहिए। साधु-वेष तथा अपने में पूज्यता का भाव नहीं रखना चाहिए। बहुत समय तक तो गुरु की शरण में रहते हुए भी साधु-वेष न लेना चाहिए। इसके लिए गुरुजनों को भी सावधान रहना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे भावुक बनकर जल्दी-जल्दी साधु-वेष देने के चक्कर में न पड़ें, किन्तु उन्हें साधना में कसने का प्रत्यत्न करें, और बहुत काल के बाद साधु-वेष दें।

सती लहर घड़ी एक है, शूर लहर घड़ी चार।
साधु लहर है जनम भर, मरै विचार विचार॥ साखीग्रन्थ॥

सिंहों केरी खोलरी, मेढ़ा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये, शब्दहिं देते लखाय॥ 281॥

शब्दार्थ—खोलरी=खाल, चाम। मेढ़ा=भेड़ा।

भावार्थ—यदि भेड़ दौड़कर सिंह की खाल में घुस जाये और नगर में आकर घूमने लगे तो उसे देखकर भयभीत नहीं होना चाहिए। उसकी वाणी से उसे पहचानना चाहिए। उसके मुख से निकले हुए "में-में" शब्द उसके असली

स्वरूप का परिचय करा देंगे। इसी प्रकार किसी के साधु एवं अच्छे वेष देखकर नहीं भूलना चाहिए, किन्तु ध्यान से उसकी वाणी पर विचार करना चाहिए। उसके मुख से निकले वचन उसके हृदय का परिचय करा देंगे॥ 281॥

व्याख्या—पीछे की 280वीं साखी में सद्गुरु ने यह बताया है कि किस प्रकार पक्के मन से साधु होना चाहिए। इसी सन्दर्भ में यह साखी भी कही गयी है। उदाहरण कितना मार्मिक है। मानो एक भेड़ हो, वह सिंह की खाल में घुसकर लोगों के बीच में अपने आप को सिंह प्रदर्शित करना चाहे, परन्तु उसकी वाणी तो सिंह-जैसी नहीं हो सकती। उसकी आवाज तो 'में-में' ही रहेगी। इसी प्रकार कोई विषयी-पामर एवं धूर्त मनुष्य साधु-वेष धारणकर लोगों को ठगना चाहे तो उसकी धांधलेबाजी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। वाणी हृदय की पहचान होती है। कोई कितना ही गढ़-छीलकर वाणी बोले, परन्तु थोड़े ही समय में उसकी वाणी से उसके हृदय का पता लग जायेगा।

मनुष्य की सच्ची पहचान उसके वेष से कम, उसकी वाणी एवं आचरण से ज्यादा होती है। ऐसी भी नीति है कि सज्जन को तो तुरन्त पहचान लिया जा सकता है, परन्तु दुष्ट को पहचानने में समय लगता है। सज्जन तो निश्छल एवं खुली किताब की तरह होता है, उसे जब चाहो पढ़ लो, परन्तु दुष्ट आदमी अपने आप को स्वर्णिमबर्क से ढककर रखता है। इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे ऐसे लोगों से सावधान रहें।

टोना-टामर, झाड़-फूंक, दुआ-ताबीज, मंत्र-तंत्र आदि का आडम्बर करना, किसी को पुत्र, धन, नीरोग्यतादि देने का झांसा देना, दुर्व्यसनी होना, गुहस्थों से नाना वस्तुओं की याचना करना, उत्तम-उत्तम भोजन-वस्त्र चाहना, साथ में स्त्री रखना, ब्रह्मचर्य न होना—यह सब नकली साधु के लक्षण हैं। सच्चे साधु विषय-विरक्त, शील-क्षमादि सद्गुणयुत, निर्वाह में मध्यवर्ती, यथाप्राप्त में संतोषी, सदाचारी, आडम्बररहित और विवेक-वैराग्य में तत्पर होते हैं।

मूल तत्त्व अपने भीतर है

जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहिं सो मूर।
बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गई दूर॥ 282॥

शब्दार्थ—मूर=मूल तत्त्व। गर्भ=गर्व, अहंकार। गुमान=संदेह, शक, अनुमान, घमंड।

भावार्थ—जिसे खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं, वह मूल तत्त्व तो हमारे हृदय के भीतर ही सब समय विद्यमान है। परन्तु देहादि में मैं-मेरापन का घमंड तथा अनेक संदेह, अनुमान एवं भ्रम होने के कारण उसके विषय में हम अपरिचित हैं, इसलिए वह खोया-जैसा लगता है॥ 282॥

व्याख्या—सद्गुरु ने इस साखी में जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि पर प्रकाश डाला है। मनुष्य धन, पत्नी, पुत्र, प्रतिष्ठादि सांसारिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर भी भीतर-भीतर अभाव का अनुभव करता है। धनी-से-धनी लोग मिलने पर कहते हैं—'महाराज किसी चीज की कमी नहीं है, बस केवल मन में शांति नहीं है।' परन्तु यदि मन में शांति नहीं है, तो फिर तुम्हारे पास है क्या! शांति के अलावा तो जो कुछ है, वह सब माटी है। माटी तन है, माटी धन है, माटी सब संसार।

मनुष्य रात-दिन क्या खोजता है! वह केवल दुखों से छूटना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अनंत सुख चाहता है। परन्तु यदि उसका सब दुख छूट जाये तो उसे सुख पाने की याद भी न रहे। यदि भूख-प्यास का दुख न हो तो अन्न-पानी से सुख की कल्पना होगी भी नहीं। यदि ठण्डी न लगी हो तो आग से सुख का आभास भी न होगा। हम सुख क्यों चाहते हैं! क्योंकि हम दुखी हैं। यदि हमारा सारा दुख छूट जाये, तो सुख की कल्पना समाप्त हो जाये। दुख क्या है! वस्तुतः दुख है इच्छा। यदि इच्छा मिट जाये तो सुख पाने की कल्पना मिट जाये।

सहजतया लोग कहते हैं कि यदि परमात्मा या मोक्ष मिल जाये तो जीवन से सारे दुख दूर हो जायें। परन्तु परमात्मा या मोक्ष मनुष्य की चेतना एवं आत्मा से अलग क्या वस्तु है जो मिलेगी! यदि हमारे मन की इच्छाएं मिट जायें तो परमात्मा एवं मोक्ष पाने की भी इच्छा नहीं रह जायेगी। इच्छा मात्र दुख है, बंधन है। उसके मिट जाने पर न कोई दुख रह जाता है न बन्धन। हां, इच्छाओं के मिट जाने पर भी जो दुख रह जाता है वह है शारीरिक, जिससे ज्ञानी ज्यादा प्रभावित नहीं होता। उसके आ जाने पर भी उसकी शांति बनी रहती है। इच्छाओं के त्याग का मूल है विवेक और वह मनुष्य के हृदय में ही है। उसे बाहर खोजना नहीं है, किन्तु अपने हृदय में जगाना है।

यदि हम इस ढंग से कहें कि हम परमात्मा को खोजते हैं, मोक्ष को खोजते हैं, सद्गुरु कहते हैं तो वह भी तुम्हारे हृदय से अलग नहीं है। तुम्हारी चेतना ही परमात्मा है और वही मूलतः मुक्त स्वरूप है। बस, उसे ठीक से समझकर सारे विकारों को छोड़ देना है। जब हमारी चेतना सारे विकारों से सर्वथा छूट जाती है, तब यही मोक्ष है। अनंत शांति तथा आत्यंतिक सुख का अर्थ भी यही है। जब हमारी चेतना सारे संस्कारों से छूट जाती है तब हमारे हृदय में ही अनंत सुख का सागर लहराने लगता है। सबका सार इतना ही है कि हमारी चेतना, हमारी आत्मा, हमारा अपना आपा सारी वासनाओं, सारी इच्छाओं एवं सारे विकारों से छूट जाये; बस, हम सारे दुखों से मुक्त हो जायें। हम स्वयं अनंत शांति के सागर हो जायें।

सद्गुरु ने इस साखी में कहा है कि जिसको खोजते-खोजते कल्पों बीत गये हैं वह मूलतत्त्व तो तुम्हारे हृदय में ही है। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की अवधि को कल्प कहते हैं। ऐसे असंख्य कल्प बीत गये हैं। 'कल्पों' का यहां लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल। जीव अनादिकाल से दुखों से छुटकारा चाहता है और इसी के लिए विभिन्न देश-काल में बने शब्द अनंत सुख, अनंत शांति, परमात्मा, खुदा, गॉड, अल्लाह, ब्रह्म, निर्वाण, ताओ आदि के भाव को पाना चाहता है। परन्तु ये सब भाव मनुष्य की आत्मा एवं चेतना से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। सद्गुरु कहते हैं कि जिसे तुम अनादिकाल से खोज रहे हो वह मूल तत्त्व हृदय में ही है। हृदय में भी देहोपाधि की दृष्टि से कहा जाता है, अन्यथा वह तो तुम स्वयं हो। तुम स्वयं मूलतः दुखरहित हो, मुक्त हो, परमात्मा हो, अनंत शांतस्वरूप एवं परम सुखस्वरूप हो। बस हृदय में विवेक जगाओ, सारी इच्छाओं-वासनाओं को छोड़ो और अपने स्वरूप में, अपनी चेतना में स्थित होओ।

जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप।
तहाँ होय रहु स्थीर तू, नहिं साँई भ्रम कूप॥ त्रिज्या॥

जीवन की क्षणभंगुरता

दश द्वारे का पींजरा, तामें पन्छी पौन।
रहिबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन॥ 283॥

शब्दार्थ—दस द्वारे= दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा, शिश्न और एक सिर के तलवे में माना है। पींजरा=शरीर।

भावार्थ—यह शरीर दस द्वारों का खुला पिंजरा है। इसमें प्राण-पखेरू रहता है। इसमें इसके रहने में ही आश्चर्य है, उड़ जाने में क्या आश्चर्य! ॥ 283॥

व्याख्या—कल्पना करो कि एक पिंजरा है। उसमें दस खुले हुए दरवाजे हैं। उसमें एक पक्षी बैठा है। देखा जाता है कि वह पक्षी उस पिंजरे में वर्षों बैठा रहता है। यहां तक कि लगातार पचास वर्ष, साठ वर्ष, सत्तर वर्ष, नब्बे और सौ-सौ वर्ष तक बैठा रहता है। दस-दस खुले द्वारों के पिंजरे में इतनी लम्बी अवधि तक पक्षी का निरन्तर बैठा रहना आश्चर्य का विषय है। यदि वह उसमें से किसी दिन उड़ जाये तो क्या आश्चर्य है! यह पिंजरा है शरीर तथा पक्षी है प्राण। दो आंख, दो नाक, दो कान, मुख, गुदा तथा शिश्न ये नौ खुले द्वार हैं। दसवां द्वार सिर के तालुमूल में माना गया है। शिशु के सिर पर बीच की एक खास जगह पर उंगली रखिए तो वह बड़ा कोमल होता है। वही तालुमूल है। वहां एक छिद्र है, यह एक अनुमान है। वैसे पूरे शरीर में छिद्र-ही-छिद्र हैं जो

जीव के निकल जाने के लिए काफी हैं। ऐसे असंख्य खुले द्वारों के पिंजरे में प्राणपखेरू का वर्षों, दसकों, आधी शताब्दी एवं एक शताब्दी तक टिके रहना आश्चर्य है। उड़ जाने में कोई आश्चर्य नहीं है

यह शरीर हड्डियों के जोड़ की एक झोपड़ी है जो बड़ी कमजोर है। इसमें मांस का छाजन तथा चाम का लेप है। इसकी नस-नस में रक्त भरा है। इसके भीतर टट्टी-पेशाब भरी है। यह एक प्रकार फोड़ा के समान है। जैसे पके फोड़े में जरा-सा ठोकर लगते ही वह फूटकर बह निकलता है, वैसे यह शरीर कहीं जरा-सा टकरा जाने पर फूटकर बह निकलता है। ट्रक से एक बच्चा ऐसा कुचल गया कि उसके विदीर्ण शरीर को कुदाली से खुरच कर उठाना पड़ा और उधर एक पानठेला वाला अपने ठेले में टूटकर सदा के लिए सो गया। सद्गुरु ने साखी ग्रन्थ में कहा है—

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरे थे साथ।
टपका लागा फुट गया, कछू न आया हाथ॥

कितना मार्मिक कथन है! यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है, जिसे हाथ में लेकर घूम रहे थे। इतने में किसी चीज की ठोकर लग गयी और यह फूटकर गिर गया, हाथ में कुछ भी न लगा। ऐक्सिडेंट हो गया, हार्ट-अटैक हो गया और आदमी मर गया। लोग इन्हें बड़े आश्चर्य से लेते हैं 'अरे, ऐसा कैसे हो गया?' भले आदमी, आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिए कि यह पानी का बुलबुला वर्षों टिका कैसे रहा! यदि यह मिट गया तो क्या आश्चर्य! लकड़ी पत्थर, धातु आदि के बने सामान की एक अवधि होती है। जब मकान, पुल आदि बनते हैं तब इंजीनियर यह तय करता है कि इनकी इतने वर्षों की अवधि है। परन्तु किसी प्राणी के जन्म के अवसर पर यह नहीं निर्धारित किया जा सकता है कि यह इतने वर्षों तक जीवित रहेगा। प्राणियों के जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। आदमी खा-पीकर बिस्तर पर सोता है और सुबह मरा हुआ मिलता है। बिजली की चमक के समान जवानी, सौंदर्य, मित्रों का मिलन और पूरा जीवन है।

ऐसे क्षणभंगुर जीवन का आदमी अहंकार करता है और वह दो दिनों के लिए जवानी, धन, प्रतिष्ठादि पाकर इतना इतराता है कि उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। परन्तु वह देखते-देखते एक दिन काल के गाल में चला जाता है और उसका अपना माना हुआ सब कुछ सदा के लिए छूट जाता है फिर उसकी उससे कभी मुलाकात नहीं होती। इसलिए मनुष्य को अपने माने हुए शरीर, प्राणी, पदार्थों एवं प्रतिष्ठा की क्षणभंगुरता को सदैव अपनी दृष्टि में रखना चाहिए, और उनकी गरमी से सदैव दूर रहना चाहिए। इन देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का घमण्ड ही आदमी को पतित करता है। जो व्यक्ति अपने शरीर की नश्वरता को हर समय देखता है उसे मोह-शोक नहीं होता।

क्रूरता ईश्वर-भक्ति नहीं

रामहिं सुमिरे रण भिरे, फिरै और की गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल॥ 284॥

शब्दार्थ—रण=युद्ध, लड़ाई-झगड़े। गैल=मार्ग। खोलरी=खाल, चाम।

भावार्थ—नाना मत के लोग दयालु ईश्वर का नाम तो जपते एवं उसका स्मरण करते हैं, परंतु बात-बात में राग-द्वेष करके लड़ाई-झगड़े में लग जाते हैं और एक दूसरे का खून-खराबा करने लगते हैं। ये वस्तुतः अपने ईश्वर के पथ को छोड़कर राक्षसी-पथ पर भटकने लगते हैं। इन्हें देखकर लगता है कि मानो मनुष्य की खाल ओढ़कर बैल घूम रहे हैं॥ 284॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने अपने जमाने में अपनी आंखों से देखा था और आज के युग में भी यह बात दिखायी देती है। ईसा की बीसवीं शताब्दी के इस नौवें दसक में तो ईश्वर-भक्तों की तलवारें और बन्दूकें ज्यादा चमक उठी हैं। वे ईश्वर और धर्म के नाम पर काफी क्रूर होते दिखते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग राम का स्मरण तो करते हैं। यहां राम से अभिप्राय केवल हिन्दुओं के राम से नहीं है, किन्तु अर्थ है ईश्वर। प्रायः हर मत के लोग अपने-अपने ढंग से माने हुए ईश्वर का भजन, पूजन, नामस्मरण आदि करते हैं, और यह भी कहते हैं कि ईश्वर दयालु है, सबका है, सब प्राणी ईश्वर के ही बच्चे हैं। परन्तु जबान से ऐसा कहते हुए भी वे साम्प्रदायिक और स्वार्थ की भावनाओं में इतना जलते हैं कि एक दूसरे से थोड़ी-थोड़ी बातों में लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू हो जाते हैं। लोग दूसरे मत के लोगों को, पुजारियों एवं साधकों को छूरा मार देते हैं, भून देते हैं। दूसरे के पूजा-स्थलों एवं उपासना-गृहों को आग लगा देते हैं। ये भगवान के भक्त हैं कि शैतान के बंदे! यह सहज समझा जा सकता है जो निहायत रहम वाला है, जो निस्सीम दयालु है उस ईश्वर की उपासना करने वाले निहायत क्रूर एवं शैतान बन जायें यह बात समझ में नहीं आती है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी सम्प्रदाय की साधारण जनता विशेष सांप्रदायिक नहीं होती। ज्यादा सांप्रदायिक तो वे होते हैं जो अपने आप को ईश्वर तथा धर्म के ठेकेदार मानते हैं। राजनेता भी धर्म का ढोंग बनाकर क्रूरता का खेल खेलते हैं।

ये ईश्वर और धर्म के नाम पर खून बहाने वाले ईश्वर-भक्त और धार्मिक तो हैं ही नहीं, इन्हें मनुष्य एवं इनसान कहना भी अपराध है। ये तो राक्षसी-पक्ष के

पथिक हैं। वैसे किसी दिन "रक्षामः यक्षामः"[1] कहा गया था। अर्थात जो दूसरे की रक्षा करे वह राक्षस तथा पूजा करे वह यक्ष है। परन्तु पीछे से राक्षस क्रूरकर्मी में रूढ़ हो गया। इसी रूढ़ अर्थ को लिया जाये जो आजकाल प्रचलित है तो यही कहना पड़ेगा कि ये कट्टर ईश्वर-भक्त प्राणियों के हिंसक बनकर राक्षस हो गये हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये प्राणियों की हत्या करने वाले तो मरकहे बैल हैं जो मुनष्य की खाल ओढ़कर घूमते हैं। अर्थात ये ऊपर से तो मनुष्य हैं, परन्तु भीतर से बैल हैं। "मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरत हैं बैल।" यहां बैल का अभिप्राय अविवेकी ही है। वह घोर अविवेकी है जो ईश्वर के नाम पर मनुष्यों एवं प्राणियों की हत्या करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या सभी ईश्वर-भक्त लड़ाई-झगड़ा करने वाले तथा हिंसक ही होते हैं! उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसी बात नहीं है। ईश्वर-भक्ति का मतलब लड़ाई करना नहीं, किन्तु प्रेम का प्रकाश करना है। अतएव सच्चे राम-भक्त एवं ईश्वर-भक्त तो प्राणिमात्र पर दया एवं प्रेम करने वाले होते हैं। वस्तुतः ये प्राणी ही तो राम हैं, ईश्वर हैं। इनको पीड़ा देने की बात सोचकर ईश्वर-भक्ति कैसी! ईश्वर-भक्तों की सबसे बड़ी भूल है कि वे ईश्वर को प्राणियों से अलग मान लेते हैं। इसलिए उनमें से कितने ही लोग तथाकथित ईश्वर की भक्ति करते हैं और प्राणियों का वध करते हैं। कबीर साहेब ने तथा दुनिया के अन्य विवेकियों ने ईश्वर को प्राणियों से अलग नहीं माना है। ये जीव ही ईश्वर हैं। अतः जीव की सेवा ही ईश्वर की सेवा तथा जीवों को कष्ट देना मानो ईश्वर को कष्ट देना है। कबीर साहेब ने बारम्बार इस बात पर जोर डाला है कि प्राणिजगत ही ईश्वर है। जीव ही राम है। जीवों पर दया करना ही राम-भक्ति है। इसी सिद्धान्त को मानने से संसार में अमन-चैन हो सकता है। जीव-जगत से दूर करके ईश्वर को अलग बैठा देना अपराध है। जीव से अलग ईश्वर की कल्पना ही क्रूरता को जन्म देती है। ऐसी धारणा वाले तथाकथित ईश्वर की पूजा करते हैं और जीवों की हत्या। परन्तु ईश्वर यदि कहीं चरितार्थ हो सकता है तो जीवों में ही। अतएव जीव मात्र को ईश्वर, राम, अल्लाह एवं गॉड मानकर, उन पर दया और प्रेम का बरताव करना ही असली ईश्वर-पूजा एवं राम-भजन है।

ज्ञान, गुरु और शिष्य

खेत भला बीज भला, बोये मुठी का फेर।
काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर॥ 285॥

भावार्थ—खेत उत्तम हो और बीज भी उत्तम हो, परन्तु किसानों के बोने में

---

21. रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः॥ वाल्मीकि 7/4/13॥

मूठ का फेर हो जाने से कहीं कम बीज पड़ते हैं और कहीं अधिक, और उसी प्रकार विरल तथा सघन उनके पौधे उगते हैं एवं तद्नुसार ही कम-विशेष अन्न की उत्पत्ति होती है। यदि पौधे दुर्बल हो गये हैं तो क्यों? यह खेत का ही गुण समझना चाहिए। अर्थात खेत उत्तम नहीं है। इसी प्रकार शिष्य में उत्तम योग्यता हो तथा गुरु का ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु भिन्न गुरुओं के उपदेश देने की शैली में भिन्नता होने से किसी को किसी की शैली से तथा किसी को किसी की शैली से बोध होता या नहीं होता है। यदि गुरुज्ञान ठीक होने पर भी शिष्य को बोध नहीं हुआ, तो यह शिष्य का दोष है॥ 284 ॥

व्याख्या—खेत शिष्य का हृदय है, बीज ज्ञान है, और बोने वाले उपदेशक गुरुजन हैं। शिष्य उत्तम पात्र हो और ज्ञान भी उत्तम हो, परन्तु उपदेशक गुरुओं के उपदेश देने की शैलियां एवं युक्तियां भिन्न-भिन्न होने से शिष्य के लाभालाभ में अन्तर हो सकता है। ज्ञानोपदेश वही होने पर भी कोई उसे उत्तम ढंग से समझाकर शिष्य को भलीभांति बोध करा देता है और कोई उस प्रकार बोध नहीं करा पाता। अथवा किसी उपदेशक की शैली किसी को जंचती है, और किसी उपदेशक की शैली किसी को। सबकी शैली सबको नहीं जंचती। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है—

प्रेम शोध के हेतु से, बोध मिले गुरु पाय।
कोइ काहू से बोध होय, काहू से जात दुराय॥

प्रायः देखा जाता है कि किसी व्यक्ति को एक उत्तम उपदेष्टा से संतोष नहीं मिलता और दूसरे किसी साधारण उपदेष्टा से संतोष मिल जाता है। इस प्रकार "बोये मुठी का फेर" होता है।

"काहे बिरवा रूखरा, ये गुण खेतहि केर।" उपदेष्टा गुरु तथा उपदेश ज्ञान दोनों उत्तम हैं, परन्तु शिष्य को न ठीक से ज्ञान हुआ और ज्ञान हो जाने पर न उसकी रहनी में वह स्थित हो पाया। शिष्य आध्यात्मिक शक्ति से दुर्बल ही बना रह गया, तो यह दोष है शिष्य का। उसने गुरु के उपदेशों का पालन नहीं किया। वही गन्ना निर्बल खेत में बोने से पतला-पतला तथा कम रस वाला होता है और वही गन्ना उर्वर खेत में बो दिया जाये तो मोटा-मोटा तथा खूब रस वाला होता है। गुरु का एक ही ज्ञान भिन्न शिष्यों के पात्रत्व के अनुसार भिन्न मात्रा में फल पैदा करता है। अतएव खेत और बीज दोनों के गुण उत्तम होने चाहिए। अर्थात ज्ञान सच्चा होना चाहिए और शिष्य को सच्चा हृदय करके उसे धारण करना चाहिए।

सच्चा ज्ञान वह है जो विश्व के शाश्वत नियमों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के अनुकूल हैं। अंततः जड़वर्ग से अपनी चेतना को अलग समझ लेना ही ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है। मैं सब का साक्षी, सबसे भिन्न स्वतः असंग एवं परम

तृप्तस्वरूप हूं यही ज्ञान का अन्त है।

इसका देने वाला सद्गुरु है। जो सारी भ्रांतियों से रहित, सबका पारखी है और अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित है, वही सच्चा सद्गुरु है। सच्चे ज्ञान तथा सच्ची रहनी से संपन्न संत ही सद्गुरु है।

शिष्य का शिष्यत्व है उसका खुला हृदय, निष्पक्ष प्रज्ञा, विनम्रभाव, सत्य को जानने और उसका आचरण करने की तीव्र पिपासा।

गुरु-सीढ़ी से पतन का परिणाम

गुरु सीढ़ी ते ऊतरै, शब्द बिमूखा होय।
ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय॥ 286॥

शब्दार्थ—काल=कल्पना, वासना।

भावार्थ—जो व्यक्ति सद्गुरु की ज्ञान-सीढ़ी से उतर जाता है और उनके सत्योपदेशों से विमुख हो जाता है, उसको दुर्वासना रूपी काल घसीटकर संसार में रगड़ता है। उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता॥ 286॥

व्याख्या—किसी मकान के ऊपरी तल्ले पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां होती हैं। आदमी एक-एक सीढ़ी पर पैर रखते-रखते ऊपर चढ़ता है। यदि चढ़ने वाला बीच ही से लौट पड़ता है और उन सीढ़ियों पर से उतरने लगता है तो वह नीचे चला आता है।

सद्गुरु ने यहां गुरु-सीढ़ी से उतरने वाले की दुर्दशा का वर्णन किया है। गुरु-सीढ़ी क्या है? 'गुरु' का शाब्दिक अर्थ होता है 'भारी'। इसके अनेक अर्थ हैं, परन्तु इस संदर्भ में तीन अर्थ हो सकते है; पहला अर्थ है कि गुरु वह व्यक्ति है जो अपने पवित्र आचरण, रहनी तथा सत्योपदेश से शिष्यों को प्रेरितकर उनको कल्याण मार्ग में लगाने वाला होता है; गुरु का दूसरा अर्थ होता है 'गुरु-दशा' जिसमें स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की रहनी होती है और गुरु का तीसरा अर्थ शुद्ध चेतन है। पहला अर्थ व्यक्तिवाचक है, दूसरा भाववाचक है और तीसरा परिनिष्ठित शुद्ध चेतनवाचक है। परन्तु सबका उद्देश्य एक है अपनी आत्मचेतना के शिखर पर आरोहण करना। व्यक्ति-गुरु की सेवा मूल उद्देश्य नहीं है। व्यक्ति-गुरु की सेवा तथा आज्ञापालनादि भक्ति मार्ग तो इसलिए आवश्यक है कि साधक इसके द्वारा ही अपने कल्याण-मार्ग में बढ़ सकता है। पवित्र रहनी भी इसीलिए धारण करना है जिससे हम अपने स्वरूप में टिक सकें। बिना पवित्र रहनी के मन स्थिर ही नहीं होगा जो अपने स्वरूप में टिकने योग्य हो सके। गुरु के उपदेश से साधक एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ता है। अर्थात सेवा, आज्ञापालन, स्वाध्याय, साधना की सीढ़ियों से होते हुए वह ऊपर उठता है। साधक का उद्देश्य है व्यक्ति-गुरु के उपदेशों के सहारे अपने गुरु-

भाव, श्रेष्ठ-भाव में ठहरते हुए अपने परम गुरुत्व स्वरूप में स्थित हो जाये।

कुछ साधक ऐसे होते हैं जो समझ की कमी, अविवेक के जोर तथा कुसंग के आवरण के कारण कल्याण-मार्ग से शिथिल हो जाते हैं। वे अपने दुर्भाग्यवश गुरुत्व पर चढ़ने की अपेक्षा उससे उतरना शुरू कर देते हैं। वे गुरु-संतों की आज्ञाओं का उल्लघंन करते हैं। उनकी अवमानना करते हैं। सामाजिक नियमों तथा साधना के नियमों को तोड़ने लगते हैं। वे सेवा नहीं करना चाहते, आज्ञा पालन नहीं करना चाहते, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय न कर साधना-विरोधी पुस्तकें पढ़ने लगते या प्रपंच-वार्ता में समय बिताने लगते हैं, जिससे भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य में गिरावट आये ऐसा व्यवहार करने लगते हैं। यही सब गुरु-सीढ़ी से उतरना है। जो स्वरूपस्थिति के शिखररूपी गुरुत्व पर चढ़कर सदैव के लिए संसार-कीचड़ से मुक्त होना चाहता था, वह कुछ दूर चलकर यदि उससे लौट पड़ा है तो यही गुरु-सीढ़ी से उतरना है; और यही "शब्द-बिमूखा" होना है।

ऐसे साधक की दशा क्या होती है? सद्गुरु कहते हैं "ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहिं कोय।" उसको काल संसार-नगर में घसीट-घसीट कर रगड़ता है। उसे उससे कोई बचा नहीं सकता। काल हैं मन की दुर्वासनाएं, कल्पनाएं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, चिंता, शोक, विकलता, भ्रांति ये सब भयंकर काल हैं, जिन्हें जीव ही ने अपने स्वरूप की भूल से बना रखे हैं। जब साधक गुरुत्व के शिखर पर चढ़ने लगता है तब ये काल कमजोर पड़कर मरने लगते हैं और जब कोई अभागा साधक गुरुत्व-शिखर की सीढ़ियों से उतरने लगता है तब ये काल पुनः बलवान होकर जीव को पीड़ित करने लगते हैं। कामादि विकारों के अधीन बना संसार में भटकना ही तो उसके द्वारा घसीटे जाना है! एकमात्र गुरु ही इस काल से छुड़ाने वाला है और जिस मूढ़ जीव ने उन्हीं की अवहेलना कर दी उसे काल के गाल से कौन बचावे! मौत को काल कहते हैं जो केवल शरीर को समाप्त करती है, परन्तु मानसिक विकाररूपी काल मनुष्य का पतन करते हैं। अतः साधक को चाहिए कि वह प्रमाद छोड़कर गुरु-सीढ़ी पर उत्तरोत्तर चढ़ता जाये। नीचे उतरने का तो ख्याल भी न करे।

कामनाओं का ताप

भुँभरी घाम बसै, घट माहीं।
सब कोइ बसै, सोग की छाहीं॥ 287॥

शब्दार्थ—भँभुरी घाम=वह धूप जिसमें सामान्य बदली हो, इसमें अधिक गरमी होती है। घट=शरीर, अंतःकरण। सोग=शोक।

भावार्थ—हलकी बदली की उत्तप्त धूप के सदृश मनुष्य के हृदय में नाना कामनाओं की तपन रहती है, इसलिए सभी सकामी जीव शोक की छाया में

बसते हैं॥ 287॥

व्याख्या—गरमी या वर्षा काल में दिन में जब बहुत पतली बदली रहती है तब उससे छनकर आयी हुई धूप बहुत गरमी पैदा करती है। क्योंकि उस समय हवा नहीं चलती। यदि हवा चले तो बादल फट जायें। यदि मोटी बदली रहे तो गरमी न हो और यदि हवा चले तो पतली बदली न हो। परन्तु हवा भी नहीं चलती और मोटी बदली भी नहीं रहती, किन्तु पतली बदली रहती है। तो उससे छनकर सूरज की गरमी पृथ्वी पर व्याप्त हो जाती है। इसे 'भुंभुरी घाम' कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य, भुंभुरी घाम तो तुम्हारे हृदय में बसता है। हृदय का भुंभुरीघाम है कामनाओं की ज्वाला। आदमी भीतर-भीतर कामनाओं की ज्वाला में झुलसता रहता है। कामनाओं की ज्वाला भुंभुरीघाम है। इससे परित्राण पाने के लिए वह भोगों को खोजता है। वह समझता है कि भोग शीतल छाया है। परन्तु भोगों को भोगने से तो कामना ज्वाला और धधकती है, तथा उसके परिणाम में चिंता-शोक की वृद्धि होती है। इसलिए मानो सारे सकामी जीव शोक की छाया में बसते हैं। छाहीं का अर्थ है धूपरहित जगह अथवा आश्रयस्थल। यहां छाहीं का अर्थ आश्रयस्थल है। सद्गुरु कहते हैं कि लोग कामनाओं के भुंभुरीघाम एवं उत्तप्त धूप में जलते हैं और उससे बचने के लिए एवं कामनाओं की तृप्ति के लिए भोगों को पकड़ते हैं जो शोकरूप हैं। अतः भोगों में पड़कर मानो शोक की जगह में जाना है। भोगी जीव को आश्रयस्थल मिलता है शोक का। कामनाबद्ध जीव भोगों का आश्रय पकड़ता है जो वस्तुतः शोक है। कामनाओं से भोग तथा भोगों से शोक का मिलना उसका स्वाभाविक क्रम है।

जब आदमी को तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि पीने की इच्छा होती है तब उसे तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट तथा शराब शीतल छाया लगते हैं। जब मैथुन भोग की कामना जगती है, तब स्त्री को पुरुष का एवं पुरुष को स्त्री का अंग-मिलन शीतल छाया लगता है। इसी प्रकार जब किसी भी भोग की इच्छा जगती है तब वह भोग शीतल छाया के समान लगता है। परन्तु भोग शीतल-छाया नहीं, शोक-छाया है। शीतल-छाया तो इच्छा-त्याग, भोग-त्याग एवं संतोष है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भोग-इच्छा के ताप से बचकर संतोष की शीतल छाया पकड़े।

जीव की सर्वोच्चता

जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।
छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय॥ 288॥

शब्दार्थ—छौ=छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश तथा

ब्राह्मण। लाख=लाखों, बहुत अधिक। छियानबे=छानबे भेद—दस-संन्यासी, बारह-योगी, चौदह-दरवेश, अठारह-ब्राह्मण, अठारह-जंगम तथा चौबीस-सेवड़ा। सहस=सहस्र, हजार, हजारों। रमैनी=प्रार्थना, नामजपादि, दोहे, पदादि।

भावार्थ—जो कोई मिलता है वह ज्ञान का अहंकारी उपदेश देने वाला गुरु बनकर मिलता है, सच्चा ज्ञान लेने वाला निष्कपट एवं विनम्र शिष्य बनकर कोई नहीं मिलता। परन्तु मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं कि छह दर्शनों के लाखों ग्रन्थों और उनके छानबे भेदों के हजारों पूजा, पाठ, प्रार्थना आदि एक जीव पर ही होते हैं। अर्थात सारी कल्पनाओं एवं ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र में जीव ही है॥ 288॥

व्याख्या—"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इसका सीधा एवं शाब्दिक अर्थ है कि मुझे आज तक जो मिला वह गुरु बनकर मिला, शिष्य बनकर कोई नहीं मिला। यह शाब्दिक अर्थ मान लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि इस साखी के रचते तक कबीर साहेब को कोई शिष्य नहीं मिला था। परन्तु यह अर्थ मान लेना अनर्थ करना है। यहां अर्थ शाब्दिक नहीं, किन्तु लाक्षणिक है। तात्पर्य है कि अपनी उलटी-सीधी बातों को ज्ञान मानकर उपदेश झाड़ने वाले ज्यादा मिलते हैं, किन्तु विनम्रतापूर्वक सत्यज्ञान लेने वाले कम मिलते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक के सामने कई बार ऐसा प्रसंग पड़ता है कि लोग मिलने आते हैं और वे शुरू से आखिर तक अपनी उलटी-सीधी बातें बिना सांस लिये झाड़ते जाते हैं। कितने लोग धर्म के नाम पर चलने वाले बकवास, चमत्कार तथा अंधविश्वास की बातें करते रहते हैं और कितने लोग तो अपने घर के व्यवहार, यहां तक कि वे कैसे खिचड़ी में नीबू निचोड़कर तथा अधिक मात्रा में तरोई की सब्जी खाते हैं इसका दसों बार घुमा-घुमाकर वर्णन करते हैं। वे पूरे समय में एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते। परन्तु जब उठकर चलते हैं तब कहते हैं कि आपके सत्संग में बड़ा आनन्द आया।

लोगों को जो कुछ परम्परा से प्राप्त शब्द हैं उन्हीं को वे ज्ञान मानते हैं, उन्हीं को वे दूसरे के गले उतारना चाहते हैं, परन्तु स्वयं दूसरे का कुछ भी नहीं सुनना चाहते। मतवादी तो अपने मतवाद के भूत होते ही हैं, साधारण आदमी भी, जिसके मन में जो बात जमी है उसे छोड़ना नहीं चाहता है, बल्कि उसे दूसरे को मनवाना चाहता है। मतवादी तो अपने आप को ईश्वर के उत्तराधिकारी एवं सत्य के ठेकेदार ही मानते हैं। वे दूसरे की बातें कहां मानने लगे! किसी का पूज्य पुरुष ईश्वर का अवतार है, किसी का पूज्य तो स्वयं ईश्वर ही है। ऐसी भ्रांत मानसिकता के लोग जो कुछ उलटे-सीधे अपने मत बना रखे हैं उन्हीं के पोषण में सदैव पड़े रहते हैं।

ईश्वर, अवतार, पैगम्बर-जैसी काल्पनिक बातें हटाकर और मत, परम्परा, पुराने पुरुष, पुराने ग्रन्थ, बड़े जनसमाज एवं भारी जनमत का पक्ष छोड़कर केवल सत्यज्ञान के लिए निष्पक्ष एवं विनम्र अन्वेषण करने वाले बहुत कम लोग हैं। कम लोग भले हों, परन्तु निष्पक्ष जिज्ञासु सब समय तथा सब देश में कुछ-न-कुछ होते हैं। इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं अपनी बातें कहे दे रहा हूं। कबीर साहेब की बातें बड़ी पैनी हैं। वे कहते हैं—

"छौ लाख छियानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय।" छह दर्शन—योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण हैं। इनके अन्दर संसार के समस्त मत को समझ लेना चाहिए। छह दर्शनों के छानबे पाखंड माने गये हैं "छौ दर्शन छानबे पाखंडा"[1] अर्थात छह दर्शनों के छानबे भेद। जैसे आजकल केवल छह दर्शन ही नहीं, बहुत हो गये हैं, वैसे उनके छानबे ही भेद नहीं किन्तु असंख्य भेद हैं। अतएव यहां भी शाब्दिक अर्थ न मानकर लाक्षणिक ही मानना चाहिए। अर्थात संसार के असंख्य मतों के असंख्य ग्रंथ एवं उनके असंख्य भेदों के असंख्य पूजा, पाठ, मान्यताएं, उपासना-पद्धतियां आदि "एक जीव पर होय"—एक जीव के कल्याण के लिए कल्पे गये हैं। इन सब के केन्द्र में एक जीव ही है। मनुष्य-जीव ही ने तो नाना मत खड़े किये, ईश्वर, अल्लाह, अवतार, पैगम्बर की कल्पनाएं गढ़ी, अपनी किताबों को इलहामी और ईश्वरीय कहने का दुस्साहस किया। इसी ने ज्ञान-विज्ञान के नाना प्रयोग किये, नाना उपासना-विधियां एवं मान्यताएं चलायीं। जीव न होता तो यह सब कुछ नहीं होता।

सद्गुरु कहते हैं कि कोई सुने या न सुने, परन्तु यह परम सत्य है कि जीव ही सर्वोच्च सत्ता है। कोई अपनी आत्मा का तिरस्कार करके बाहर से परमात्मा पाने की आशा करता है तो यह उसकी दुराशा है। "छौ लाख छानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय" इस पंक्ति का यदि सपाट अर्थ किया जाये तो भी सार अभिप्राय यही होगा कि छह लाख छानबे हजार रमैनियां अर्थात दोहे, चौपाइयां, प्रार्थनाएं, सूत्र, श्लोकादि सब एक जीव ही की महिमा है। सब कुछ उसी से निकले हैं। इस सपाट अर्थ में भी "छौ लाख छानबे सहस" का लाक्षणिक अर्थ ही होगा। अभिप्राय है कि असंख्य वचन जीव से ही निकले हैं और उसी के कल्याण के लिए ही कहे गये हैं।

"जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।" इस पंक्ति को इस प्रकार भी संतों ने समझाने की चेष्टा की है कि जो स्वरूपस्थिति में मिला वह गुरु ही मिला, कोई शिष्यत्व का परदा रखकर स्वरूपस्थ नहीं हो सकता। स्वरूपस्थ

---

22. बीजक, रमैनी 1।

व्यक्ति ही तो गुरु है। यह अलग बात है कि देहभाव से एवं व्यवहार में वह अपने गुरु का शिष्य है परन्तु बोधभाव एवं स्वरूपस्थितिदशा में गुरु है। श्री पूरण साहेब ने कहा है—"देह भाव से दास कहावै। पारख भाव से एक होय जावै॥"

स्वाभाविक अर्थ पहले वाला ही है कि प्रायः लोग ज्ञान का अहंभाव लेकर अर्थात गुरु बनकर ही मिलते हैं, ग्राहक शिष्य बनकर कम लोग मिलते हैं। इसी सन्दर्भ सद्गुरु आगे कहते हैं—

सत्यज्ञान का पिपासु निष्पक्ष एवं विनम्र होता है

जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाहिं॥ 289॥

शब्दार्थ—हौं=मैंपन, अहंकार। गाहक=ग्रहण करने वाला जिज्ञासु। छाहिं= सहारा, आश्रय।

भावार्थ—जो सत्यज्ञान ग्रहण करने का इच्छुक जिज्ञासु होता है उसमें किसी प्रकार अहंभाव नहीं होता, और जिसमें किसी प्रकार का अहंभाव होता है वह सच्चा जिज्ञासु नहीं होता। वह तो कुछ शब्दों का सहारा पकड़कर बिना विवेक भटकता फिरता है॥ 289॥

व्याख्या—सत्यइच्छुक ज्ञानपिपासु के मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं होता। वह तो अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से सत्य की खोज करता है और ज्ञानदाता सच्चा सद्गुरु पाकर भलीभांति छकता है। परन्तु जिसके हृदय में धन, मकान, परिवार, शरीर, जवानी, रूप, जाति, पद, विद्या, अधिकार आदि का मद है; अथवा नाना मत, पथ, ग्रन्थ एवं किसी विख्यात मनुष्य का पक्ष तथा अहंकार है, वह न सत्य का ग्राहक है और न सत्यबोध को प्राप्त कर सकता है। वह तो विवेक से हाथ धोकर सुने-सुनाये कल्पित शब्दों की पूंछ पकड़कर भटकता फिरता है।

कितने लोग कहते हैं "पदुम अठारह यूथप बंदर" अर्थात रामादल में अठारह पद्म सेनापतियों का होना क्या असत्य हो जायेगा! कुम्भकरण की सौ योजन (बाहर सौ किलोमीटर) लम्बी देह, रावण के दस मुख तथा बीस हाथ, भागवत वर्णित राजा प्रियवत का ग्यारह अरब वर्ष राज्य करना तथा उनके रथ के पहिये के चलने से समुद्र बन जाना क्या झूठ हो सकते हैं! उपनिषद्-वर्णित कहीं जल से, कहीं प्राण से, कहीं तेज आदि से सृष्टि का होना, बाइबिल वर्णित बिना कारण के ही ईश्वर का छह दिनों में सृष्टि रच डालना, ईसामसीह के अनेक चमत्कार, कुरान-वर्णित खुदा के केवल 'हो जा' कह देने से झट से जगत उत्पन्न हो जाना आदि धर्म तथा ईश्वर की बातें हैं। ये गलत नहीं हो सकतीं। ये ईश्वर के

रचे वेद, अल्लाह का भेजा कुरान तथा गॉड की प्रेषित बाइबिल में क्या एक अक्षर भी असत्य हो सकता है! क्या वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, भागवत, कुरान, बाइबिल आदि में एक अक्षर भी झूठ हो सकता है!

तथाकथित ईश्वर के नाम से जुड़े हुए ग्रन्थों में जो कुछ लिख दिया गया है उनमें थोड़ा भी न नु न च करना, थोड़ा भी तर्क करना वे लोग अपराध मानते हैं। हां, वे दूसरे की ईश्वरीय कही जाने वाली किताबों की बातों पर अपनी टिप्पणी पेश करते हैं, परन्तु जब अपनी किताबों पर बात आती है तब उसे केवल श्रद्धा से देखने की बात करते हैं। वे उस पर थोड़ा भी सोचने का अवसर नहीं देना चाहते। इस प्रकार केवल शब्द-प्रमाण की दोहाई देने वाले एवं शब्दों की छांह पकड़ने वाले सत्य के ग्राहक नहीं होते। वे तो अपने मूल ग्रन्थ एवं आचार्य की बातों की पुष्टि के लिए दूसरे का खंडन करेंगे, दूसरे को नास्तिक एवं काफिर कहेंगे, परन्तु अपने मत का अभिमान छोड़कर सत्य की परख नहीं करेंगे।

"कुल-पशु गुरु-पशु, वेद-पशु, काम-पशु संसार। मानुष ताको जानिये, जाहिं विवेक विचार।" यहां वेद से अर्थ ऋग्वेदादि प्रसिद्ध चार पुस्तकों से नहीं है, किन्तु अपने-अपने मत के शास्त्रों से है। जो बिना विवेक-विचार किये कुल-परम्परा के रस्मों-रिवाज को, गुरु की बातों को तथा शास्त्रों की बातों को ढोता है और काम-वासना में अंधा रहता है वह पशु है।

मनुष्य वह है जिसके हृदय में विवेक-विचार है। गुरु, शास्त्र, परम्परा सब आदरणीय हैं, परन्तु विवेक छोड़कर नहीं।

कबीरदेव इस साखी में बताते हैं कि जो सत्यज्ञान का पिपासु होता है वह कुल-परम्परा, गुरु, शास्त्र आदि का पक्ष छोड़कर विनम्रतापूर्वक छान-विचार करता है। परन्तु जहां सत्यज्ञान की इच्छा न होकर केवल अपनी मानी हुई बातों को ही सर्वोपरि बताने का हठ है वहां तो बस, शब्दों की ही दोहाई दी जाती है कि यह लिखा है वह लिखा है। ऐसे लोग अपने माने गये शास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते फिरते हैं।

गुणग्राही ही पारखी है

नग पषाण जग सकल है, पारख बिरला कोय।
नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय॥ 290॥

शब्दार्थ—नग=रत्न। पषाण=पाषाण, पत्थर। पारख=परख, परीक्षा, सांच-झूठ समझने की शक्ति।

भावार्थ—सारे संसार में रत्न और पत्थर दोनों हैं, अर्थात गुण और दोष, जड़ और चेतन सर्वत्र हैं, परन्तु इनकी परख करने वाला बिरला कोई है। नग से

भी उत्तम उसके पारखी हैं जो संसार में कम होते हैं॥ 290॥

व्याख्या—सारा संसार जड़-चेतन एवं गुण-दोषमय है। विवेकी-पारखी पुरुष जड़ को छोड़कर चेतन को तथा दोष को छोड़कर गुण को ले लेता है।

"नग पषाण जग सकल है" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है। न तो संसार का कोई हिस्सा दूध का धोया है और न एकदम बुरा है। एकांगी दृष्टि वाला किन्हीं देश, प्रदेश, कुल, परम्परा, मत, शास्त्र आदि की बेतहाशा बड़ाई करने लगता है और किन्हीं की निंदा करने लगता है, परन्तु निष्पक्ष विचारक ऐसा न कर हर जगह से दोषों को छोड़कर केवल सद्गुण ले लेता है। हम दूसरे मत की निंदा में डट पड़ते हैं और मान लेते हैं कि दूसरे के मतों में केवल बुराइयां हैं, परन्तु विचारकर देखें तो हमारे मत में भी कहीं-न-कहीं कोई त्रुटि हो सकती है और दूसरे के मतों में भी अच्छाई है ही। ऐसा तो कोई मत है ही नहीं कि उसमें अच्छाई न हो। कोई मत, कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, कोई वस्तु, कोई देश तथा कोई काल ऐसा नहीं है जिसमें अच्छाई न मिले।

एक जिज्ञासु ने किसी संत के पास जाकर उनसे दीक्षा चाही। संत ने कहा कि तुम मुझे गुरुदक्षिणा में क्या दोगे? जिज्ञासु ने कहा कि महाराज, आप ही आज्ञा दें। संत ने कहा कि कोई ऐसी वस्तु मुझे गुरुदक्षिणा में दो जो बिलकुल बेकार हो। जिज्ञासु ने अवसर मांगा। छह महीने बीत गये परन्तु उसे ऐसी वस्तु नहीं मिली कि जो बिलकुल बेकार हो। उसने अपना दृष्टिकोण संत से कह सुनाया कि महाराज, संसार में तो कोई वस्तु नहीं मिली जो एकदम बेकार हो। मैं आपको बेकार चीज कहां से लाकर दूं। संत ने कहा—बस, बेटा! तू मेरे द्वारा दीक्षा का पूर्ण अधिकारी है, तेरे में तो पूर्ण शिष्यत्व है। जिसकी दृष्टि इतनी गुणग्राही हो, वही सच्चा जिज्ञासु है।

एक ही वस्तु में कई पहलू होते हैं, कोई पहलू गुणमय होता है और कोई पहलू दोषमय। गुलाब के पेड़ में फूल गुणमय हैं और कांटें दोषमय। पारखी फूल ले लेता है और कांटें छोड़ देता है। जग जानता है कि समझदार लोग पत्थर में से सोना, मिट्टी में से पानी, तेल, पेट्रोल, अनेक धातु आदि खनिज पदार्थ, भूसी तथा छिलके में से चावल, दाल तथा फल आदि ले लेते हैं। इसी प्रकार सबके मतों, ग्रंथों एवं सब प्राणी-पदार्थों से अच्छाई छांटकर ले लेना पारखी का काम है। यहां तक कि एक ही वस्तु का सदुपयोग करने से वह गुणमय बन जाती है और दुरुपयोग करने से दोषमय। जैसे रुपये परोपकर में लगाओ तो वे कल्याणकारी तथा दूसरे की हत्या करवाने में लगाओ तो पतनकारी बनते हैं। यहां तक कि विष को शोधकर दवाई के काम में लेने से वह अमृत बन जाता है। और अन्न जो अमृत है, गलत तरीके तथा ज्यादा खाने से मारक विष बन जाता है। घी और मधु दोनों स्वास्थ्यवर्द्धक हैं, परन्तु कहते हैं

कि दोनों को बराबर मात्रा में मिला देने से विष बन जाता है।

सच्चा पारखी वही है जो न तो कहीं ममता करता है और न कहीं घृणा एवं वैर। वह सब जगह से दोषों को त्यागते हुए केवल सद्‌गुण ग्रहण करता है। "नग पषाण जग सकल है" इस छोटे वाक्य में निष्पक्षता, विनम्रता, दीर्घदृष्टि एवं परम विवेक समाये हैं। भव-बन्धन का मूल है राग-द्वेष, और राग-द्वेष का मूल है उक्त बात को न समझ पाना। जो यह समझता है कि सर्वत्र गुण-दोष हैं, वह कहीं से राग-द्वेष नहीं करता, किन्तु सब जगह से दोषों को छोड़ते हुए केवल सद्‌गुणों का चयन करता है।

'नग पषाण' के लक्षणा अर्थ में गुण-दोष हैं, वैसे चेतन और जड़ हैं। विवेकवान सर्वत्र जड़-चेतन का विवेक रखता है। वह मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, चांद, सूरज, तारे, नदी, पर्वत, पेड़ आदि की वंदना नहीं करता। वह समझता है कि ये सब जड़ हैं। वह जानता है कि किसी महापुरुष के चित्र एवं मूर्ति आदि केवल स्मारक हैं, इसलिए वह उनको नहलाने, सुलाने, जगाने आदि के चक्कर में नहीं पड़ता। जड़-चेतन का पारखी जानता है कि असंख्य ग्रह, उपग्रह, छह ऋतुएं, नदी, झरने, वन, पर्वत, बादल, वर्षा, भूचाल, ज्वालामुखी, अतिवर्षण, अवर्षण आदि जड़प्रकृति का खेल है। इनमें किसी चेतन की कोई सत्ता नहीं है। वह समझता है कि भूत, प्रेत, देवी, देवता एवं अनेक काल्पनिक अवधारणाएं केवल मनुष्यों के मनोराज्य हैं। पारखी अपने स्वरूप को चेतन समझता है और उसे जड़ से सर्वथा भिन्न मानता है। वह जड़-चेतन को सर्वदा-सर्वथा भिन्न समझता है। वह अपने चेतनस्वरूप को, देह, मन, प्राण, तेज, शब्द आदि समस्त जड़ दृश्यों से अलग समझकर उनमें से अपने आप को उसी प्रकार निदाग निकाल लेता है जैसे कोई मूंज में से सींक निकाल लेता है। समस्त जड़दृश्यों से अपने चेतन स्वरूप को अलग समझकर असंग स्थिति प्राप्त करना ही पारखी का मुख्य लक्षण है।

सद्‌गुरु कहते हैं—"पारख बिरला कोय"। कोई बिरला ही गुण-दोष एवं चेतन-जड़ की परख करता है। शेष लोग तो दोष देखने की प्रवृत्ति में पड़कर दूसरों के सद्‌गुणों का भी तिरस्कार कर देते हैं और चेतन-जड़ का विवेक खोकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे ज्ञानी कहलाने वाले तक कहते हैं—"मैं चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, यह सारा विश्व मेरा स्वरूप है। जैसे जल और तरंग एक है, जैसे स्वर्ण और आभूषण एक है, जैसे मिट्टी और घट एक है वैसे चेतन और जड़ एक है।" ऐसी मान्यता रखने वाले अपनी परखशक्ति को दरकिनार कर मतवाद में पड़े उलझे रहते हैं। कोई बिरला ही ऐसी दृष्टि रखता है कि सर्वत्र दोषों को त्यागते हुए सद्‌गुण ले तथा जड़ासक्ति त्यागकर चेतनस्वरूप में स्थिति हो।

"नग ते उत्तम पारखी, जग में बिरला होय।" रत्नों से श्रेष्ठ रत्नों का पारखी होता है। सद्गुणों से श्रेष्ठ वह है जो उन्हें सर्वत्र से लेकर अपने जीवन में उनका आचरण करता है। इसी प्रकार सभी सामान्य चेतन जीवों से वह श्रेष्ठ है जो उनका पारखी है। इस पूरी साखी में सद्गुरु ने पारखी की विशेषता बतायी है। पारखी वही है जो सर्वत्र से दोषों को त्यागते हुए सद्गुण ग्रहण करता है तथा जड़दृश्यों से लौटकर अपने चेतनस्वरूप में स्थित है।

सारा सम्बन्ध स्वप्नवत है

सपने सोया मानवा, खोलि जो देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन॥ 291॥

शब्दार्थ—लूट=डकैती; यहां लूट का व्यंजनात्मक अर्थ है आनन्द या क्लेश।

भावार्थ—आदमी सोते समय सपने देखता है। उसे उनमें आनन्द भी मिलता है तथा क्लेश भी। परन्तु जब वह जागकर तथा नेत्रों को खोलकर देखता है, तब उसे सपने के सुख-दुख से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही दशा संसार के जीवों की है। वे अज्ञानवश संसार में सुख-दुख के झमेले में पड़े रहते हैं, परन्तु जब वे विवेकज्ञान की आंखें खोलकर देखते हैं, तो उन्हें उनसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता॥ 291॥

व्याख्या—हम रोज रात में सोते हैं। जब तक गाढ़ी नींद नहीं आती तब तक अर्ध-सुषुप्ति रहती है। उसमें हम सपने देखते हैं। सपने में हम मानो भैंसे, हाथी या सिंह से खदेड़े जाते हैं, कहीं मानो शत्रुओं द्वारा सताये जाते हैं। चोर, डाकू, अग्नि, सांप, नदी, वनादि के भय से पीड़ित होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न में दरिद्रतादि अनेक दुखों से हम ग्रसित होते हैं। इसके विपरीत कभी हम ऐसे भी सपने देखते हैं कि मानो हमें बहुत बड़ा पद, अधिकार, धन, मित्र एवं सुख की सारी अनुकूलताएं मिल गयी हैं। परन्तु जब नेत्र खुलते हैं, तब वे दोनों झूठे सिद्ध होते हैं।

यही दशा हमारे सांसारिक जीवन एवं सांसारिक उपलब्धियों की है। जिन्हें हम सपना कहते हैं उन्हें हम आंखें मूंदकर सोते समय देखते हैं। परन्तु संसार के सपने हम आंखें खोलकर जागते समय देखते हैं। हमें बहुत सुन्दर एवं बलवान शरीर मिला, बहुत प्राणी, पदार्थ, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि मिले; परन्तु ये देखते-देखते खोते चले जाते हैं। इसी प्रकार दुख, अपमान, प्रतिकूलतादि भी अंततः खो जाते हैं। जीवन की शुरुआत के सुख-दुख, दस वर्षों के पूर्व के सुख-दुख, गत वर्ष के सुख-दुख यहां तक अभी बीते हुए कल के सुख-दुख आज कहां हैं! बादल की पुतली, चलती रेलगाड़ी की छाया एवं बिजली की

चमक के समान ये सारी उपलब्धियां हमसे दूर भागी चली जाती हैं। इनमें कहां स्थायित्व है!

संसार के बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान राजों-महाराजों पर दृष्टि डालिए, सिकन्दर, अशोक, अकबर ये सब कहां गये।! पुराणों को पढ़िए, महाभारत तथा रामायण को पढ़िए, उनमें वर्णित बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान केवल चर्चा के विषय हैं। स्वप्न में आनंद मिला, क्लेश मिला, परन्तु आंखें खुलीं और सब गायब! इसी प्रकार जीवन में उपलब्ध समस्त अनुकूलता-प्रतिकूलता देखते-देखते शून्यता में बदल जाती है। "जीव परा बहु लूट में, ना कछु लेन न देन।" इस पंक्ति में लूट शब्द व्यंजनात्मक है। यह लाभ और हानि दोनों के लिए संकेत करता है, जैसे ये बहुत लूट में पड़े हैं, अर्थात बड़े आनन्द में पड़े हैं या बड़ी परेशानी में पड़े हैं। संसार के सारे हानि-लाभ क्षण-क्षण बीतते जाते हैं और सपने के समान पीछे से वे केवल मन में याद होते हैं, और जब जीवन समाप्त हो जाता है तब तो सब कुछ सुषुप्ति के समान शून्य हो जाता है। फिर उनसे क्या लेना-देना रहता है! यह जीव अनादिकाल से ना मालूम कितने माता-पिता, पत्नी, बच्चे तथा भाई-बन्धुओं का संगम किया है, परन्तु वे सब आज कहां हैं।

बाह्य प्राणी, पदार्थ, शरीर, मन आदि एक भीड़ है जो सपने में मिले हुए के समान है। यह भीड़ थोड़े दिनों में छट जाती है। परन्तु जब हम इन भीड़ों में होते हैं, इन्हें सत्य मान लेते हैं तब इन्हीं में उलझकर राग-द्वेष के शिकार हो जाते हैं। इनमें सत्यता का आभास ही हमें अशांत करता है। यदि हम इन सबकी स्वप्नमयता एवं असत्यता समझ लें तो हमारे मन की पीड़ा समाप्त हो जाये। इस संसार में मेरा कुछ नहीं है, यह बात परम सत्य है। इसे ठीक से समझकर जो अपने मन में इसे बैठा लेता है उसके मन की चिंताग्नि एकदम शांत हो जाती है। आज-कल में अचानक जहां से कुल छोड़कर जाना है वहां के लिए हमें अपने मन में किस वस्तु के लिए पीड़ा करनी चाहिए! अतएव हमें सदैव यह ध्यान में रखना चाहिए "ना कछु लेन न देन।"

विवेक से मोह का नाश

नष्ट का राज है, नफर का बरते तेज।
सारशब्द टकसार है, कोइ हृदया माहिं विवेक॥ 292॥

शब्दार्थ—नफर=नौकर, सेवक, तात्पर्य में मन। तेज=प्रभाव। सारशब्द=निर्णयवचन। टकसार=टकसाल, सिक्कों की ढलाई का स्थान, निर्दोषवस्तु, चोखा, खरा।[1]

---

23. बृहत् हिन्दी कोश।

भावार्थ—हमारा अपना माना हुआ जो कुछ राजकाज है वह सब नाशवान क्षणभंगुर है, परन्तु मन का प्रभाव व्यवहृत होने से इसमें स्थायित्व एवं सत्यता का भ्रम होता है। निर्णय वचन निर्दोष एवं खरे ज्ञान के साधन हैं, जो कोई उन्हें लेकर अपने हृदय में विवेक करेगा, उसका भ्रम मिट जायेगा॥ 292॥

व्याख्या—"नष्ट का राज है" सद्गुरु का यह भारी हथौड़ा हमारे ममतालु मन पर गिरता है। 'राज' कहते हैं अपने शासित देश को और शासन, अधिकारकाल या अधिकार को। जो कुछ हमारा अपना माना हुआ है वही मानो अपना राज है। सद्गुरु कहते हैं, लेकिन वह नाशवान है। वह नित्य रहने वाला नहीं है। आप देखते नहीं, जवानी की चमक बिजली के समान बुझ जाती है। जवानी में पति और पत्नी में आकर्षण रहता है, कुछ दिनों के बाद वे एक दूसरे को प्रेम से देखना भी नहीं चाहते। परिपक्वास्था में घर-परिवार पर जो अपना दबदबा एवं शासन रहता है, बुढ़ापे में कपूर की तरह उड़ जाता है। जनतंत्र के राज-मंत्रियों के उनके अपने शासन-काल बीतने पर जैसे उनकी दयनीय दशा होती है, वैसे ही संसार के सारे सुख संयोग के बाद मनुष्य की दशा होती है। घर-धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता अंततः जीव के साथ क्या रह जाता है! जब शरीर ही साथ नहीं रह जाता, तब अन्य किसका साथ रह सकता है! इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हारा अपना माना हुआ राज्य नष्ट का है। जो कुछ तूने आज तक अपना मान रखा है वह कुछ भी तेरे साथ न रहेगा।

प्रश्न होता है कि यह सारी माया असत्य होते हुए सत्य क्यों प्रतीत होती है? सद्गुरु उत्तर देते हैं "नफर का बरते तेज"। नफर का तेज बरत रहा है, इसलिए। नफर अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है नौकर, सेवक, मजदूर आदि। यह मन जीव का नौकर है, परन्तु इसने उसके ऊपर अपना दबदबा कायम कर रखा है। जैसे किसी राज्य में राजा का शासन न चलकर नौकर का ही शासन चले, वैसे जीव के राज्य में जीव का शासन न चलकर मन-नौकर का शासन चल रहा है। "नफर का बरते तेज" नौकर-मन का तेज एवं प्रभाव बरत रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन ने सारी वस्तुओं को सत्यवत मानकर सब में अहंता-ममता कर रखी है। अज्ञानवश सांसारिक प्राणी-पदार्थों में अहंता-ममता करने से वे सब सत्य लगते हैं। इसलिए हम उनके पीछे पागल बने भटकते हैं और उनके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ करते हैं। यह नष्ट का राज, यह नाशवान पसारा सत्य इसलिए लगता है कि इसे मन ने मान रखा है। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू जैसी गंदी चीजें भी इसलिए अच्छी लगती हैं कि उनमें मन ने सुख मान रखा है। शराब पीकर नाली में गिरना क्यों अच्छा लगता है, क्योंकि मन ने उसे मान रखा है। जिसमें चंचलता, अशांति, मलिनता, क्षीणता और परवशता का अनन्त दुख है, ऐसे मलिन काम-भोग में

आदमी क्यों रमता है, क्योंकि मन ने उसमें सुख मान रखा है। अपने घर की रूपवती एवं शीलवती पत्नी को छोड़कर कहीं बाहर की एक कुरूपा तथा कुलक्षणी स्त्री में आदमी क्यों फंस जाता है, क्योंकि उसका मन उसे मान लेता है। अतएव यह क्षणभंगुर तथा घृणित भौतिक जीवन एवं संसार का पसारा इसीलिए सत्यवत एवं सुखप्रद लगता है, क्योंकि हमारे मन की मान्यता ही ऐसी उलटी बन गयी है।

प्रश्न होता है कि इस मन का प्रभाव हटकर जीव की स्वरूपस्थिति कैसे होगी? सद्गुरु उत्तर देते हैं "सार शब्द टकसार है, कोई हृदया माहिं विवेक।" सच्चे ज्ञान के लिए सारशब्द ही साधन है। सारशब्द कहते हैं निर्णयवचन को। श्री रामरहस साहेब ने कहा है "सारशब्द निर्णय को नामा।" निर्णय वचन ही सारशब्द है। दो-दो चार निर्णय वचन है। जो जैसा है उसको वैसा कहना ही निर्णयवचन है। सद्गुरु कहते हैं कि निर्णयवचन ही टकसाल है। टकसाल का अर्थ है प्रामाणिक, निर्दोष, खरा। एक छोटे कागज का कोई मूल्य नहीं, परन्तु टकसाल की छाप लग जाये तो वह रुपया बन जाता है। टकसाल प्रामाणिक है। इसी प्रकार निर्णय वचन प्रामाणिक होता है। जब निष्पक्ष, निर्दोष, निर्णयवचन मिलता है तब किसी-किसी मनुष्य के हृदय में विवेक जग जाता है और वह संसार की माया को तृणवत समझकर उसके मोह से ऊपर उठ जाता है और इसी जीवन में निजस्वरूप में स्थित होकर कृतार्थ हो जाता है।

सद्गुरु कहते हैं "कोई हृदया माहिं विवेक"। निर्णय वचन पाकर कोई व्यक्ति हृदय में विवेक करता है। आप देखते नहीं कि हजारों लोग सत्योपदेश सुनते हैं, परन्तु उनमें सब कहां जग पाते हैं! कोई बिरला जगता है, वही जगता है जिसके हृदय में विवेक हो जाता है। कितने लोग तो निर्णय वचन सुनकर क्षुब्ध हो जाते हैं। उनको विवेक जगना तो दूर उलटे वे वक्ता के प्रति ही द्वेष बना लेते हैं। प्रायः श्रोता वही सुनना चाहते हैं जैसे उन्होंने अपने मन में मान्यता बना रखी है, अथवा जो उनकी परम्परा में मान्य है। जो बात उन्हें नयी लगती है उसे वे सुनना ही नहीं चाहते। जो सुनने मे ही अनुदार है उसे विवेक कैसे जगेगा। सद्गुरु ने तो कहा है "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" अर्थात सबकी बातें सुनो, परन्तु उनका अपने विवेक से निर्णय करो। वही संसार की मोह-नींद से जगता है जिसके हृदय में विवेक का उदय हो जाता है। विवेक एक्सरे-मशीन है। एक्सरे-मशीन वस्त्र और चाम को हटाकर भीतर की हड्डी का चित्र लेती है, इसी प्रकार विवेक किसी वस्तु के भीतर घुसकर उसकी वास्तविकता को देखता है। वह शरीर के ऊपरी सौन्दर्य के भीतर उसकी गंदगी एवं निस्सारता को, संयोग में वियोग को, अनुकूलता में प्रतिकूलता को, उन्नति में पतन को तथा जीवन में मरण को देखता है। विवेक किसी वस्तु या घटना की अन्तिम परिणति

को देखता है। अतः जिसके हृदय में निरंतर विवेक जाग्रत रहता है, वह मोह में नहीं सोता। विवेक वह प्रकाश है जिसमें अंधकार टिक नहीं सकता। विवेक अपनी आत्मा को सारे जड़दृश्यों से अलग कर लेता है। कबीर देव ने इस ग्रंथ में विवेक को बारम्बार प्रधानता दी है। "कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक।"

सारे नाते जीव के रहते तक हैं

जब लग बोला तब लग ढोला, तौ लौं धन ब्यौहार।
ढोला फूटा बोला गया, कोइ न झाँके द्वार॥ 293॥

शब्दार्थ—बोला=बोलता चेतन। ढोला=शरीर। द्वार=मुख।

भावार्थ—जब तक इस शरीर में बोलता चेतन निवास करता है, तब तक यह ढोलक बजती है और तब तक ही संग्रहीत धन का व्यवहार होता है। जैसे ही बोलता चेतन इससे निकल जाता है, यह शरीर-ढोलक फूट जाती है, फिर तो कोई इसका मुख भी नहीं देखना चाहता॥ 293॥

व्याख्या—यहां ढोला का अर्थ शरीररूपी ढोलक से है। सद्गुरु कहते हैं कि यह शरीर-ढोल तब तक बजता है जब तक इसका बजाने वाले बोलता चेतन जीव इसमें रहता है। जीव के निकल जाने पर यह ढोल बेकार हो जाता है। संसार के साधारण लोग भी यह जानते हैं कि जीव देह से अलग वस्तु है। इसी से उसके न रहने पर शरीर की गतिविधि समाप्त हो जाती है। अतएव जब तक बोलता चेतन इस शरीर में रहता है तब तक यह कायम रहता है और तब तक ही संग्रहीत धन का उपयोग होता है। लोग इस जीवन की क्षणभंगुरता को नहीं समझ पाते, अतः वे न्याय-अन्याय की परवाह छोड़कर धन का संग्रह करते हैं। वे धन को इतनी प्रमुखता देते हैं कि मन की पवित्रता एवं शांति के विषय में सोचना ही छोड़ देते हैं। ऐसी दशा में कुछ लोगों के पास धन तो अवश्य बढ़ जाता है, परन्तु उनका मन मलिन, चंचल एवं दुखी हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे पागल मानव! धन का व्यवहार शरीर तक है और शरीर क्षणभंगुर है। तू इसके लिए पाप मत कर! जीवन का गुजर तो थोड़े धन में ही हो जाता है, तू ज्यादा धन की लालसा करके पाप मत कर! "आधी और रूखी भली, सारी सोग संताप। जो चाहेगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप।[1] अर्थात सद्गुरु कहते हैं—"आधी और सूखी रोटी अच्छी है, पेटभर खाने की इच्छा होना तो शोक-संताप को निमंत्रण देना है, और यदि तू घी से चुपड़ी हुई रोटी चाहेगा तो बहुत पाप करेगा।" इसका मतलब यह नहीं है कि आधा पेट खाना ही अच्छा है और घी खाना पाप है। मतलब है कि थोड़े पदार्थों में गुजर करना अच्छा है

24. साखी ग्रन्थ।

ज्यादा की लालसा दुखदायी है और यदि तुम बहुत ऐश्वर्य इकट्ठा करके भोग भोगना चाहोगे तो बहुत पाप करोगे। यह परम सत्य है कि ऐश्वर्य भोगने की लालसा वाला गलत काम करता है। मूल आवश्यकता से अधिक धन संग्रह ही होता है बहुतों का अधिकार छीनकर!

"ढोला फूटा बोला गया, कोई न झाँके द्वार।" जहां जीव ने शरीर छोड़ा, यह बेकार हो जाता है। जब तक जीव शरीर में रहता है तब तक यह माता-पिता, गुरु, पुत्र, पुत्री, पति, भाई आदि के रूप में प्रिय करके माना जाता है और जब जीव देह से निकल जाता है तब देह को कोई माता-पिता, भाई-बंधु आदि नहीं कहता। तब लोग इसे कहते हैं कि भैया, मिट्टी पड़ी है। अब इसका अंत्येष्टि-संस्कार कर देना चाहिए, ज्यादा समय तक घर में मिट्टी पड़ी रहने देना अच्छा नहीं है, क्योंकि यह सड़ेगी, बदबू देगी। मृत शरीर का कोई मुख देखना नहीं चाहता, क्योंकि वह कुरूप एवं बुरा लगता है। यदि रात भर किसी लाश को रखना पड़े तो कई लोग भाला-बल्लम एवं छूरी-कटारी लेकर उसे रखाते हैं। लोगों को भय रहता है कि कहीं वह प्रेत बनकर और उठकर चढ़ न बैठे। जिसे हम प्यार से अपने सीने से चिपका लेते थे, उससे ही जीव निकल जाने पर दूर से ही डरते हैं, घिनाते हैं और उसके सामने नहीं जाना चाहते। अन्त में जिस देह की ऐसी दयनीयदशा हो जाती है, उसका अहंकार करना कितना अविवेक है! शरीर का सही उपयोग तो पर-सेवा तथा स्वयं के संयम में है। जो व्यक्ति इस शरीर से दूसरे की सेवा और अपने मन-इन्द्रियों का संयम कर लेता है उसी का शरीर सार्थक है; अन्यथा यह अन्त में मिट्टी है। अतः मनुष्य को चाहिए कि उसे धन, दौलत, शरीर, जो कुछ मिला है उससे दूसरे की सेवा कर ले और अपनी आत्मा को सारे बन्धनों से छुड़ा ले। इसी में उसके जीवन की सार्थकता है।

विवेकवान ही उपासनीय है

कर बन्दगी विवेक की, भेष धरे सब कोय।
सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय॥ 294॥

शब्दार्थ—बन्दगी=सेवा, चाकरी, वंदना, आराधना, नमस्कार, प्रणाम।

भावार्थ—विवेकसम्पन्न संतपुरुष की सेवा, आराधना एवं उपासना करो, साधु-वेष साधु-असाधु सब कोई धर सकता है। जो सारासार शब्दों का विवेक नहीं करता, उसकी सेवा-उपासना करने के चक्कर में मत पड़ो॥ 294॥

व्याख्या—कबीर साहेब केवल श्रद्धावादी नहीं हैं और केवल बुद्धिवादी भी नहीं हैं। वे श्रद्धा और बुद्धि से समन्वित विवेक-पथ के पथिक हैं। वे साधु को श्रद्धेय मानते हैं, परन्तु विवेक की आंखें खोलकर। वे कहते हैं कि साधु-वेष तो कोई भी धर लेता है। क्या लगता है कपड़ा बदलने में! इसलिए केवल वेष

देखकर मत भूलो, किन्तु जिसमें विवेकज्ञान हो और जो विवेकपूर्वक दिव्य रहनी में रहता हो, उसकी बन्दगी करो। यहां बन्दगी का अर्थ केवल दंडवत, नमस्कार आदि शिष्टाचार का पालन मात्र नहीं, किन्तु सेवा, आराधना एवं उपासना है। शिष्टाचार पालन के लिए तो किसी के भी बंदगी, दंडवत एवं नमस्कार आदि कर लिये जा सकते हैं। वेष मात्र देखकर भी हाथ जोड़ लेना बुरा नहीं है। "कर बन्दगी विवेक की" इस वाक्यांश का अर्थ है विवेकसंपन्न संत की सेवा करो। उन्हीं की आराधना एवं उपासना करो। उन्हीं से तुम्हें सत्प्रेरणा मिलेगी। सद्गुरु ने इस ग्रंथ में अन्यत्र भी कहा है—

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ साखी 309॥
तेहि साहेब के लागहु साथा। दुई दुख मेटि के होहु सनाथा॥ रमैनी 75॥
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा॥ शब्द 29॥

"सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय।" जिस साधु-वेषधारी या मनुष्य में सारासार शब्दों का विवेक नहीं है, जिसे कारण-कार्य-व्यवस्था की पहचान नहीं है, जिसे विश्व के शाश्वत नियमों की परख नहीं है, जो धर्म के नाम पर चलने वाली सभी बातों को आंखें मूंदकर मानने का आदी है, ऐसे पारखहीन एवं विवेकहीन की सेवा-उपासना करने से कैसे सच्चा बोध मिलेगा! अतएव ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए।

कर्म-फल-भोग सबको होता है

सुर नर मुनि औ देवता, सात द्वीप नौ खण्ड।
कहहिं कबीर सब भोगिया, देह धरे को दण्ड॥ 295॥

शब्दार्थ—दण्ड=कर्म-फल-भोग।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि सुर, नर, मुनि और देवता तथा नौ खण्डों से युक्त सप्तद्वीपवती पृथ्वी पर रहने वाले समस्त देहधारी अपने कर्मों के फल अवश्यमेव भोगते हैं॥ 295॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी संत हैं। उनकी दृष्टि में भावना का उपयोग विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जो दशा जहां नहीं है उसे वहां आरोपित कर अपने आप तथा समाज को धोखे में रखना विवेक-विरुद्ध बात है, अतः ऐसा करने से मानव का अकल्याण है। संसार में भ्रम फैला है कि ऋषि-मुनि अजर-अमर हैं या उन्हें कोई शारीरिक कष्ट नहीं होता। वे जब जहां चाहें तब वहां प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। देवता लोग तो उनसे भी बलवान, कालजयी, अजर-अमर, सब जगह आने-जाने वाले तथा कर्म-फल भोग से रहित होते हैं।

कबीर देव कहते हैं कि सुर, नर, मुनि, देवता ये सब केवल नाम हैं। ये सब मनुष्य हैं। ये सब देह धरते हैं, अपने किये हुए कर्मों के फल भोगते हैं और अंततः कुछ दिनों में शरीर छोड़ देते हैं। ये सब अदृश्य होकर तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। जैसे तुम अपने कर्म-फल-भोक्ता हो वैसे ये भी कर्म-फल-भोक्ता हैं।

कर्म-फल भोग सबके लिए अकाट्य है। इसीलिए अपने कर्मों का सुधार करना मानव मात्र का कर्तव्य है। किसी देवी-देवता के सहारे बैठे रहना भूल है। इसके विषय में 'आपन कर्म न मेटो जाई' इस 110वें शब्द का मनन करना चाहिए।

मन की स्ववशता ही परमसुख है

जब लग दिल पर दिल नहीं, तब लग सुख नाहिं।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं॥ 296॥

शब्दार्थ—दिल पर दिल= मन की स्ववशता। सब सुख= शांति-सुख।

भावार्थ—जब तक मन अपने वश में नहीं होता, तब तक शांति-सुख नहीं मिलता और मन इसलिए वश में नहीं होता क्योंकि युगानुयुग से चली आती हुई जो नाना प्रकार की बातें सुन रखी हैं उनके संशय मन में बने हुए हैं॥ 296॥

व्याख्या—"जब लग दिल पर दिल नहीं, जब लग सब सुख नाहिं।" यह बड़ी महत्त्वपूर्ण पंक्ति है। इस पंक्ति में 'दिल पर दिल' तथा 'सब सुख' जान है। दिल पर दिल होना बहुत बड़ी बात है। हमारा दिल बाहर न भटके, किन्तु अपने आप में ही रहे, यही तो जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। सुन्दर शरीर मिला, अनुकूल परिवार मिला, उच्च पद मिला, बेशुमार प्रतिष्ठा मिली तथा संसार की और सारी चीजें मिलीं, परन्तु दिल पर दिल नहीं रहा, दिल चारों तरफ भटकता रहा तो क्या मिला! संसार की कोई उपलब्धि न हो, किन्तु दिल पर दिल हो, तो क्या पाना बाकी रहा!

मन में कुछ पाने की लालसा न हो, कुछ करने, कुछ भोगने एवं कुछ देखने की इच्छा न हो, सारी इच्छाएं बुझ जायें और मन उद्वेगरहित शांत हो जाये, यही दिल पर दिल का होना है। स्ववश मन वाला सब समय उद्वेगरहित होता है। उसके सामने चाहे जैसी उथल-पुथल आये, परन्तु वह सब समय शांत होता है। संसार में हमें जो कुछ उपलब्ध है वह सब नाशवान है, ऐसा समझकर वह पुरुष सब समय निश्चिंत रहता है।

सद्गुरु ने इस ग्रन्थ में कई जगह 'सब सुख' तथा 'सब दुख' कहा है।

जैसे—"करहु विचार जो 'सब दुख' जाई।"[1] तथा "मुझ ही ऐसा होय रहो, 'सब सुख' तेरे पास।"[2] सब दुख है मानसिक उलझन और सब सुख है मानसिक शांति। सब जीव सुख चाहते हैं और शांति के बिना सुख नहीं मिलता। जब आदमी को उत्तम-उत्तम व्यंजन मिलते हैं तब उसे खाने का सुख मिलता है, इसी प्रकार पहनने का सुख, सवारी का सुख, पुत्रादि का सुख, परन्तु यदि मन शांत न हो तो वे सारे निरर्थक लगते हैं। दुनिया की सारी चीजों से संपन्न मनुष्य मन की शांति के बिना घोर दुखी रहता है। इसलिए मन की पूर्ण शांति ही सब सुख है, और यह तभी मिलता है जब मन स्ववश हो। दिल पर दिल रहने से ही सब सुख मिलता है।

सद्गुरु कहते हैं कि इसमें रोड़े हैं पुराने संस्कार। "चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं।" यहां चारों युगन का अभिप्राय है बीते हुए सभी समय से। अनादिकाल से नाना लोगों ने नाना प्रकार की बातें कहीं हैं वह सब सुन-सुनकर मनुष्य का मन संशयग्रसित बना रहता है। जो पांचों विषयों की आसक्ति है वह तो है ही, मनुष्य की अपनी आत्मा से अलग उसका लक्ष्य बताना यह काफी भटकाव का कारण बना हुआ है। पुराकाल से नाना ग्रन्थों में नाना लोगों ने ऐसी-ऐसी बातें लिख रखी हैं जिन्हें पढ़-सुनकर मनुष्य का मन विचलित होता रहता है। जिससे उसे न स्वरूप का ठीक से ज्ञान होता है न स्वरूपस्थिति। नाना ग्रंथों में ऐसी बातें बतायी गयी हैं कि मनुष्य का अपना लक्ष्य मोक्ष या परमात्मा उससे अलग कहीं दूर है। इसका परिणाम यह हुआ है कि धर्मक्षेत्र के अधिकतम लोग अपना लक्ष्य बाहर खोजते और भटकते हैं। परन्तु अपनी आत्मा को छोड़कर बाहर भटकने वाले को कभी शांति नहीं मिल सकती।

तुम शरीर नहीं जीव एवं चेतन हो

यन्त्र बजावत हौं सुना, टूटि गया सब तार।
यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार॥ 297॥

शब्दार्थ—यन्त्र=बाजा, शरीर। हौं=मैं। तार=नाड़ियां, मुख्यतः इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा। बजावनहार=चेतन जीव।

भावार्थ—मैंने बजाने वाले द्वारा बाजा बजाते सुना, परन्तु एक दिन बाजा के सारे तार टूट गये और बजाने वाला चला गया, तो जड़ बाजा बेचारा क्या करे! अर्थात जीव देह का संचालन करता है, परन्तु जब इसकी नाड़ियां रुक जाती हैं और जीव देह को छोड़ देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है॥ 297॥

व्याख्या—जीव और देह का भिन्न ज्ञान वास्तविकता का बोध है। जिन

25. रमैनी 23।
26. साखी 298।

तत्त्वों से शरीर बना है वे निरे जड़ हैं। उन्हें हम चाहे मिट्टी, पानी, आग, हवा नामों से कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फासफोरस, रेडियम आदि नामों से कहें। वैज्ञानिकों ने भी पूर्ण अनुसंधान के बाद यह घोषणा की है कि जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है। प्रश्न होता है कि जब जड़ तत्त्वों में चेतना-गुण नहीं है तब शरीरधारियों में जो चेतना विद्यमान है वह किसका गुण है! इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। इसका उत्तर है अध्यात्म के पास। वस्तुतः चेतना एक स्वतन्त्र गुण है जिसके लिए एक स्वतंत्र द्रव्य चाहिए। क्योंकि बिना द्रव्य के गुण नहीं रहता। अतएव जीव ही वह द्रव्य है जिसका गुण चेतना है। जीव जड़ तत्त्वों से सर्वथा पृथक अनादि और नित्य वस्तु है। जीव असंख्य हैं, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु उन सभी का गुण एक चेतना एवं ज्ञान है। जो सब शरीरों में मैं-मैं कहता है या मानवेतर प्राणियों में न कहते हुए भी अपने 'मैंपन' का बोध करता है, वही जीव है। हर व्यक्ति का अपना वास्तविक स्वरूप जीव है। जीव ही इस शरीर-यन्त्र को बजाता है। वही हर इन्द्रिय का संचालन करता है। शरीर में हजारों नाड़ियां हैं, परन्तु मुख्य हैं इडा, पिंगला तथा सुषुण्णा। इनके टूट जाने पर जीव शरीर छोड़ देता है। अथवा जब जीव शरीर छोड़ने लगता है तब शरीर के सारे नाड़ीरूपी तार टूटने लगते हैं। जब जीव शरीर छोड़कर चल देता है, तब शरीर निरर्थक हो जाता है। जीव के बिना शरीर बेचारा क्या कर सकता है! "यन्त्र बिचारा क्या करे, जब गया बजावनहार।" इस पंक्ति में यन्त्र के बेचारा विशेषण में असमर्थता की व्यंजना है। जब जीव शरीर छोड़ देता है तब शरीर बेचारा क्या कर सकता है!

लोग अज्ञानवश देहाभिमान करते हैं और अपने चेतनस्वरूप जीव को भूलकर जड़ देह ही को सब कुछ मानते हैं। परन्तु जब जीव निकल जाता है एवं मैंपन का बोध करने वाला चेतन-तत्त्व शरीर छोड़ देता है तब शरीर घंटों में दुर्गंध देने लगता है। विचार करके देखिये, शरीर तो पूरा बना है। उसकी सारी इन्द्रियां बनी हैं, फिर वह क्यों सड़ रहा है? बात साफ है, उसमें एक ही परमतत्त्व जीव नहीं रह गया है। जीव के निकल जाने से शरीर अमंगल हो गया है। सारी चेतना, मैंपन, स्वच्छता एवं मंगलमयता जीव में ही निहित है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के अभिमान को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो। जीव व्यक्ति का मूल स्वरूप है। उसका गुण ज्ञान एवं चेतना है। वह अपना स्वरूप होने से आत्मा है। आत्मा का अर्थ ही होता है अपना। जब आत्मा मल, विक्षेप तथा आवरणों से मुक्त हो जाती है तब उसी को कहते हैं परमात्मा। वह सर्वश्रेष्ठ होने से उसे ही कह सकते हैं ब्रह्म। वह स्वयं अपना स्वामी है इसलिए उसे ईश्वर कहा जा सकता है। इस प्रकार यह जीव ही चेतन है, आत्मा है, परमात्मा है, ब्रह्म है तथा ईश्वर है। इसके अलावा सब जड़तत्त्वों

का पसारा है या मानसिक कल्पनाएं हैं। सारी मानसिक कल्पनाओं का जनक जीव ही है। इस संसार में जीव ही सर्वोच्च सत्ता है।

इस साखी को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि योगी लोग कान बंदकर शरीर रूप यन्त्र को बजाते हैं, अर्थात दस अनाहतनाद सुनते हैं और उसी को सारशब्द या ब्रह्मध्वनि मानकर उसी में अपनी स्थिति समझते हैं। परन्तु सद्गुरु कहते हैं कि जब एक दिन शरीर के सारे तार टूट जायेंगे तथा इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियां समाप्त हो जायेंगी और जीव शरीर को छोड़कर चल देगा, तब दस अनाहतनाद कहां रह जायेंगे! यह सब देह के कार्य देह के साथ नष्ट हो जायेंगे। इसलिए इन नाशवान पदार्थों में न रमकर अपने अविनाशी चेतनस्वरूप में स्थित होना चाहिए।

निष्कामदशा ही गुरुत्व एवं कल्याण है

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥ 298॥

शब्दार्थ—सब सुख= निर्वासनाजनित जीवन्मुक्ति सुख, अनंत शांति।

भावार्थ—यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सब की आशा छोड़ दो और मेरे समान ही सब तरह से निष्काम हो जाओ, बस सब सुख तुम्हारे पास है॥ 298॥

व्याख्या—कबीर साहेब यथार्थवादी हैं। वे किसी को झूठा आश्वासन नहीं देते। उनकी बातें महंगी लग सकती हैं, परन्तु कल्याण भी उन्हीं से है। मानो किसी मुमुक्षु साधक एवं भक्त ने कबीर साहेब से कहा हो कि मैं आपको चाहता हूं, आपके साथ रहना चाहता हूं और आपसे मिल जाना चाहता हूं। तो मानो कबीर साहेब ने उसे समझाया हो कि यदि तुम मुझे चाहते हो तो दूसरे सबकी आशा छोड़ दो और मेरे समान निष्काम हो जाओ, बस, सब सुख तुम्हारे पास होगा। कबीर साहेब यह नहीं कहते कि तुम मेरी शरण में आ जाओ, और बस मुक्त हो जाओगे या मेरा नाम जपो और मुक्त हो जाओगे। वे भावुकता में महिमा बढ़ाकर लोगों को भुलावे में डालना नहीं जानते बल्कि सारे भुलावे को छिलके की तरह उतारकर फेंक देते हैं।

कबीर साहेब कहते हैं कि शिष्य को गुरु में मिलकर मुक्त होना नहीं है। वे कहते हैं कि हर जीव स्वरूपतः गुरु ही है। जब कोई जीव गुरु की शरण में आता है तब गुरु उसके गुरुत्व को जगाता है गुरु किसी को शिष्य नहीं बनाता, किन्तु गुरु बनाता है। यहां समझने में असावधानी नहीं करना चाहिए। गुरु की शरण में जब कोई जिज्ञासु एवं मुमुक्षु आता है, तब वह स्वयं अपने आप को गुरु का शिष्य मानता है, परन्तु गुरु उसे उसके गुरुत्व एवं महिमामय स्वरूप का

परिचय कराता है। गुरु मुमुक्षु को बताता है कि जो मैं हूं वही तू है। मैंने संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दी हैं, इसलिए मैं पूर्ण सुखी हो गया हूं। तू भी मेरे समान संसार की सारी आशाएं एवं कामनाएं छोड़ दे और तू भी पूर्ण सुखी हो जा। यदि चाहे कि यह सब काम गुरुजी ही कर दें, गुरुजी हमारे ऊपर अपना शक्तिपात करके हमें एकदम कागा से हंस बना दें, तो यह तेरा भ्रम है। यह कोई गुरु नहीं कर सकता।

आध्यात्मिक जगत में 'शक्तिपात' का बहुत बड़ा भ्रम है। लोग कहते हैं कि समर्थ गुरु शिष्य पर अपना शक्तिपात करके उसे आनन-फानन में कृतार्थ कर देता है, सारी शक्तियों से संपन्न कर देता है। लोग उदाहरण देते हैं कि श्री रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द पर शक्तिपात कर उनको महान बना दिये थे। यह ठीक है कि योग्य गुरु की प्रेरणा योग्य शिष्य पर ज्यादा कारगर होती है। परन्तु गुरु केवल अपनी तरफ से किसी को बदल नहीं सकता जब तक बदलने वाला स्वयं श्रम न करे। श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को ही क्यों ऐसा किया था। उनके अनेक शिष्य थे। वे उन सब पर शक्तिपात करके सबको विवेकानन्द की तरह महान क्यों नहीं बना दिये! इस धारणा से तो विवेकानन्द का अपना महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। उनमें मानो कुछ था ही नहीं है। वस्तुतः विवेकानन्द प्रतिभा के धनी और तेजस्वी आत्मा थे और वे योग्य गुरु पाकर उनकी प्रेरणा से आगे बढ़ गये। बस, इतनी ही बात है। गुरु सभी शिष्यों को समान प्रेरणा देता है, परन्तु जिस शिष्य में जितना बल होता है या कहना चाहिए कि जो जितना गुरु के वचनों पर ध्यान देता है वह उतना ही उससे प्रेरणा लेकर अपनी उन्नति करता है। बिना कुछ किये गुरु द्वारा सब कुछ मिल जाये इस भावना के मूल में या गुरु की मिथ्या महिमा बढ़ाने के मूल में शक्तिपात की बात है। इसके अलावा शक्तिपात-जैसी कोई बात नहीं है।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे कल्याणार्थी! यदि तू परम शांति, सब सुख, अनंत सुख, आत्यंतिक सुख, परमानन्द तथा परमकल्याण चाहता है तो सबकी आशा छोड़ दे, सबसे निष्काम हो जा, बस तू जो चाहता है वही दशा हो जायेगी। मनुष्य के मन में जो परम सुख की चाहना है वह चाहना छोड़ने से ही पूरी होगी।

किसी प्राणी-पदार्थ में आशाबद्ध होने के समान दुख नहीं है। यह जीव आशाबद्ध होकर अपना मन बाहर लगाये रखता है और उसके परिणाम में क्षण-क्षण अभाव का अनुभव करता है। संसार की समस्त वस्तुएं जीव से सर्वथा पृथक हैं। अतएव जीव का उनसे नित्य सम्बन्ध न होने से उनमें राग या उनकी आशा करने से अभाव का अनुभव होगा ही। यह अभाव का अनुभव पदार्थों के संयोग से नहीं मिट सकता, बल्कि रागजनित पदार्थों के संयोग में वियोगजनित

भय ही अधिक खटकता है। इसलिए बाह्य वस्तुओं से मन हटा लेने से, उनकी आशा-वासना छोड़ देने से अभाव का दुख मिट जाता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर सद्गुरु ने कहा है कि यदि तुम परम शांति चाहते हो तो सबकी आशा-वासना का त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ।

साधु की वाणी विचारपूर्ण होती है

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं बिचार।
हतै पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार॥ 299॥

शब्दार्थ—हतै= मारता है।

भावार्थ—साधु का वेष पहन लेने से क्या होता है यदि विचारपूर्वक नहीं बोलता और अपनी जिह्वा में असत्य एवं कटु वचन की तलवार बांधकर दूसरे की अंतरात्मा को कष्ट देता है॥ 299॥

व्याख्या—कितने लोग साधु का वेष तो पहन लेते हैं, परन्तु अपनी वाणी तक का संयम नहीं कर पाते। वे बिना विचार किये जो कुछ मन में आया धमके सिद्ध रहते हैं। मानव का यह सौभाग्य है कि उसे वाक्य-शक्ति प्राप्त है। अतएव उसे चाहिए कि वह उसका सदुपयोग करे। सदैव सत्य, मीठे और आवश्यक शब्द बोले। यह भी यथार्थ है कि सत्य ज्यादा मीठा नहीं होता, परन्तु जितना संभव हो उसे मीठा बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

सद्गुरु ने इस साखी में उस व्यक्ति की साधुता को व्यर्थ बताया है जो विचार करके नहीं बोलता। विचार शब्द बड़ा गंभीर है। केवल मीठे वचन विचारपूर्ण नहीं होते। कितने ही मीठे वचन झूठे होते हैं, केवल दूसरों को व्यर्थ सुख करने के लिए ही नहीं, ठगने के लिए भी होते है। धर्म के नाम पर, भगवान के नाम पर, मोक्ष के नाम पर नाना उपोद्घात एवं कहानियां बनाकर मीठे-मीठे वचनों में लोग मिथ्या बातें, भ्रांतिपूर्ण बातें कहते एवं केवल अपनी सनकी भावनाओं का पोषण करते हैं। कितने कथाकार अपने रोचक और मीठे वचनों से सभा को विमोहित करके उन्हें भावविह्वल कर रुला देते हैं, परन्तु देते हैं उन्हें ज्ञान की दिशा में भटकाव। जब तक सत्तर प्रतिशत असत्य न रहे तब तक लोग धार्मिक कथा एवं प्रवचन नहीं मानते। अधिकतम धार्मिक प्रवक्ताओं की वाणियां कारण-कार्य-व्यवस्था से रहित, विश्व के शाश्वत नियमों के विपरीत तथा प्रकृति के गुण-स्वभावों से अलग ही होती हैं। वे सुनने में मीठी होती हैं, परन्तु गुण में अज्ञानवर्द्धक, भटकावपूर्ण एवं उलझाने वाली होती हैं। कुछ साधु एवं गुरु नामधारी जानबूझकर समाज को अपने झूठे और मीठे वचनों में फंसाते हैं और कुछ लोग स्वयं पूरे भटके होते हैं इसलिए वे सच्चे दिल से झूठी धारणाओं को ही सत माने रहते हैं और उसे ही दूसरों के सामने पेश करते हैं।

जो गुरु, साधु एवं पण्डित अपने भोलेपन में असत्य धारणाओं का प्रचार करते हैं वे स्वयं तो किसी हद तक क्षम्य हैं, यद्यपि उपदेश तो उनके भी लोगों के लिए अहितकर ही हैं। किन्तु जो लोग जानबूझकर झूठी धारणाओं का प्रचार करते हैं वे किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं हो सकते। उनका प्रचार लोगों को भटकाने वाला तो होगा ही, प्रचार करने वाले का भी घोर पतन होगा। असत्य की तलवार बांधकर वे दूसरे की आत्मा की मानो हत्या करने में लगे हैं।

अतएव साधु का कर्तव्य है कि पोथी, परम्परा, गुरु, जनसमाज, प्राचीनता आदि किसी पक्ष में न पड़कर निष्पक्ष स्वतन्त्र चिन्तनपूर्ण सत्य वचन बोले, सच्चे ज्ञान का प्रकाश करे। वह अपनी वाणी से किसी की आत्मा के बन्धन होने वाले वचन न बोले।

मनुष्य की भूल

हंसा के घट भीतरे, बसै सरोवर खोट।
चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट॥ 300॥

शब्दार्थ—हंसा=मनुष्य। घट=अंतःकरण। सरोवर=मानंदी एवं मान्यतारूपी जलाशय। खोट=बुराई। कोट=गढ़, किला।

भावार्थ—जैसे मानो हंस के मन में मानसरोवर छोड़कर गंदे तालाब में रहने की वासना हो जाये और वह उसी में रमने लगे, वैसे मनुष्य ने अपने अंतःकरण में बुरी मान्यताओं का मैला जलाशय बना लिया है, अर्थात वह अपने मौलिक स्वच्छ विचारों से हटकर गंदे विचारों में रमने लगा है। यह जहां झोपड़ों का गांव नहीं बस सकता वहां किला उठाने चला है, अर्थात असंभव कल्पनाएं करता है॥ 300॥

व्याख्या—मनुष्य मूलतः हंस है। वह सारासार का विवेचन कर सकता है। मनुष्य का मूल स्वरूप शुद्ध चेतन है। चेतन ही उसका अहम है। परन्तु इसने अपने आप को भूलकर मन को सांसारिक विषयों में रमा रखा है। सांसारिक विषयों में रमने के कारण इसने अपने मन में राग, द्वेष, कलह, कल्पना तथा अनेक भास-अध्यास बना रखा है। इसलिए इसका मनरूपी मानसरोवर मैला हो गया है। इसके हृदय में खोटा सरोवर बसने लगा है। सद्गुरु की कैसी अद्भुत उक्ति है। वे कहते हैं कि हंस तो गहरे, स्वच्छ तथा विशाल मानसरोवर में रहता है; परन्तु वह अपने हंसत्व को भूल गया और उसके मन में खोटा सरोवर बसने लगा। इसका मतलब है कि उसके मन में ऐसा अज्ञान बस गया कि मैं मैले सरोवर में रहूं। इसलिए वह गंदे तालाब में रहने लगा। कबीर साहेब ने एक पद में कहा है—"हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।" जब हंस स्वच्छ एवं विशाल मानसरोवर पा जाता है तब

वह ताल-तलैया, गंदे एवं तुच्छ जलाशय में क्यों भटकेगा! परन्तु यहां तो हंस अपने हंसत्व को ही भूल गया है। उसे मानसरोवर की याद ही नहीं रह गयी। उसने तो गंदे गड्ढे को ही अपना निवासस्थल समझ लिया है और उसी मलिनता में रहने लगा है।

इस चेतन हंस की यही दशा हो गयी है। यह अपने शुद्ध स्वरूप को भूल गया है। शील, करुणा, सत्य, क्षमा, अहिंसा, दया, भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादि संबलित जो विशाल और स्वच्छ चित्त का जलाशय एवं मानसरोवर है उसे यह भूल गया है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार, चिंता, शोक, विकलता आदि कूड़े-कचड़े से भरे तुच्छ एवं गंदे मन के गड्ढे में लोटपोट रहा है। हंस गंदे गड्ढे में रहने को सोचे, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है। गंदे गड्ढों में तो बगला रहता है। हंस तो मानसरोवर में रहता है। परन्तु जब हंस अपने आपा को ही भूल गया है तब वह अपने निवास को भी भूल गया। जब जीव अपने स्वरूप को भूल गया तब वह अपनी स्वच्छ रहनी एवं उच्च स्थिति को भी भूलकर गंदी चाल में चलने लगा।

"चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट।" जहां झोपड़ों का गांव न बन सके, वहां किला उठाने की चेष्टा दुस्साहस मात्र है। इस पंक्ति में असंभव के प्रति व्यंजना है। यह गंदा एवं उलझा मन ही असंभव को संभव बनाने की चेष्टा में लगा रहता है। बूढ़ा जवानी की कल्पना करता है। कुरूप सुरूप की, निर्धन धन की, धनी अधिक धन की कल्पना करता है। अपनी आत्मा से अलग किसी दिव्यधाम तथा पूर्णानन्द भगवान को पाने की कल्पना करता है। इन सबके मूल में है अपने स्वरूप का अज्ञान। जीव अपने पूर्णकाम, पूर्णतृप्त स्वरूप को न समझकर कुछ-का-कुछ सोचता है। वह मन के निराधार किले बनाता है। शेखचिल्ली की कहानियां मन की कल्पनाओं के ही प्रतीक हैं। यह अविवेकी मन जहां गांव भी नहीं, वहां किला एवं राजभवन की कल्पना करता है। यह मन की गंदगी का ही परिणाम है। "जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी" मन का अविवेक ही है। जहां अपना कुछ नहीं है वहां वह अपना सब कुछ मान रहा है। इस संसार में अपना क्या है! फिर भी यहां का अहंकार कितना है! वर्तमान में न रहकर भूत-भविष्य की कल्पनाओं एवं भावनाओं में ऊबना-डूबना और अपने सहज चेतनस्वरूप की स्थिति में न रहकर मन के लड्डू खाते रहना, "चलै गाँव जहँवा नहीं, तहाँ उठावन कोट" उक्ति ही चरितार्थ करना है।

मीठे और कटुवचनों का प्रभाव

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार होय संचरे, सालै सकल शरीर॥ 301॥

शब्दार्थ—संचरे= प्रवेश करता है।

भावार्थ—मीठे वचन दुख दूर करने की औषध है; परन्तु तीखे वचन बाण के समान हैं, जो श्रवण-द्वार से प्रवेश करते हैं और सारे शरीर को पीड़ा पहुंचाते हैं॥ 301॥

व्याख्या—मीठे वचन पशु को भी पसन्द होते हैं, फिर मनुष्य के लिए तो कहना ही क्या! टूटा हुआ दिल भी मीठे वचनों से जुड़ जाता है। कड़वा सत्य उत्तम अधिकारी ही ग्रहण करते हैं, किन्तु मीठा सत्य सबके लिए उपादेय होता है। कई परिवार में आपस की फूट का कारण कड़वे वचन होते हैं। यादवों में द्वारका के संसद भवन में बड़े कड़वे वचनों की बौछार होती थी। उसका परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण-जैसे राजनीति-कुशल पुरुष भी यादव-वंश को न सम्हाल सके और उसका पूर्णतया विध्वंस हो गया। देवर्षि नारद ने श्रीकृष्ण[27] को सलाह दी थी कि आप अपने परिवार वालों को वश में करने के लिए अनायस शस्त्र का प्रयोग कीजिये। आयस कहते हैं लोहे को तथा अनायस कहते हैं जो लोहे से न बना हो वह शस्त्र, इसका लाक्षणिक अर्थ है मीठे वचन। घाव लगने पर जैसे उस पर मरहम लगाने से वह अच्छा होता है, वैसे दुखी दिल वाले के लिए मीठे वचन उसके लिए औषध बन जाते हैं। मीठे वचन सबको सुखप्रद लगते हैं।

कटुवचन तीर के समान होते हैं जो कान से प्रवेशकर हृदय में चले जाते हैं और सारे शरीर को पीड़ित करते हैं। अतएव जितना बन सके कटुवचन बोलने से दूर रहना चाहिए। हमें कटुवचन सहना चाहिए। सत्य कटु होता है, परन्तु कल्याण उसी से है। वाणी-सुधार के विषय में 70वीं रमैनी 'बोलना कासो बोलिये रे भाई" की व्याख्या देखना चाहिए।

हठयोग-समीक्षा

ढाढस देखो मरजीव को, धाय जुरि पैठि पताल।
जीव अटक मानै नहीं, ले गहि निकरा लाल॥ 302॥

शब्दार्थ—ढाढस=ढाड़स, धैर्य। मरजीव=मरजिया, पानी में डूबकर चीजें निकालने वाला, गोताखोर, तात्पर्य में हठयोगी। अटक=रुकावट, अड़चन।

भावार्थ—मरजिया का धैर्य तो देखो! वह दौड़कर समुद्र में घुसा और

27. श्रीकृष्ण को नारद की सलाह का यह प्रसंग पीछे "हद चले सो मानवा" 189वीं साखी की व्याख्या में देखें।

तली में पहुंच गया। वह किसी अड़चन की परवाह किये बिना समुद्र से मोती लेकर ही निकला। तात्पर्य है कि हठयोगी लोग जोखिम उठाकर भी हठयोग की साधना करते हैं और उसका अनुभव लेकर निकलते हैं॥ 302॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपनी बहुत-सी बातें अलंकारों में कहते हैं। यहां अन्योक्ति अलंकार में हठयोगियों के साहस का वर्णन है। यहां योगी के लिए मरजिया शब्द का प्रयोग किया गया है। मरजिया समुद्र की तली में प्रवेशकर मोती या अन्य वस्तुएं निकालता है। मरजिया जीने-मरने की चिंता छोड़कर समुद्र में कूदता है और मोती लेकर ही निकलता है। हठयोगियों की दशा यही है। वे कुण्डलिनी प्रदीप्त करने तथा षटचक्रवेधन आदि के नाम से बहुत अथक प्रयत्न करते हैं और शब्द, ज्योति, शून्य आदि जड़भास को ही अनुभव के मोती मानकर उन्हें लेकर समाधि से निकलते है। "ले गहि निकला लाल" हठयोगियों पर व्यंग्य है। जिसे हठयोगी लाल तथा हीरे के समान बहुमूल्य मानते हैं, उसे कबीर साहेब चुनौती देते हैं कि उसकी परख कर लो। वह तुम्हारे मन का भास-अध्यास है।

कबीर साहेब राजयोग का विषय मानते हैं। अर्थात सारे संकल्पों को छोड़कर स्वस्वरूप चेतन मात्र की स्थितिरूपी योग उनको मान्य है। परन्तु नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करके, बहुत दिनों तक श्वास साधकर षटचक्र वेधन आदि करना और ज्योति, नाद, बिन्दु, शब्द, शून्य आदि को अनुभवतत्त्व मानकर जड़भास में टिक जाना उचित नहीं समझते। हठयोग में मेहनत बहुत है और लाभ कम है और आगे चलकर तो जड़-भास को ही लक्ष्य मान लेने के कारण केवल हानि ही है। इसमें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति न होकर योग के नाम पर अंततः जड़ाध्यास ही ग्रहण होता है।

ई जग तो जहँड़े गया, भया योग ना भोग।
तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग॥ 303॥

शब्दार्थ—जहँड़े गया=ठगा गये। तिल=एक प्रसिद्ध तेलहन, तात्पर्य में सार तत्त्व, जीव। तिलैठी=तिल के डंठल, तात्पर्य में शरीर।

भावार्थ—इस संसार के लोग तो माया में ठगा जाते हैं। वे सच्चा योग कर नहीं पाते हैं और भोग नाशवान होने से उनमें सफल हो ही नहीं सकते। सद्गुरु कहते हैं कि सावधान लोग तो तिल झाड़ लेते हैं और भोले लोग उसके डंठल को ही महत्त्वपूर्ण मानकर उसी में उलझे रहते हैं, अर्थात विवेकवान निजस्वरूप चेतन की स्थिति करते हैं और विवेकहीन शरीर के भोगों में लगे रहते हैं॥ 303॥

व्याख्या—संसार के लोग धोखे में जीवन गवां देते हैं। वे माया-ठगिनी से ठगा जाते हैं। वे न सच्चा योग करते हैं और न भोग कर पाते हैं। अधिकतम

लोग तो सच्चा या कच्चा किसी प्रकार का भी योग नहीं कर पाते। हठयोग कच्चा योग है और राजयोग अर्थात चित्त का निरोध करके निजस्वरूप की स्थिति सच्चा योग है। वे हर प्रकार से योग से दूर ही रहते हैं। कुछ लोग योग करते भी हैं तो वे दिखावे में पड़कर हठयोग साधने लगते हैं। वे नेती, धोती, कपाली, कुंजल आदि करते हैं। श्वासा की साधना करते हैं। जमीन के भीतर गुफा खोदकर उसमें समाधि लगाते हैं। शहर, मेला, बाजार में समाधि लगाते हैं। यह सब भी प्रकारांतर से माया में उलझने के ही लक्षण हैं। सच्चा योग, जिसके लक्षण हैं चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वरूप चेतन में स्थित होना, अर्थात कुछ भी स्मरण न करना, मात्र स्वरूपस्थ रहना। इससे तो आदमी दूर ही रहते हैं। पहली बात है कि अधिकतम लोगों को इसका ज्ञान ही नहीं है। जो इसे जानते हैं, उनमें भी अधिक लोग कर नहीं पाते। न कर पाने का कारण प्रपंचासक्ति है। इस प्रकार आदमी योग से दूर रहता है।

अब जरा भोग पर विचार कर लें। सद्गुरु कहते हैं कि भोग भी नहीं कर पाते। सद्गुरु ने बारहवें कहरा में कहा है "माया किनहुँ न भोगी हो" अर्थात कोई भी माया का भोग नहीं कर पाता, किन्तु माया द्वारा मनुष्य ही भोग लिया जाता है। भर्तृहरि जी ने कहा है 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता'। हम भोग को नहीं भोग पाये किन्तु भोगों ने ही हमें भोग लिया। भोग अपूर्ण हैं, नाशवान हैं, जिन प्राणियों से भोगों का सम्पादन होता है वे अपने इच्छानुसार चलने वाले स्वतंत्र हैं, और जिन देह तथा इन्द्रियों से भोग भोगे जाते हैं वे दुर्बल तथा शिथिल होने वाले और क्षणभंगुर हैं। इसलिए इच्छानुसार भोगों का भोगा जाना संभव ही नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए था कि वह योग द्वारा चित्त का निरोधकर अपने स्वरूप में स्थित होता, परन्तु वह भोगों के लोभ में पड़कर यह कर नहीं पाता, और अंततः भोग तो इच्छानुसार भोगा जाना संभव ही नहीं होता। इस प्रकार जीव दोनों तरफ से धोखा खाकर ठगा जाता है। निश्चित को वह स्वयं छोड़ देता है और अनिश्चित तो छुटा-छुटाया ही है।

"तिल झारि कबिरा लिया, तिलैठी झारें लोग।" कबीर साहेब कहते हैं कि समझदार लोग सार-सत्य का ग्रहण करते हैं और बेसमझ लोग असार में पड़े रहते हैं। देहाभिमान छोड़कर अपने चेतनस्वरूप को समझना तथा निजस्वरूप में ही स्थित होना यही सार-सत्य को ग्रहण करना है; भूले जीव स्वरूपज्ञान छोड़कर देहाभिमानी बने इन्द्रिय-भोगों को ही सार समझते हैं। समझदार तिल झाड़ लेते हैं। परन्तु बेसमझ सारहीन डंठल झाड़ते हैं। ज्ञानी आत्म-शोधन और आत्म-स्थिति कर लेते हैं और अज्ञानी देह को ही झाड़ने-पोछने में लगे रहते हैं। ज्ञानी स्वरूपस्थिति का अमृत-रस पीता है और अज्ञानी मलिन विषयों के रस में डूबकर जीवन को व्यर्थ ही नहीं खोता, किन्तु उसे पतित करके अपने

लिए भव-बंधन बना लेता है।

ये मरजीवा अम्मृत पीवा, क्या धँसि मरसि पतार।
गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार॥ 304॥

शब्दार्थ—अम्मृत=अमृत, अमर स्वरूप का बोध। पतार=पाताल, नाभि या कुंडलिनी, हठयोग की गहराई। यहि द्वार=विवेक-पथ।

भावार्थ—हे हठयोग के गोताखोर! अविनाशी चेतनस्वरूप का बोध प्राप्त कर! तू हठयोग की गहराई में धंसकर एवं कुंडलिनी-प्रदीपन के भ्रम में पड़कर क्या कर रहा है! सद्गुरु के कृपास्वरूप सत्योपदेश और साधु की संगत में लगकर इस विवेक-पथ में निकल आ!॥ 304॥

व्याख्या—हठयोगी लोग अपनी जीभ को उलटाकर उस विकारी जल को पीते हैं जो मूर्द्धा से टपकता है। वे उसे अमृत कहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे हठयोगी, वह विकारी जल अमृत नहीं है। अमृत तो अमर को कहते हैं। मृत में अ उपसर्ग लगाने से अमृत शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है चेतन एवं अमर। मृत कहते हैं निर्जीव एवं जड़ को तथा जो मरकर समाप्त हो गया हो, और अमृत कहते हैं जो चेतन एवं अमर हो। अतएव मनुष्य का चेतनस्वरूप ही अमृत है। उसका बोध प्राप्त करना मानो अमृत पीना है। या सारे विचारों तथा संकल्पों को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना मानो अमृत पीना है। सद्गुरु कहते हैं कि किसी प्रकार का जड़ाध्यास क्यों अपनाते हो! अमृत पीयो, अविनाशी स्वरूप में स्थित होओ!

कबीर साहेब कहते हैं कि हठयोग की गहराई में धंसकर मत मरो। कुण्डलिनी के भ्रम में मत पड़ो। यह केवल एक शब्दजाल है। यदि आध्यात्मिक ऊंचाई पर चढ़कर जीवन में परम शांति की प्राप्ति अभीष्ट है तो विनम्र होकर सच्चे सद्गुरु की खोज करो और उन्हें पाकर विनम्रतापूर्वक उनकी शरण में जाओ। उनकी सेवा तथा आज्ञा पालन करके उनसे अपने स्वरूप के विषय में सच्ची जानकारी प्राप्त करो। उनका सत्योपदेश ही उनकी तुम्हारे ऊपर दया एवं कृपा है। पूर्ण सद्गुरु के सत्योपदेश तथा साहचर्य जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए परम कल्याणकारी हैं। इसके साथ-साथ विवेक-वैराग्यसंपन्न संतों की संगत करो। उनकी संगत से तुम्हें आध्यात्मिक दिशा में बढ़ने के लिए मनोबल मिलेगा।

इस प्रकार सद्गुरु एवं संतों के सत्योपदेश तथा संगत से तुम्हें विवेकबल मिलेगा, फिर तुम इस विवेकद्वार पर निकल आओगे। "गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।" यह एक सहज-मार्ग का प्रकाश है। इस पंक्ति में सद्गुरु कबीर के सहज-मार्ग का चित्रण है। वे कहते हैं गुरु के उपदेशों के अनुसार चलो। संतो की संगत से तुम्हारी आध्यात्मिक यात्रा सरल होगी।

तुच्छ वस्तु की चिन्ता क्यों?

केतेहि बुन्द हलफो गये, केते गये बिगोय।
एक बुन्द के कारणे, मानुष काहेक रोय॥ 305॥

शब्दार्थ—हलफो गये=सही हो गये। हलफा=लहर, ऊंची तरंग, तेज सांस।

भावार्थ—वीर्य की कितनी ही बूंदें नारी के गर्भाशय में जाकर सही हो जाती हैं और उनसे गर्भ टिक जाते हैं और कितनी बूंदें यों ही नष्ट हो जाती हैं। तेरे पुत्र का शरीर भी तो तेरे वीर्य की एक बूंद था, फिर हे मनुष्य! उसके मर जाने पर तू क्यों रोता है!॥ 305॥

व्याख्या—मानो किसी व्यक्ति का पुत्र मर गया हो और वह उसके लिए रो-रोकर व्याकुल होता हो। सद्गुरु ने उसकी दशा देखकर उससे उक्त वचन कहे हों। 'हलफ' अरबी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है शपथ एवं कसम। सत्य की प्रामाणिकता के लिए शपथ ली जाती है। अतएव हलफ का प्रकारांतर से अर्थ है सत्य एवं सही। सद्गुरु ने उस पुत्र-वियोग से पीड़ित व्यक्ति को संबोधित कर कहा—हे मनुष्य! तेरे वीर्य की एक बूंद सही होकर उससे गर्भ रह गया, बच्चा हो गया, शेष तो अधिकतम बूंदें बेकार ही हो गयीं। तेरे बच्चे का शरीर भी तेरे वीर्य की एक बूंद था। वह यदि नहीं रह गया तो क्यों नहीं समझ लेता कि एक बूंद और मानो निरर्थक हो गयी।

यदि हम हलफो को हलफा पढ़ें तो उसके अर्थ लहर, ऊंची तरंग आदि हैं। इससे अभिप्राय होगा, कि हे मानव! तूने वीर्य कि कितनी ही बूंदें मन की तरंगों में खो दी और कितनी यों ही नष्ट हो गयीं, फिर एक बूंद वीर्य रूपी शरीर के लिए क्या रोता है!

किसी वस्तु के मूल्यांकन के कई दृष्टिकोण होते हैं। एक शरीर के अध्ययन करने के अनेकों पहलू हैं। शरीर के सौन्दर्य का अध्ययन, अंगों का अध्ययन, भौतिक अध्ययन, रासायनिक अध्ययन आदि। विवेकसंपन्न होने से इस शरीर की महत्ता का अध्ययन तथा यह एक बूंद वीर्य का ही तो विस्तार है इस प्रकार विचार कर इसकी तुच्छता का अध्ययन। सभी अध्ययन अपनी-अपनी जगह पर ठीक होते हैं। सारे अध्ययनों की अपनी आवश्यकता है। यहां पुत्र-वियोग में कोई पीड़ित है। उसके मन के मोह को तोड़ने के लिए शरीर की तुच्छता का अध्ययन आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से बात कही गयी है एकदम तथ्य है। यह शरीर क्या है, वीर्य की एक बूंद ही तो! यदि पुत्र मर गया तो क्या हो गया, मानो वीर्य की एक बूंद नष्ट हो गयी। फिर उसके लिए क्या रोना-धोना!

मानो कोई अपने शरीर के निर्वाह के लिए रो रहा है, तो यह भी अविवेक

ही है। क्या वीर्य की इस एक बूंद का निर्वाह नहीं हो जायेगा! हर प्राणी खाते-जीते हैं तो क्या हमारे इस तुच्छ शरीर का निर्वाह नहीं हो जायेगा! संसार के अधिकतम मनुष्य जीवनभर यही सोचते रहते हैं कि गुजर कैसे होगा, लड़की की शादी कैसे होगी, घर कैसे बनेगा, रोग तथा बुढ़ापा में सेवा कौन करेगा इत्यादि। कितने लोग तो इस चिंता में रहते हैं कि मेरे मर जाने के बाद मेरी लाश की अंत्येष्टि कौन करेगा! यह सब केवल पागलपन है। अनादिकाल से जितने प्राणी पैदा हुए हैं उन सबका देह-निर्वाह हुआ है। सभी की लड़कियों की शादी हुई है। सब किसी-न-किसी प्रकार छानी और छत के नीचे वर्षा-गरमी-ठंडी काटते हैं। सबकी रोग लग जाने पर किसी-न-किसी प्रकार औषध हो जाती है। धनी आदमी के जुकाम लगने पर भी पांच हजार रुपये खर्च हो सकते हैं तथा गरीब के बुखार में खरखोदवा दवाई से भी वह दूर हो जाता है। यदि दवा के अभाव में गरीबों को तकलीफ होती है तो कीमती दवा करते-करते भी धनी सड़ते रहते हैं। कौन बूढ़ा दूसरे से सेवा लेने के लिए शताब्दियों बैठा रहता है! सबको सेवा की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। कितने लोगों का चलते-फिरते शरीर छूट जाता है। जब जिसको सेवा की आवश्यकता पड़ेगी, उसको सेवा अपने आप मिल जायेगी! मेरे मर जाने पर मेरी लाश कौन उठायेगा, कौन उसकी अंत्येष्टि करेगा, यह तो महा पागलपन है। अरे, जिसे दुर्गन्ध आयेगी वही लाश को उठाकर कहीं ठिकाने लगा देगा। अन्यथा वहीं उसे चील्ह-गिद्ध, सियार-कुत्ते खा लेंगे। मेरा उसमें क्या जायेगा! चिन्ता का मूल ही है अविवेक।

आगि जो लागि समुद्र में, टूटि टूटि खसे झोल।
रोवै कबिरा डाँफिया, मोर हीरा जरे अमोल॥ 306॥

शब्दार्थ—समुद्र=संसार। खसे=गिरना। झोल=राख। डाँफिया=डंफिया, डंफना, जोर से चिल्लाकर एवं फूट-फूटकर रोना, विलाप करना।

भावार्थ—संसार-समुद्र में काल की आग लगी है और प्राणी-पदार्थ जल-जलकर तथा उनकी राख टूट-टूटकर गिरती है और संसार के लोग यह कहकर रोते-पीटते हैं कि मेरे अनमोल हीरे जल रहे हैं, अर्थात मेरे पुत्र, मित्र एवं निकट संबन्धी नहीं रहे॥ 306॥

व्याख्या—उलटवांसी कहने में प्रवीण कबीर पदे-पदे उलटवांसी कहते हैं। वे इस साखी में कहते हैं कि समुद्र में आग लगी है और वहां का सब कुछ जल रहा है। इसलिए सर्वत्र राख टूट-टूटकर गिर रही है। यह संसार मानो समुद्र है। इसमें काल की आग लगी है। हर वस्तु को काल निरन्तर क्षीण कर रहा है। हम जब मकान बनाते हैं और उसे पूरा करके तथा रंग-पोतकर ठीक करते हैं, तब कहते हैं कि यह मकान नया है। परन्तु उस मकान में हर समय परिवर्तन हो रहा है और वह पुराना हो रहा है। संसार के हर भौतिक पदार्थ में

निरन्तर रासायनिक परिवर्तन होता रहता है। अर्थात हर पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता रहता है। इसी प्रकार प्राणियों के शरीरों की बात है। प्राणियों के शरीर हर समय बदलते हैं। आदमी समझता है कि मेरा बच्चा बड़ा हो रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह क्षण-क्षण घट रहा है।

जैसे मकान, लकड़ी, पुवाल आदि में अब आग लगती है तब उनके जलने पर उनमें से राख टूट-टूटकर गिरती है, वैसे प्राणियों के शरीरों की दशा है। वे मानो काल की आग में निरन्तर जलते हैं और क्षीण हाते हैं। एक दिन प्राण निकल जाने पर उनके शरीर आग में जल जाते हैं। आदमी स्वजनों के मरने पर फूट-फूटकर रोता है। वह कहता है कि मेरा हीरा पुत्र नहीं रहा, मेरा मित्र, मेरी पत्नी, मेरे प्यारे स्वजन नहीं रहे। विवेकहीन मनुष्य इन सपनों में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के वियोग को लेकर विकल होता है, विलाप करता है और उनके शोक में जलता है। हम विचारकर देखें कि यहां कौन किसका है! माता, पिता, पुत्र, पत्नी, मित्र, गुरु, शिष्य आदि सब इकट्ठे हो जाते हैं तो लगता है कि यह सब सत्य है, यह सब इसी प्रकार नित्य बना रहेगा। परन्तु इनके बिगड़ने में देरी नहीं लगती। हम जिसको बड़े प्यार से हृदय से लगाते थे वह क्षण ही में हमसे सदा के लिए विदा हो जाता है। "दिल में जो दिल बनके धड़के, गये तो न देखा जरा मुड़के।" आश्रयदाता श्रद्धेय पिता बिस्तर पर लेटे ही थे कि एक हुचकी आयी और संसार से विदा हो गये। पुत्र सड़क के एक्सीडेंट में क्षण ही में नहीं रहा। पत्नी रेलवे लाइन पार कर रही थी कि गाड़ी आ गयी और उसने ऐसा रौंद दिया कि वह पहचानी न जा सकी। हमारे माने हुए साथी एक-एक कर उठ जाते हैं और हम अकेले रह जाते हैं। एक दिन हम भी स्वजनों को रोते-पीटते छोड़कर बेदर्द की तरह यहां से चले जाते हैं।

यह संसार एक सरायखाना है, पथशाला है। यहां कोई रुक नहीं सकता। यहां रुकने का नियम ही नहीं है। फिर कोई चला गया तो डंफना क्यों! रोना-धोना क्यों! यह तो केवल अविवेक है। प्रकृति के नियम को कौन नहीं जानता कि शरीरधारी को शरीर छोड़ना है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद सबने शरीर छोड़ा है। हमारे माने गये स्वजन कब तक बैठे रहेंगे।! अतएव इस संसार में मोह-शोक से रहित होकर जीना ही समझदारी का काम है।

इस साखी को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अज्ञान की आग लगी है। इसमें सब जीव रात-दिन जल रहे हैं। कबीर फूट-फूटकर रोते हैं और कहते हैं हाय, मेरे अनमोल हीरे-जीव अज्ञान में जल रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जीवों को अज्ञान में जलते देखकर दुखी होते हैं। वे सभी जीवों को सजाति समझकर उनके प्रति करुणाशील होते हैं। वे सबका कल्याण चाहते

हैं। इसलिए वे उनके दुखों को देखकर करुणाविगलित हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि संसार के लोग अज्ञान की आग से अपने आप को बचायें।

लोगों की जड़ता

छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।
कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी॥ 307॥

शब्दार्थ—छौ दर्शन=योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण; तात्पर्य में समस्त धार्मिक मत। परवाना=प्रमाणित, सत्य-मान्य। बनवारी=बनावटी वाणी, वनमाली—वन के फूलों की माला पहनने वाला, तात्पर्य में परमप्रिय। खलक=ख़लक, जीवसमष्टि, लोकसमूह, संसार के लोग। सयाना=समझदार। अनारी=अनाड़ी, अज्ञानी।

भावार्थ—नाना धार्मिक मतों द्वारा जो कुछ सत्य करके मान लिया गया है उसके नाम पर ही नाना कल्पित वाणियां बनी हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि इनके मानने वाले संसार के लोग ही ज्ञानी हैं, बल्कि मैं ही अनाड़ी हूं॥ 307॥

व्याख्या—इस साखी की प्रथम पंक्ति में समस्त धार्मिक मतों की भ्रममान्यताओं के लिए व्यंजना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक मतों में अच्छाइयां तथा सच्चाइयां नहीं हैं। एक चोर तथा चाकू के विचारों में भी कुछ-न-कुछ सच्चाई होती है, फिर जो धार्मिक मत संसार के कुछ लोगों को कुछ संतोष देते हैं, उनमें कुछ सच्चाई क्यों नहीं होगी! सत्य तथा सदाचार की बातें चोर भी करते हैं। यह आज भी देखा जा सकता कि जो धर्म के नाम पर धूर्ताई करते हैं वे भी समाज को सदाचार की शिक्षा देते हैं। यही तो उनको अपनी बुराई छिपाने का कवच होता है। भूत-प्रेत, देवी-देवता, तंत्र-मंत्र-यंत्र, ग्रह-लग्न-मुहूर्त, अवतारवाद, पैगम्बरवाद, अपनी पुस्तकों को इलहामी एवं कथाकथित ईश्वरीय मानना, अपने मत को सत्य का एकाधिकारी मानना, स्वर्ग-नरक की कल्पनाएं, अपनी आत्मा से अलग अपना लक्ष्य मानना आदि सब भ्रांत एवं कल्पित मान्यताएं हैं। जिन मतों में जो अंश सही है वह तो परम आदरणीय है, परन्तु जो मान्यताएं भ्रांत हैं वे चाहे जान-बूझकर एवं धूर्ततापूर्वक हों और चाहे अनजाने में भोलेपन से हों, मनुष्य के लिए अहितकर हैं। परन्तु उन्हें सत्य मानकर उन मतों द्वारा उनके समर्थन में नाना ग्रन्थ बने हैं। बड़ी-बड़ी गद्दियों पर उन्हीं के व्याख्यान हो रहे हैं।

कोई कहता है हमारा पूज्य सुप्रीम पावर एवं परमात्मा का अवतार है, कोई कहता है हमारा पूज्य ईश्वर का संदेशवाहक है, कोई कहता है कि हमारा पूज्य ईश्वर का पुत्र है, कोई कहता है हमारा पूज्य स्वयं भगवान है, कोई कहता है हमारी किताब ईश्वर की वाणी है, कोई कहता है हम आस्तिक हैं शेष सब

नास्तिक हैं, कोई कहता है हमारा मत दीन है और सब बे-दीन एवं काफिर हैं, कोई कहता है हमारा मार्ग पवित्र, शेष का अपवित्र है। नाना मत के लोग सत्य तथा ईश्वर के ठेकेदार बनकर अन्य को तुच्छ समझते हैं, परन्तु वे अनेक ऐसी बातें करते हैं जो कारण-कार्य व्यवस्था से दूर, विश्व के शाश्वत नियमों से अलग तथा प्रकृति के गुण-धर्मों से परे चमत्कार, अंधविश्वास एवं बिना सिर-पैर की हैं। धर्म का नाम लेकर सारी झुठाइयां की जाती हैं। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं कि छह दर्शनों एवं समस्त धार्मिक मतों में जो कुछ प्रामाणिक एवं सत्य मान लिया गया है, उसके नाम पर नाना वाणियां बन गयी हैं, और उन मतों के लोग उन वाणियों को ही परम सत्य करके मान लिये हैं चाहे उनमें हजारों नकली बातें हों।

"छौ दर्शन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी" इस पंक्ति का ऊपर सरल अर्थ किया गया। इस पंक्ति में 'बनवारी' महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसका अर्थ बनावटी या कृत्रिम वाणी किया गया है। वाणियां तो सभी बनावटी होती हैं। यहां बनावटी का अर्थ है बनावटी कथ्य, जो कुछ कहा गया हो, वह काल्पनिक हो। बनवारी के प्रचलित अर्थ का शुद्ध शब्द है 'वनमाली'। इसका अर्थ होता है वन के फूलों की माला पहनने वाला। कृष्ण में रूढ़ होने से वनमाली का अर्थ कृष्ण प्रचलित है, परन्तु इस साखी के बनवारी से कृष्ण का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि छहों दर्शन एवं सभी मतों में कृष्ण मान्य नहीं हैं। यहां बनवारी का अर्थ वन-माला धारण करने वाला माना जाये तो लक्षणा अर्थ में परम प्यारा कर सकते हैं। अर्थात छह दर्शनों में एवं समस्त धार्मिक मतों में जो सत्य माने गये उन्हीं के नाम उनके लिए परम प्यारे हो गये। जो जिसे प्रिय हो जाता है उसमें चाहे कितना ही भ्रम एवं असत्य हो, वे उसे छोड़ना नहीं चाहते।

कबीर साहेब ने नाना धार्मिक मत वालों को देखा, उनके काल्पनिक मतों को देखा, उनकी मान्यताओं को जांचा-परखा और उन्हें असत्य मान्यताओं को छोड़ने की राय दी। परन्तु उन्होंने देखा कि जो जिन उलटी-सीधी बातों को सिद्धांत एवं मत के रूप में मान लिये हैं उनमें वे दृढ़ हो गये हैं। वे उन्हें छोड़ने वाले नहीं हैं। बल्कि समझाने वालों को ही उलटकर गलत कहते हैं। तब सद्गुरु ने उनकी उलटी क्रिया देखकर कहा—"कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी।" अर्थात संसार के लोग ही समझदार हैं, ज्ञानी हैं। इनमें मैं ही अज्ञानी हूं।

उपदेष्टा के उपदेश जब लोग नहीं मानते तब कभी-कभी उपदेष्टा स्वयं को ही कोसने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—"रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न की तरह भाई के साथ भाई प्रेमपूर्वक रहे, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान हो रहे हैं।

जैसे कौरव तथा पांडव भाई-भाई होकर भी मिथ्या स्वार्थवश आपस में कटकर मर गये। गोस्वामी जी अपने आप को कोसते हुए कहते हैं कि हे तुलसी! तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनेगा! कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।" मूल वचन इस प्रकार है—

रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुने, कलि कुचाल पर प्रेम॥

कबीर साहेब ने देखा कि धर्म और तथाकथित ईश्वर-आज्ञा के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई बनायी गयी है, तर्कहीन एवं ऊलजलूल बातें मिलाई गयी हैं, भक्ति के नाम पर जड़बुद्धि की बातें कहीं गयी हैं, मोक्ष और परमात्मा-प्राप्ति के नाम पर व्यक्ति को उसकी अपनी आत्मा से अलग भटका दिया गया है। इसलिए उन्होंने अपनी निष्पक्ष वाणियां कहीं जिससे लोगों की आंखें खुलें। उनकी बातों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और वह प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आज उसका प्रभाव अति व्यापक रूप में है चाहे उनका नाम लेकर या बिना नाम लिये।

बीजक के प्राचीन व्याख्याकार श्री पूरण साहेब ने इस साखी की व्याख्या में एक कहानी लिखी है जो मनोरंजक के साथ शिक्षाप्रद भी है। वह इस प्रकार है—

एक राजा था। उसने तीन दिनों की समाधि ली। इन्हीं तीन दिनों के बीच में पागलपन का पानी बरसा। राज्य के सभी लोग उस पानी को पीकर पागल हो गये। समाधि में होने से राजा पर प्रभाव नहीं हुआ। राजा समाधि से उठा। उसने सभा की। सभी सभासदों को देखा कि वे सब पागलपन की बातें करते हैं। राजा आश्चर्यचकित हुआ। उसने उन्हें समझाना चाहा। सभी सभासद राजा से रुष्ट होकर कहने लगे कि राजा पागल है। यह तथ्य है कि पागल आदमी अपने आप को पागल नहीं समझता। वह दूसरों को पागल कहता है। राजा ने सोचा कि इनके साथ समझौता करके ही इन्हें समझाना ठीक है। स्वयं लघु बनकर इन्हीं की बड़ाई करते हुए इन्हें समझाया जा सकता है। अतः सभासदों से राजा ने कहा कि सचमुच मैं ही पागल हूं। आप लोग समझदार हैं। जब सभासदों का पालगपन दूर हुआ तब उन्होंने राजा की बातें समझीं।

इसी प्रकार धर्म, ईश्वर, भक्ति, मुक्ति आदि के नाम पर मनुष्यों में जो जड़ता है उसे एकाएक नहीं छुड़ाया जा सकता। किन्तु उनकी जड़ता में मिलकर, उनकी बातों का कुछ समर्थन करके तथा उन्हें थोड़ा संतुष्ट करके तब उन्हें थोड़ा-थोड़ा रास्ते पर लाया जा सकता है। श्री रामरहस साहेब ने कहा—

जेहिकर जहाँ बँधावा होई। ताहि सराहि मिले भल सोई॥

रती रती दर्शाव करावै। अबुध के संग अबुध होय जावै॥ पंच. गुरु.॥

सत्य पथ का पथिक अजेय होता है

साँचे श्राप न लागै, साँचे काल न खाय।
साँचहिं साँचा जो चलै, ताको काह नशाय॥ 308॥

शब्दार्थ—श्राप= शाप, बद्दुआ। काल= समय, मत्यु।

भावार्थ—सच्चे को किसी का शाप नहीं लगता, सच्चे को काल नहीं खा सकता। जो व्यक्ति केवल सच्चे पथ पर चलता है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है!॥ 208॥

व्याख्या—यह विश्वसत्ता का परम सिद्धान्त एवं तथ्य है। सत्य को न शाप लगता है और न उसे काल खा सकता है। अतः तुम्हें लोग क्या कहते हैं इसकी चिन्ता मत करो; परन्तु तुम क्या करते हो इस पर विचार करो। यदि तुम असत्य में लिपटे हो तो दुनिया की कोई शक्ति तुम्हें पतन से बचा नहीं सकती; और यदि तुम सत्य में प्रतिष्ठित हो तो दुनिया की कोई शक्ति गिरा नहीं सकती। यह केवल मन को धैर्य देने की बात नहीं है, किन्तु ठोस सत्य है। जिस व्यक्ति को परम तथ्य पर दृढ़ विश्वास हो जाता है और इस विश्वास के दृढ़ धरातल पर अपने जीवन की गतिविधि करने लगता है वह भीतर से तो पूर्ण हो ही जाता है, बाहर से भी चमक जाता है।

विश्वसत्ता के जो नियम हैं उनको पहचानना तथा उनके अनुसार चलना सत्य में चलना है। हमारा पेट कितना भोजन आराम से पचाता है और हमें हल्कापन एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है, इसकी हमें ठीक से पहचान करनी चाहिए और उसी के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन में चाहे जितने स्वादिष्ट व्यंजन बने हों, उनके प्रलोभन में न पड़ना। यह भी देखना कि भोजन में कौन-सी वस्तु हमारे स्वास्थ्य के लिए ठीक है और कौन-सी वस्तु गलत है। ठीक को लेना तथा गलत को न लेना। भोजन में वस्तु और मात्रा दोनों पर ध्यान देना चाहिए। अखाद्य कभी नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार जो यथावत कार्य करता है वह आनंदित रहता है।

हमारे नित्य के व्यवहार में किन मनुष्यों का कितना संबन्ध उपयुक्त है, हमें किन-किन मनुष्यों का संबंध कितना लेना चाहिए तथा कितने से बचना चाहिए, हमारे व्यवहार एवं परमार्थ की सिद्धि के लिए कितना संबंध उपयुक्त है, हमारी शांति में कितनी चर्चाएं बाधक एवं कितनी साधक हैं, हमें कितनी बातें करनी चाहिए, कितनी निरर्थक हैं, इन सब की परख तथा तद्नुकूल ग्रहण और त्याग करना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति को पहचानकर जो यथायोग्य व्यवहार करता है वह सुखी रहता है।

हमारे जीवन की इसी में सार्थकता है कि हमारे द्वारा दूसरे की जितनी अधिक हो सके सेवा हो तथा अपने लिए संयम हो। पहली बात मनुष्य का सहज कर्तव्य है कि वह दूसरे की सेवा करे। दूसरी बात है कि उसके भौतिक एवं आत्मिक कल्याण लाखों लोगों के सहयोग से होते हैं। इसलिए उसे भी चाहिए कि वह जितना बन सके दूसरे की सेवा करे। अपने लिए संयम, यह जीवन की अंतिम सफलता है। संयम इस सीमा तक पहुंचना चाहिए कि इस जीवन में रहते-रहते सारी इच्छाओं की निवृत्ति हो जाये। हर आदमी रोते हुए जन्मता है, शिकायत करते हुए जीता है तथा निराशाग्रस्त होकर मरता है। यह जीवन की घोर असफलता है। रोते हुए जन्म लेना प्रकृति का विधान है। इसको बदलने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य का बच्चा रोते हुए जन्म लेगा ही। परन्तु जो हम शिकायत करते हुए जीते हैं इसको पूरा बदल सकते हैं। जिसकी सारी इच्छाएं बुझ जाती हैं वह किसी की शिकायत नहीं करता। अथवा यह चाहिए, वह चाहिए—वह शिकायत उसके जीवन में आ ही नहीं सकती। जिसकी इच्छाएं सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं उसे निराशा में मरने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। सारी आशाएं पहले ही समाप्त हैं तब निराशा का कोई मतलब ही नहीं रहा।

पर-सेवा और स्व-संयम जीवन का परम सत्य है। इनमें जो विघ्न आये उन्हें सहकर इनको निभाना मानव की मानवता है। पर-सेवा की कोई सीमा नहीं है। वह जितना संभव हो करे, परन्तु स्व-संयम में पूरी सीमा तक खरा उतरने पर ही कृतार्थता हो सकती है। पर-सेवा का भाव रखने वाला कभी किसी का अहित नहीं सोच सकता और जो अपने आप में संयम रखता है उसके द्वारा दूसरों का अहित होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस प्रकार जो दूसरे का अहित करने से सर्वथा निवृत्त हो गया है और जितना बन सकता है उतना परहित ही करता है और स्वयं संयम के पथ पर चलता है, वह सत्य पथ का पथिक है। उसको किसी की बद्दुआ कैसे लगेगी! उसे कोई न समझ पाये और गाली देता रहे है तो उसे क्या अन्तर पड़ेगा! क्या दुनिया के किसी भी महापुरुष को आप बतायेंगे कि उसे पागलों ने गाली न दी हो! तो इससे उसका क्या बिगड़ा! बिगाड़-सुधार तो अपने भाव तथा कर्म से होते हैं। यदि हम स्वयं सही पथ पर हैं तो यह चिंता करने की क्या आवश्यकता कि दूसरे लोग क्या कहते हैं! हम अपने आप को दूसरों के सामने सर्वथा निर्दोष सिद्ध करके तब अपने पथ पर चलेंगे यह सोचना ही अज्ञान है। दुनिया का कोई महापुरुष अपने आप को सबके सामने निर्दोष नहीं सिद्ध कर सका है और न आगे सिद्ध कर सकेगा। दूसरे लोग हमारे सम्बन्ध में क्या सोचते और कहते हैं इस पर हमें सोचना ही नहीं चाहिए; किन्तु हमें निरन्तर अपने आप को देखना चाहिए कि हम क्या करते

हैं! मुझे, पूर्णतया मैं ही समझ सकता हूं, दूसरा नहीं। यदि मैं स्वयं अपने आप को नहीं समझ पा रहा हूं, तो मैं घोटाले में हूं। जो अपने विषय में दूसरे से राय जानना चाहता है वह धोखे में है। यह अलग बात है कि आरंभिक कच्ची एवं साधनावस्था में दूसरे मित्रों एवं महापुरुषों से अपने विषय में राय लेना चाहिए, अपने स्वभाव, चाल-ढाल एवं रहनी के विषय में उनसे परख करवानी तथा सम्मति लेनी चाहिए। परन्तु अंततः अपने आप को बोध और रहनी में इतना मजबूत बनाना चाहिए कि हम दूसरों से दृष्टि हटाकर निरंतर अपने आप को ही देखने का अभ्यास करें और जो निरन्तर अपने आप को देखता है और सुधारता है वह कालजयी हो जाता है।

हीरे रगड़ने पर काले नहीं होते, किन्तु उत्तरोत्तर चमकते हैं, इसी प्रकार सत्पथ पर चलने वाला कभी धूमिल नहीं होता चाहे उसकी कोई कितनी निंदा करे! सूरज की तरफ धूल उछालने पर वह उस तक नहीं पहुंच सकती, किन्तु लौटकर उछालने वाले के ऊपर ही पड़ती है। दूसरे के दोष देखने वाला तथा निंदा करने वाला स्वयं गिरता जाता है, परन्तु सत्पथ पर चलने वाला उठता जाता है। सत्पथ का राही अपने निंदकों की प्रतिक्रिया में नहीं पड़ता। उसके पास किसी को बुरा देखने और कहने का अवसर ही नहीं रह जाता। कौन विवेकवान होगा जो अपने रत्नतुल्य समय को परदोष-दर्शन एवं परनिंदा में लगाकर अपने मन और वाणी को दूषित करेगा।

हर मनुष्य को तथा कम-से-कम साधकों को यह दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि यदि हम दूसरों का अहित नहीं सोचते, बल्कि दूसरे का हित सोचते हैं, यहां तक कि अपने विरोधी के प्रति भी, और अपने जीवन में पूर्ण संयम से रहते हैं तो इसके बाद चिंता छोड़ देनी चाहिए कि लोग हमें क्या कहते हैं। सत्य-पथ पर चलने वाले को बुरा कहकर न कोई गिरा सकता है, न उसे काल खा सकता है। जो केवल सत्पथ का राही है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

"सबते साँचा भला" इस 64वीं साखी की व्याख्या का भी मनन करना चाहिए।

पूरे गुरु का सेवन करो

पूरा साहेब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय॥ 309॥

शब्दार्थ—पूरा साहेब= बोध और रहनी में पक्का सद्गुरु।

भावार्थ—हे मुमुक्षु! जो बोध और रहनी—दोनों से संपन्न है, ऐसे सद्गुरु की सेवा करो, फिर तुम सब प्रकार से कृतार्थ हो जाओगे। यदि छिछले गुरु से

प्रेम लगाओगे तो तुम्हारा मूलतत्त्व-विवेक भी खो जायेगा, अथवा भ्रमवश गुरु मात्र से अश्रद्धा कर बैठोगे॥ 309॥

व्याख्या—अपने स्वरूप के विषय में जिसको सच्चा ज्ञान है, व्यवहार बरतने की सम्यक समझ है और पवित्र रहनी में जो पूर्णतया चलता है, वह पूरा साहेब है।

इस संसार में कोई बिरला मनुष्य होता है जो सांसारिकता से उपराम होकर यह सोचता है कि मैं कौन हूं, जगत क्या है, मेरा और जगत का सम्बन्ध कैसा है और जीवन का लक्ष्य क्या है! ऐसा सोचने वाला जिज्ञासु एवं ज्ञान की इच्छावाला कहा जाता है। जब उसे किसी गुरु द्वारा इन सब का ज्ञान होता है, तब उसे भव-बन्धनों से छूटने की उत्कंठा जगती है, तब उसे मुमुक्षु कहा जाता है जिसका अर्थ है मोक्ष की इच्छावाला। इसलिए वह बंधनों को छोड़ने का अभ्यास करता है। बंधन हैं मन के विकार। मन के विकारों से ही इन्द्रियों में गलत आदतें रहती हैं। जो इन बंधनों को तोड़ने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है उसे कहते हैं साधक या साधु। इस अवस्था में कभी मन पर विजय होती है और कभी मन से हार। जब अभ्यास करते-करते व्यक्ति पूर्ण अनासक्त एवं चारों ओर से निष्काम हो जाता है तब वह संत हो जाता है। पूर्णत्व प्राप्त को संत कहते हैं। पूर्णत्व का अर्थ कृतकृत्य हो जाना है। जब कुछ करने, खाने, देखने, सुनने, किसी से मिलने, कुछ पाने यहां तक जीने-मरने की भी इच्छा नहीं रहती, जब वह पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं पूर्ण संतुष्ट हो जाता है, तब उसे पूर्ण कहते हैं। ऐसा व्यक्ति खाना, पीना, देखना, सुनना, आना, जाना केवल शरीरयात्रा पूर्ण करने के लिए करता है। वह किसी चीज में आसक्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति ही पूरा साहेब है। कबीर देव कहते हैं कि ऐसे सद्गुरु की सेवा करो। ऐसे सद्गुरु के चरणों में पूर्णतया समर्पित हो जाओ, उनकी अनन्य भाव से सेवा एवं उपासना करो तो तुम्हारा सब प्रकार कल्याण हो जायेगा। ऐसे उच्चादर्श की उपासना से तुम भी पूर्णकाम हो जाओगे।

पूरा साहेब एवं पूर्ण गुरु का व्यक्तित्व अमृत-रस से भरा होता है। पूर्ण गुरु के व्यक्तित्व से हर समय मानो अमृत-रस चूता है। उपासक-शिष्य को खुला पात्र होना चाहिए जिससे वह रस उसमें इकट्ठा हो सके। साधक निष्कपट एवं सरल भाव से जब पूर्ण गुरु को समर्पित हो जाता है तब उसमें गुरुत्व अपने आप आने लगता है। यही दीपक से दीपक जलाना है।

यदि साधक स्वयं छिछला है तो वह पूर्ण गुरु पाकर भी उससे कोई लाभ ले नहीं पाता। परन्तु यदि वह कल्याण के लिए समर्पित है तो पूर्ण गुरु पाकर कृतार्थ हो जाता है। शिष्य का "सब विधि पूरा होय" का अभिप्राय यही है कि उसको अपने जीवन में पूर्ण संतोष मिल जाता है। वह भी गुरु की तरह

पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं प्राप्तकाम हो जाता है। "मुझ ही ऐसा होय रहो" सद्गुरु ने आदेश भी दिया है।

"ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवै खोय।" यदि छिछला गुरु मिल गया तो साधक का विवेक भी खो जाता है। जिसमें स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, यदि ज्ञान है तो रहनी नहीं है, जो गुरु स्वयं मन तथा इन्द्रियों का गुलाम है, राग-द्वेष और कलह-कल्पनाओं में पड़ा है वह छिछला है। यदि साधक ऐसे गुरु से प्रेम करेगा और उसके दुर्गुणों से सावधान होकर उससे अलग नहीं हो जायेगा तो उसके कुसंग में पड़कर उसका विवेक खो जायेगा। मनुष्य के कल्याण का मूल है विवेक। कुसंग से विवेक नष्ट होता है तथा सत्संग से विवेक जाग्रत एवं विकसित होता है। सच्चे सद्गुरु की शरण में ही विवेक जगेगा, छिछले गुरु की संगत में तो रहा-सहा विवेक चौपट हो जाता है। छिछले गुरुओं के साथ मूल खो जाने की बात यह भी है कि यदि साधक पक्की समझ का नहीं है तो उसकी श्रद्धा गुरु मात्र से उठ सकती है। उसको भ्रम हो सकता है कि सब गुरु ऐसे ही अधकचरे होते होंगे। ऐसी अवस्था में वह परमार्थ-पथ से हटकर केवल पामर एवं भौतिकवादी हो सकता है। यदि गुरु और संत नामधारी हैं, परन्तु उनकी संगत में रहने से मन के विक्षेप ही बढ़ते हैं तो वे तत्काल त्याज्य हैं। वह अंजन किस काम का जिसके लगाने से आंखें ही फूट जायें। इसी प्रकार वह गुरु तथा संत की संगत कैसी जिससे मन में विक्षेप बढ़कर अशांति फैले! इसलिए साखी ग्रन्थ में कहा है—

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥
साँचे गुरु के पक्ष में, दीजै मन ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय॥

अधकचरे गुरु की विदाई

जाहु वैद्य घर आपने, यहाँ बात न पूछै कोय।
जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय॥ 310॥

शब्दार्थ—वैद्य=चिकित्सक, लक्षणा अर्थ में गुरु, परन्तु व्यंजना है असद्गुरु एवं गुरुआ के लिए।

भावार्थ—हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। जिन सद्गुरु ने मेरे कल्याण की जिम्मेदारी ली है वह स्वयं मेरा निस्तार करेगा॥ 310॥

व्याख्या—संसार में गुरु की बड़ी प्रतिष्ठा है। कबीर साहेब ने स्वयं गुरु के महत्त्व का बखान किया है। गुरु जिज्ञासुओं के मानस-नेत्रों का अज्ञान-माड़ा हटाता है। गुरु के संरक्षण में साधक अपना कल्याण प्राप्त करता है। अतएव साधारण जनता, भक्तों, जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं द्वारा गुरु की पूजा-प्रतिष्ठा होती है और ऐसा होना ठीक ही है। परन्तु ऐसा देखकर संसार में बहुत-से अधकचरे तथा धूर्त लोग गुरु का चोला पहनकर जनता को उपदेश देने लगते हैं और उनसे अपने आप को पुजवाने लगते हैं। जिनके ज्ञान तथा आचरण का कोई ठिकाना नहीं है ऐसे लोग मुमुक्षु के उद्धारक बने घूमते हैं। ऐसे गुरुओं के चक्कर में पड़े हुए जिज्ञासु को जब किसी विवेकज्ञान संत एवं भक्त की संगत पाकर विवेक हो जाता है और वे गुरु तथा शिष्य के लक्षण जान लेते हैं और जड़-चेतन तथा बन्ध मोक्ष के भेद समझ लेते हैं। तब वे ऐसे गुरुओं के सिकंजे से निकल जाते हैं।

मानो कोई ऐसा ही अधकचरा गुरु आया हो, परन्तु जो शिष्य विवेकवान संत, भक्त एवं गुरुजनों की संगत पाकर विवेकवान हो गया हो, उसने उस अधकचरे गुरु से कहा हो कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर लौट जाइए। यहां आपसे कोई बात भी पूछने वाला नहीं है। हम आपके चक्कर में तभी तक थे जब तक भ्रम में पड़े थे। अब हमारे भ्रम मिट गये हैं। अब हमने समझ लिया है कि गुरु कौन है, सद्गुरु कौन है तथा गुरुआ कौन है। माता-पिता एवं किसी विषय की शिक्षा देने वाले गुरु हैं, स्वरूपबोध देकर अपनी वाणी तथा उच्च रहनी के आदर्श से प्रेरित करके स्वरूपस्थिति की ओर अग्रसर करने वाले सद्गुरु हैं और नाना अंधविश्वास में फंसाने वाले तथा स्वयं अंधविश्वास और विषय-वासनाओं में डूबे हुए तथाकथित उपदेशक गुरुआ हैं। जो स्वयं नाना भ्रांतियों, भूत-प्रेतों, मंत्र-तंत्रों, देवी-देवताओं एवं परोक्ष कल्पनाओं में उलझा है, जिसे स्वयं अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं है, अथवा जो खुद काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं राग-द्वेष का गुलाम है, वह दूसरे को क्या प्रकाश दे सकता है! स्वयं भटकने वाला व्यक्ति दूसरे का भटकाव क्या दूर कर सकता है! जो स्वयं दुखी हो वह दूसरे के दुखों को दूर करने के लिए क्या आदर्श दिखा सकता है! इसलिए हे गुरु महाराज! आप हमारी आशा छोड़ दें। अब हम जग गये हैं। आप गुरुत्व को बदनाम न करें। आप स्वयं किसी सच्चे सद्गुरु की शरण में जाकर बोध प्राप्त करें। इसके बाद विषय-वासनाओं का त्यागकर स्वयं परमार्थ-दशा में ठहरें। दूसरे का गुरु बनना, सद्गुरु बनना तो बहुत बाद की बात है। यह तो स्वयं कृतार्थ हो जाने के बाद होता है। स्वयं पूर्ण निर्भ्रांत, अनासक्त एवं तृप्त हुए बिना दूसरे के उद्धार का बोझा नहीं लेना चाहिए। अधकचरा गुरु दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेकर स्वयं डूबेगा और शिष्यों

को भी डुबायेगा।

इसलिए साधक कहता है—"जिन्ह यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय।" मेरे कल्याण की जिम्मेदारी जिन सद्गुरु ने ली है, वे ही मेरा निस्तार करेंगे। जो बोध और रहनी से संपन्न पूरा साहेब है एवं पूर्ण सद्गुरु है, उसी को शोभा देता है कि वह दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी ले। जो कृतार्थ संत होते हैं उनमें से कुछ तो दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। वे किसी को न शिष्य बनाते हैं और न दूसरे किसी को अपने साथ रखने का दायित्व लेते हैं। वे स्वच्छंद विचरण करते या एक स्थान पर रहते और अपने आत्माराम के भजन में डूबे रहते हैं। वे सदैव स्वरूपस्थिति में निमग्न रहते हैं। उनकी रुचि हुई तो सामने मिले हुए जिज्ञासुओं को कुछ संबोधित कर देते हैं। परन्तु दूसरे कुछ कृतार्थ संत होते हैं, वे दूसरे के कल्याण की जिम्मेदारी लेते हैं। वे लोगों को विधिवत दीक्षा देते हैं। वे विरक्त साधुओं को दीक्षा देकर तथा उन्हें साथ रखकर उनको हर प्रकार से सन्मार्ग में प्रेरित करते हैं। श्री रामरहस ने पंचग्रन्थी के गुरुबोध प्रकरण में कहा है—गुरु तथा साधु[1] का एक रूप होता है। इनके अलावा कल्याण का कहीं स्थल मानना कल्पनाओं के जाल में पड़ जाना है। गुरु और साधु में जो थोड़ा अन्तर होता है वह यह है कि गुरु दयालु होता है, अशरण को शरण देकर उसके कल्याण में सहायक होता है और साधु सदैव स्वच्छंद होते हैं। वे किसी के कल्याण की जिम्मेदारी नहीं लेते। मूल वचन इस प्रकार है—

एक रूप गुरु साधु का, दूजा काल को फन्द।
अशरण शरण दयालु गुरु, साधु सदा स्वच्छंद॥

साधक कहता है कि हे गुरु महाराज! आप अपने घर जाइए। हमें अब सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं उन्होंने हमारा बोझा ले लिया है। वे हमारा निर्वाह करेंगे। वे पूर्ण हैं। वे हमारा निस्तार कर सकते हैं। अब आप तकलीफ न उठायें। आप स्वयं किसी पूर्ण सद्गुरु की शरण में जायें। स्वयं को सद्गुरु मानने का भ्रम छोड़ दें।

अधकचरे गुरुओं की दशा

औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।
रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत॥ 311॥

शब्दार्थ—मोहड़े=मुख में। रेत=बालू, धूल। रास=पशुओं का समूह।

भावार्थ—दूसरों को उपदेश करते-करते वाचक-ज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं के मुख में अंततः धूल ही पड़ती है। उनकी दशा वैसे होती है जैसे कोई

27. यहां गुरु का अर्थ सद्गुरु तथा साधु का अर्थ संत है।

भोला आदमी दूसरों के पशुओं की रक्षा के चक्कर में पड़कर उनके द्वारा अपने घर के खेत की फसल को ही चरा दे॥ 311॥

व्याख्या—309वीं साखी से लेकर इस साखी तक एक ही प्रसंग है। सद्गुरु ने 309वीं साखी में जिज्ञासुओं को चेतावनी दी है कि पूरे गुरु की शरण में जाओ, तभी तुम्हें पूर्णता मिलेगी। यदि तुम छिछले गुरु से प्रेम करोगे तो भटकोगे। इसके आगे की साखी में साधक ने अधकचरे गुरु को जवाब ही दे दिया है। इस साखी में भी वही क्रम है। सद्गुरु कहते हैं कि वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु दूसरों को धुआंधार उपदेश करते हैं, परन्तु उन्हें अपने तनोबदन का होश नहीं रहता। वे स्वयं क्या करते हैं, इसका लेखा-जोखा वे कभी नहीं करते। उन्हें स्व-चरित्र-सुधार, आत्म-शोधन एवं आत्म-चिंतन से कोई प्रयोजन नहीं है। वे तो केवल दूसरों को धर्म, ईश्वर और मोक्ष के नाम से अपने माया-जाल में फंसाना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। देखो न, आजकल गुरुओं की बड़ी-बड़ी दुकानों को, जिनमें न सच्चा ज्ञान है, न मन की सच्चाई और न चरित्र की प्रौढ़ता। बस, वे दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नये-नये जाल रचते हैं। छोटी दुकान वाले भी वाचकज्ञानी एवं अधकचरे गुरु घूमते हैं जो रात-दिन मन की धारा में बहने वाले हैं, परन्तु वे दूसरे का उद्धार करने के लिए दावा करने हैं। कबीर देव कहते हैं। कि ऐसे लोगों के मुख में अंततः धूल पड़ेगी। जो स्वयं आचरण में न चलकर केवल दूसरों को सीख देने के चक्कर में रहता है वह अंत में निराश होता है। "औरन के सिखलावते, मोहड़े परिगौ रेत।" इस पंक्ति में अधकचरे गुरुओं के पतन की व्यंजना है।

वाचकज्ञानी परोपदेश देने के चक्कर में अपनी हानि करता है इसके लिए सद्गुरु ने दूसरी पंक्ति में सुन्दर उदाहरण दिया है। "रास बिरानी राखते, खाइनि घर का खेत।" संस्कृत भाषा में 'रास' का अर्थ है शब्द, ध्वनि, कोलाहल, तथा नृत्य-क्रीड़ा, परन्तु इस पंक्ति के रास का यह अर्थ नहीं है। रास शब्द के साधारणतया लगाम, बाग, ढेर, मेषादि राशि, चौपायों का समूह, जोड़, ब्याज[1] आदि अर्थ किये जाते हैं। इस प्रसंग में चौपायों एवं पशुओं का समूह ही रास का उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि आगे खेत चर जाने की बात आती है जो पशु से ही संभव है। मानो एक भोला आदमी था। वह अपने खेत में अपनी खड़ी फसल की रखवाली में बैठा था। एक दूसरा व्यक्ति था, जिसके पास पशुओं का बड़ा झुंड था। उसने खेत वाले से कहा कि तुम मेरे पशुओं को देखते रहियो, मैं घर हो आऊं। वह भोला उन पशुओं की रखवाली करने लगा। उसको ध्यान था कि पशु कहीं भाग न जायें। वे सारे पशु उसके खेत की फसल को

29. बृहत् हिन्दी कोश।

चरने लगे और धीरे-धीरे उसकी फसल उन पशुओं द्वारा खा ली गयी। वह दूसरे के पशु सम्हालने में अपने खेत की फसल चरा बैठा।

यही दशा वाचकज्ञानियों एवं अधकचरे गुरुओं की है। वे दूसरों के कल्याण के चक्कर में अपना ही अकल्याण कर लेते हैं। वाचकज्ञानी प्राप्त जानकारियों से अपने दोषों को ढांकता है। उसका परोपदेश केवल पर-मनोरंजन के लिए होता है। वह दूसरों को खुशकर अपनी देह का स्वार्थ साधता है। अधकचरा गुरु यों ही अपने आप को छल रहा है। उसके बाद वह साधारण जनता से सम्मान, प्रतिष्ठा एवं पूज्यता पाकर उसके अभिमान में अपने आपा को और भूल जाता है। पूर्ण निष्काम हुए बिना कोई मान को सह नहीं पाता। मान को निष्काम पुरुष ही सहकर निर्मान रहता है। अधूरा तो मान पाकर अभिमान से ग्रस्त हो जाता है और अपने पद से गिर जाता है। अतएव सद्गुरु बनने का जोखिम सबको नहीं लेना चाहिए। पूर्ण निष्काम पुरुष ही गुरुत्व का भार लेकर तरण-तारण हो सकता है।

शिष्य एवं मुमुक्षु के कर्तव्य

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
कहहिं कबीर कैसे बनि हैं, मोहि तोहि औ वोहि॥ 312॥

शब्दार्थ—मैं=सद्गुरु। तू=शिष्य। मोहि=सद्गुरु। तोहि=शिष्य। वोहि=माया।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! मैं तेरे कल्याण के लिए तेरी ओर देखता हूं। परन्तु तू तो माया की ओर देखता है, फिर बीच में माया के आने से मेरा और तेरा कैसे निभेगा!॥ 312॥

व्याख्या—कबीर देव ने ऊपर की साखियों में गुरुओं को सावधान किया था। वे इस साखी में शिष्य को सावधान करते हैं। सद्गुरु शिष्य की तरफ देखता है। देखने का अर्थ है उस पर करुणा करके उसे भव-बन्धनों से मुक्त होने की प्रेरणा देना। परन्तु यदि शिष्य गुरु को नहीं देखता। वह गुरु के उपदेशों पर न ध्यान देकर माया की ओर आकर्षित होता है तो गुरु उसका क्या करेगा!

बोध और रहनीसंपन्न पूर्ण निष्काम सद्गुरु हो और मोक्ष की तीव्र इच्छा वाला पूर्ण निष्कपट शिष्य हो, तो ये दोनों की उत्तम योग्यताएं हैं। इनके बीच में माया आ ही नहीं सकती। माया का अर्थ है सांसारिक प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठा, पूज्यता आदि के लिए मोह। निष्काम सद्गुरु तो इन सबकी तरफ आकर्षित ही नहीं होगा, सच्चा मुमुक्षु एवं निष्कपट शिष्य भी इनमें नहीं भूलेगा। जहां कहीं भी माया का प्रलोभन आता है वहां अधकचरापन है, वह चाहे गुरु हो और चाहे शिष्य! यहां प्रसंग शिष्य का है। सद्गुरु पूर्ण है। वह निष्काम है, स्वरूपस्थ है।

वह शिष्य का पूर्ण कल्याण चाहता है और उसकी ओर कृपादृष्टि करके निहार रहा है। परन्तु शिष्य अधकचरा है। उसने माया के प्रलोभनों का अभी त्याग नहीं किया है। वह एक बार गुरु की ओर देखता है और दूसरी बार घूमकर माया की तरफ देखता है। उसका चित्त दोनों तरफ बंटा है। सद्गुरु तो शिष्य की तरफ देखते हैं और शिष्य माया की तरफ देखता है, तो सद्गुरु कहते हैं कि हे प्रिय शिष्य, मेरी, तेरी और माया की एकता कैसे होगी! दूध और पानी तो मिल जाते हैं परन्तु बीच में आकर खटाई पड़ जाये तो वह उन्हें फाड़कर अलग-अलग कर देती है। दो के बीच में तीसरा आने पर गड़बड़ होता ही है।

पूर्ण निष्काम एवं बोधवान सद्गुरु को पाकर शिष्य को तो गर्भस्थ शिशु बन जाना चाहिए। अथर्ववेद में गुरु-शिष्य के अभिन्न सम्बन्ध के विषय में एक बड़ा सुन्दर मंत्र आता है। उसका भाव ऋषि व्यक्त करता है—"सद्गुरु शिष्य को अपनी तरफ खींचने वाला होता है। यहां तक कि उसे अपने गर्भ में ले लेता है।"[1] कितना सुन्दर भाव है। गर्भस्थ शिशु मां को पूर्णतया समर्पित होता है। गर्भस्थ शिशु को अपने विषय में कोई चिन्ता ही नहीं रहती। उसे न खाने की चिंता है न पीने की चिंता है, न निवास-आवास की चिंता है, यहां तक कि उसे श्वास लेने की भी चिंता नहीं रहती। वहां तो माता का खाना उसका खाना है, माता का पीना उसका पीना है, माता का श्वास लेना मानो उसका श्वास लेना है। माता की सारी गतिविधि ही शिशु की सारी गतिविधि है।

इसी प्रकार जो मुमुक्षु अपने आप को शिशु बनाकर पूर्ण सद्गुरु रूप मां को समर्पित हो जाता है वह कृतकृत्य हो जाता है। समर्पण आधा-तिहाई नहीं होता, किन्तु पूर्ण होता है, और जब पूर्ण समर्पित हो गया तब बीच में माया के आने की सम्भावना ही नहीं है। यदि सद्गुरु पूर्ण नहीं है तो शिष्य के सामने समस्या हो जाती है परन्तु पूर्ण सद्गुरु को पाकर यदि शिष्य माया के चक्कर में भटकता है तो वह महा अभागा है।

एक तरफ गुरुज्ञान है, दूसरी तरफ माया है और बीच में मुमुक्षु है। वह माया की ओर देखेगा तो गुरुज्ञान भूल जायेगा और गुरुज्ञान की तरफ देखेगा तो माया भूल जायेगी। हम समुद्र के तट पर खड़े हों तो यदि जल की तरफ देखेंगे, तो थल नहीं दिखेगा और थल की तरफ देखेंगे तो जल नहीं दिखेगा। "कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव। भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाव॥ " अतएव कल्याणार्थी मुमुक्षु को चाहिए कि वह सांसारिक प्रलोभनों से एकदम हटकर गुरुज्ञान की तरफ दृढ़ता से लगे।

---

30. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (अथर्ववेद 11/5/3)।

लक्ष्य की विफलता

तकत तकावत तकि रहा, सकै न बेझा मार।
सबै तीर खाली परा, चला कमानहि डार॥ 313॥

शब्दार्थ—तकत=स्वयं देखते हैं। तकावत=अन्य को लक्ष्य दिखाते हैं। तकि रहा=लक्ष्य देख रहे हैं। बेझा=वेध, निशाना, लक्ष्य। कमान=धनुष, शरीर।

भावार्थ—जैसे कोई निशानेबाज हो। वह निशाने को देखता हो और साथी को दिखाता हो। इस प्रकार वह केवल उसे देखता तो हो, परन्तु निशाने पर बाण नहीं मार पाता हो। उसके सारे तीर निरर्थक होकर गिर जायें और वह धनुष छोड़कर चल दे। वैसे कितने ही साधक लक्ष्य को स्वयं देखते हैं, दूसरों को दिखाते हैं, इस प्रकार केवल देखते ही रह जाते हैं। वे लक्ष्य पर मार कर नहीं पाते। उनके सारे अनुसंधान निरर्थक हो जाते हैं। और वे बिना लक्ष्य को पाये ही शरीर छोड़कर संसार से चले जाते हैं॥ 313॥

व्याख्या—जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है मन की सारी ग्रंथियों, वासनाओं एवं इच्छाओं का कट जाना। निर्ग्रंथ एवं वासनाहीन मन परमानंद एवं परमशांति का सागर होता है। कितने साधक अपने लक्ष्य को पहचानते हैं और उसकी व्याख्या दूसरों के सामने करते हैं। इस प्रकार जीवनभर केवल लक्ष्य की व्याख्या ही करते रह जाते हैं। वे अपने लक्ष्य पर बाण मार नहीं पाते। बहुधा जितनी बातें समझने और कहने में आती हैं उतनी आचरण में नहीं आतीं, और जब तक बातें आचरण में नहीं आतीं तब तक जीवन का लक्ष्य नहीं मिलता। ज्ञान की बातों का आचरणों में न उतरने का कारण है मायावी आकर्षणों से विरत न हो पाना। भोगों का त्याग किये बिना रहनी नहीं आ सकती।

साधक निशानेबाज है, परमशांति लक्ष्य एवं निशाना है, शरीर धनुष है और विचार तीर हैं। मनुष्य जीवनभर परम शांति में अपने तीर मारने के लिए अनुसंधान करता है, परन्तु सारे विचार-तीर खाली चले जाते हैं और वह परम शांति पाये बिना संसार से विदा हो जाता है। संसार के साधारण लोगों की तो बातें ही जाने दीजिए, कितने साधु, गुरु, आचार्य, मंडलेश्वर-महा मंडलेश्वर, जगद्गुरु, विश्वगुरु, ब्रह्मांडगुरु आदि भी परमानन्द एवं परम शांति पाये बिना ही चले जाते हैं।

मनुष्य के भीतर अनन्त सुख की लालसा है और वह दिवास्वप्न बनकर रह जाती है। वह जीवनभर उसके अनुसंधान में रहता है, परन्तु पाता नहीं, क्योंकि वह उसे बाहर खोजता है और वह बाहर नहीं, किन्तु भीतर है। भीतर समझ जाने पर भी वह अपने रजोगुणी स्वभाव के नाते भीतर ठहर नहीं पाता। ज्ञान की

बातों को जानना और दूसरों को जना देना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है मन के विकारों, गलत आदतों, विषय-वासनाओं एवं माया के प्रलोभनों का त्याग करना। त्याग के बिना ज्ञान की बातें दीपक के चित्र के समान हैं जिनसे प्रकाश होने की किंचित भी संभावना नहीं है। बिना कुछ दिये कुछ भी नहीं मिलता। सांसारिकता से पीठ दिये बिना परम शांति नहीं मिलती। भोग और मोक्ष को एक साथ सोचना धूर्तता है। ऐसी धूर्तता अनेक गुरु-नामधारियों ने भी की है और आज भी कर रहे हैं। परन्तु भोग होगा तो मोक्ष नहीं और मोक्ष होगा तो भोग नहीं। संसार को चाहेंगे तो मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष चाहते हैं तो संसार का राग छोड़ना पड़ेगा।

संसार की इच्छाएं ही तो हमें नचाती हैं। हम क्यों अशांत हैं, क्योंकि इच्छावाले हैं। इच्छा का त्याग कर देने पर अशांति का नाम भी नहीं रह सकता। इच्छाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। वे स्थूल भोग से हटकर सूक्ष्म धर्म एवं लोककल्याण का जामा पहन लेती हैं और साधक किसी-न-किसी प्रकार जीवनभर इच्छाओं में उलझता रहता है। हमें चाहिए कि हम धीरे-धीरे इच्छाओं के जाल को काटें। जब इच्छाओं का जाल पूर्णरूप से कट जायेगा तब मनपक्षी अनंत शांति के आकाश में विचरण करने लगेगा। इसका अर्थ है कि वह पूर्ण शांति में निमज्जन करने लगेगा। दुर्लभ लगने वाली शांति इच्छाओं के त्याग से पूर्ण सुलभ हो जाती है।

कथनी-करनी की एकता आवश्यक

जस कथनी तस करनी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम॥ 314॥

शब्दार्थ—चुम्बक=एक पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है, यह प्राकृतिक होता है और कृत्रिम भी।

भावार्थ—जब कथनी के अनुसार करनी हो जाती है तब ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे चुम्बकीय ज्ञान के बिना तुम कामादि शत्रुओं के युद्ध में कैसे विजय प्राप्त कर सकते हो!॥ 314॥

व्याख्या—हम जो कुछ जानते हैं, दूसरों के सामने उसकी चर्चा करते हैं, उसे कथनी कहते हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार व्यवहार करना आचरण कहलाता है और इसे ही करनी कहा जाता है। जब हमारी करनी कथनी के अनुसार हो जाती है तब हमारा ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

ज्ञान की कथा करने वाले बहुत लोग हैं। धाराप्रवाह व्याख्यान देने वाले तो व्याख्यान देते ही हैं, साधारण लोग भी एक दूसरे से अच्छी बातें कहते हैं। जब भी किसी को दूसरों को सीख देने का अवसर पड़ता है वह अच्छी ही सीख देता

है। "मन शुद्ध रखना चाहिए; संतोष की डाली में मेवे फलते हैं; अपनी कर्म-कमाई ही साथ जाती है; संसार झूठा है; परिवार, मित्र, भाई-बन्धु कौन किसका है! आत्मा ही परमात्मा है; भजन ही जीवन का सार है; शांति ही सबसे बड़ा सुख है; काम-क्रोधादि को मारकर ही निर्वाण पद मिलता है" इत्यादि बातें सामान्य लोग भी समय आने पर कहते हैं। कबीर देव कहते हैं कि ज्ञान की बातों को कहने का फल तब है जब हम उनके अनुसार आचरण करने लगें। जिसके जीवन में जानकारी तथा आचरण एक समान हो जाते हैं उसका ज्ञान आकर्षक हो जाता है। हमारी जानकारी तब तक ज्ञान का रूप नहीं लेती जब तक वह आचरण में न ढले। जानकारी का आचरण ही ज्ञान है। आचरणयुक्त ज्ञान चुम्बक के समान आकर्षक हो जाता है।

आप जानते हैं कि चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। इसी प्रकार जिनके जीवन में पवित्र आचरण है उनके ज्ञानोपदेश सत्पात्रों को अपनी ओर खींचते हैं। हाथ में फेंककर मारी हुई गोली हो सकता है कि निशाने पर लगे ही न, और लग भी जाये तो उतनी चोट नहीं कर सकती। परन्तु यदि उसी गोली को बन्दूक में भरकर मारा जाये तो एक तो प्रायः निशाने पर लगेगी और दूसरी बात, चोट भी गहरी करेगी। यही बात ज्ञानोपदेश की है। आचरण-रहित प्रवक्ता का ज्ञानोपदेश लोगों को प्रभावित नहीं करता, किन्तु यदि वह आचरणसंपन्न है तो उसकी बातें श्रोताओं पर प्रभाव डालती हैं। यही उसका चुम्बक के समान आकर्षक होना है। यह भी ठीक है कि आचरणहीन प्रवक्ताओं की भी कही हुई अच्छी बातें गुणग्राही लोग ले लेते हैं और श्रद्धाहीन लोग आचरणसंपन्न पुरुषों से भी कुछ नहीं ले पाते। परन्तु बात तो यहां आचरणयुक्त ज्ञान की वरीयता की है, जिसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। यदि कोई उसे चुनौती देता है तो स्वयं मुंह की खाता है। यह निर्विवाद है कि सत्पात्र को आचरणसंपन्न पुरुषों के ज्ञान खींचते हैं और उनका विरोधी भी उनकी वरीयता भीतर से जानता है।

"कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीते संग्राम।" सद्गुरु कहते हैं कि इस तरह चुम्बकीय ज्ञान के बिना कोई मानसिक-युद्ध में कैसे विजयी होगा! जो व्यक्ति अपनी प्राप्त जानकारी का आदर नहीं करता, अर्थात जो जैसा जानता है उसका उस तरह से जीवन में उपयोग नहीं करता, तो वह मन के विकारों को कैसे जीत सकता है! हम जानते कम नहीं हैं, करते कम हैं। यदि जितना जानते हैं उतना आचरण में ढाल लें तो आगे काम की बातें और जान जायेंगे। इस प्रकार आचरण के द्वारा जो हमारा अनुभूत ज्ञान होगा उसी ज्ञान से हम मानसिक विकारों पर विजय पा सकते हैं।

महात्मा गांधी से विदेश के एक पत्रकार ने एक बार पूछा था कि आप न देखने में कोई सुन्दर हैं, न कोई बड़े विद्वान हैं और न आपके व्याख्यान में

कलाबाजी है; फिर क्या कारण है कि भारत के लोग आप पर लट्टू हैं? महात्मा गांधी ने उत्तर दिया था—"और तो मैं नहीं जानता कि मेरे में क्या गुण है, केवल एक बात जानता हूं कि मैं जिसे गलत समझ लेता हूं उसको छोड़ने के लिए कमर कस लेता हूं और जिसे सही समझता हूं उसे ग्रहण करने लिए प्राणपण से डट जाता हूं।" यही तो मनुष्यता है, यही तो साधुता है। समस्त उच्च लोगों का यही आचरण होता है।

समन्वय का तरीका

अपनी कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होय।
हमरे देखत जग जात है, ऐसा मिला न कोय॥ 315॥

शब्दार्थ—जात है=भटके जा रहे हैं।

भावार्थ—अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और कह-सुनकर तथा आपस में तालमेल बैठाकर एक हो जाये। मेरे देखने में लगता है कि संसार के अधिकतम लोग अपने मतों के हठ में पड़कर और अ-समन्वय को अपनाकर विरोधा-विरोधी में ही भटके जा रहे हैं। ऐसा प्रायः कोई नहीं मिलता जो समन्वय का रास्ता अपनावे॥ 315॥

कबीर पर अध्ययन एवं शोध करने वाले विद्वान जिनमें डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तक हैं यह लिखते हैं कि कबीर ने समन्वय तथा समझौता का रास्ता नहीं अपनाया है। उन्होंने गलत को गलत कहा और सबकी बुराइयों पर उन्हें फटकारा। यह बात सर्वथा सत्य है। परन्तु विद्वानों को यह बात माननी ही पड़ेगी और प्रकारांतर से माना ही है कि कबीर महान समन्वयवादी रहे हैं। राम-रहीम, करीम-केशव, पूजा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र एक ही बात है—इतना ज्वलंत समन्वय कबीर के अलावा किसने किया है! कबीर जो कुछ कहते थे, सब समन्वित होता था; क्योंकि उनका हृदय ही अद्‌भुत रूप से समन्वित था। अपनी जड़मान्यताओं के समर्थन में झूठ-फुर एक में मिला लेना, ऐसा समन्वय करना कबीर नहीं जानते थे। कबीर उदार और महान समन्वयवादी थे, किन्तु केवल तथ्य के ठोस धरातल पर।

सद्‌गुरु कबीर समन्वय का सुन्दर रास्ता बताते हैं। वे कहते हैं अपनी बातें कहे और मेरी बातें सुने और उन्हें समझकर दोनों तरफ की केवल सचाइयों को ग्रहण कर ले, बस एकता हो जायेगी। जो लोग ईश्वर-अवतार, पैगंबर, इलहामी किताब तथा प्रभुवाणी की भ्रम-धारणा में पड़े रहेंगे, वे न निष्पक्ष हो सकते हैं और न सत्य ग्रहण करने के लिए समन्वय कर सकते हैं। जो लोग अपने मत को ईश्वर का ठेकेदार मान बैठे हैं, वे कब दूसरे की बातें सुनकर उन्हें मनन करना चाहेंगे! उनको तो घोर प्रमाद है कि उनका मत ईश्वरीय है, उनकी किताब

ईश्रीय है, उनका पूज्य महापुरुष ईश्वर या ईश्वर का पैगम्बर है। ऐसे भोले आदमी कब दूसरे की बातें सुनने लगें! जो लोग अपने मत को तथाकथित ईश्वरीय एवं परम सत्य मान बैठे हैं, वे अपनी बातें तो कह सकते हैं, परन्तु दूसरे की बातें सुन नहीं सकते। यदि सुन भी लें तो उनका न मनन करेंगे न उनसे सार लेंगे। पक्षपात और जड़संस्कारों की चादर उतारकर जब तक फेंक नहीं दी जाती, तब तक न सारग्राही दृष्टि आ सकती है और न सत्य का मोती मिल सकता है। पक्षपात, हठ एवं दुराग्रह छोड़कर बातें कहने तथा सुनने से एकता हो जाना निश्चित हैं।

मन की पूर्ण शांति ही परम सुख एवं मोक्ष है, और मन के पूर्ण निर्विकल्प होने पर ही मन पूर्ण शांत होता है, और जब मन पूर्ण निर्विकल्प हो गया, तब कौन-सा मत रह गया! सारे मत मन की उपज हैं और मन लीन हो जाने पर सभी मत लीन हो गये। इस प्रकार परमशांति में पहुंचकर एकता ही है। यदि हम समझ लें कि 'सारे मत मन के खिलवाड़ हैं, मन की पूर्ण शांति ही परम सिद्धान्त है तो विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत चाहे जितने मत हों, सबका एक ही लक्ष्य है परम शांति की प्राप्ति, और वह बिना मन निर्विकल्प हुए नहीं हो सकती। और निर्विकल्प होने पर कोई मत ही नहीं रहता, फिर क्या झगड़ा है!

यह कहा जा सकता है कि मन की पूर्ण शांति की एक अलग अवस्था है, परन्तु दूसरी अवस्था निर्णय की होती है। उसमें सांच-झूठ पर विवेचन करना पड़ेगा। परन्तु विवेचन यदि निष्पक्षतापूर्वक हो तो बात सरलतापूर्वक समझी और समझायी जा सकती है। इसके लिए ऊपर ही विचार कर लिया गया है।

हम अपनी व्यावहारिक समस्याओं को भी आपस में बात करके सुलझा सकते हैं। प्रत्यक्ष है कि बड़े-बड़े राष्ट्रों में युद्ध होते हैं और युद्ध के बाद दोनों देश के राष्ट्राध्यक्ष एक जगह बैठकर आपसी विवाद को सुलझा लेते हैं। बात वहां नहीं सुलझती जहां कुछ समस्या हो या न हो, किन्तु मन में द्वेष, हठ, अड़ंगेबाजी एवं न सुलझाने की भावना होती है।

पूर्ण निष्पक्ष जिज्ञासु कम होते हैं

देश विदेशे हौं फिरा, गाँव गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवै फटक पछोरि॥ 316॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। खोरि=गली।

भावार्थ—मैं देश-विदेश तथा गांव-गांव की गलियों में घूमा, परन्तु ऐसा निष्पक्ष आग्रहहीन एवं निर्मान व्यक्ति नहीं मिला जो सारे दुराग्रह छोड़ सूप-सदृश फटक-पछोरकर सत्य ज्ञान को ले ले और असत्य को भूसी की तरह उड़ा

दे॥ 316॥

व्याख्या—इस साखी से कबीर साहेब की व्यापक भ्रमणशीलता का पता लगता है। वे देश ही में नहीं, विदेशों में घूमे थे और गांव-गांव की गलियों में भी। उन्होंने करीब एक सौ बीस वर्ष की लम्बी आयु पायी थी और अच्छा स्वास्थ्य पाया था। अतः वे देश-विदेशों में खूब घूमे थे। उनकी वाणियों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द पाये जाते हैं जिससे उनकी भ्रमणशीलता की और भी पुष्टि होती है।

इस साखी में सद्गुरु ने जो मुख्य बात कही है वह यह है कि उन्हें ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो निष्पक्षतापूर्वक बातों पर विचार करे और सार-सार को ले तथा असार को छोड़ दे। बीजक में इस बात की उन्होंने कई बार पुनरुक्ति की है, जैसे "जाको खोजत हौं फिरा, ताका परा दुकाल।"[1]आदि। इसका शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो ठीक नहीं है। यदि उन्हें कोई निष्पक्ष जिज्ञासु नहीं मिला तो उनके विचारों का क्रम आज तक कैसे बना है! अतः मिले तो अवश्य, परन्तु कम मिले। इसका लाक्षणिक अर्थ यही होगा कि निष्पक्ष चिंतक कम मिले। कबीर साहेब के संतत्व एवं सिद्धि की महिमा गाने वाले तथा उनकी भक्ति करने वाले तो उनके जमाने में कम नहीं थे, परन्तु "लेवै फटक पछोरि" की वृत्ति वाले उन्हें कम मिले। यह मानी हुई बात है कि उन जैसे निष्पक्ष और बेलाग को उन-जैसा ही बेलाग बिरला मिलेगा ही। आज भी कबीर साहेब के प्रति भक्ति-भावना अर्पित करने वाले करोड़ों हैं, परन्तु उनके खरे विचारों को पचाने वाले बहुत थोड़े हैं। जैसा वे स्वयं चारों तरफ से निष्पक्ष थे वैसा निष्पक्ष मिलना मामूली बात नहीं है। सब तो अपने-अपने संस्कारों की चादर में लिपटे हैं। आज भी उनके नाम पर पुजाने-खाने वालों में उनके खरे विचारों पर कितने हैं! "लेवै फटक पछोरि" बहुत बड़ी बात है। जब माताएं सूप में कूटा हुआ धान रखकर उसे पछोरती हैं तब सारी भूसी को उड़ा देती हैं। केवल चावल को सूप में रहने देती हैं। यदि चावल के साथ कंकड़ हों तो उन्हें वे नख से बीन-बीनकर फेंक देती हैं। चावल की कनी को भी एक तरफ कर देती हैं। सारी वाणियों को मथ-मथकर उनसे केवल सार-सार निकाल ले, उससे सारी असत्य-भूसी उड़ाकर सत्य-चावल ले ले, यह बड़े निष्पक्ष व्यक्ति का काम है।

अपनी परम्परा, मत, पंथ, सम्प्रदाय, समाज, मजहब का मोह, प्राचीनता का मोह, विशाल साहित्य का मोह, बहुत बड़े जनसमूह का मोह, बड़े-बड़े पुरुषों का मोह, तथाकथित ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, इलहामी किताब एवं प्रभुवाणी का मोह, भारी जनमत का मोह, ये सारे मोह मनुष्य को असत्य को त्यागने एवं

---

31. साखी 185।

सत्य को ग्रहण करने में आड़े आते हैं। जो सत्य का मोती पाने के लिए सबका मोह छोड़ देता है वह पूर्ण जिज्ञासु है। फटकने-पछोरने वाला भूसी का मोह बिलकुल नहीं करता। इसी प्रकार जो सत्यज्ञान चाहता है वह असत्य मान्यताओं को निर्मम होकर त्यागता है। चाहे हजारों वर्ष की मान्यता हो, जो असत्य है उसका त्याग होना ही चाहिए। सत्य-देवता असत्य की गंध भी नहीं चाहता।

इस साखी में यह भी ध्वनित होता है कि कबीर साहेब अपनी बात भी जिज्ञासुओं को पटक-पछोर करके, छान-बीन करके ही सार को मानने की बातें करते हैं, आंख मूंदकर नहीं।

दुचित्तापन सफलता में बाधक

मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत कछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुई ठौर॥ 317॥

शब्दार्थ—लानत=धिक्कार, भर्त्सना।

भावार्थ—सद्गुरु कहते हैं कि हे जिज्ञासु! मैं तेरी ओर देखता हूं, परन्तु तू तो कुछ दूसरी ही तरफ देख रहा है। तेरे ऐसे चित्त को धिक्कार है जो गुरुज्ञान और माया—दोनों तरफ बंटा है॥ 317॥

व्याख्या—कबीर साहेब के पास मानो कोई जिज्ञासु आया हो। वे उसे समझा रहे हों, परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो। वह कुछ तो साहेब की बातों को सुनने में चित्त लगाता हो और कुछ दूसरी तरफ। तो कबीर साहेब ने उसको टोक दिया हो—भले आदमी! मैं तो सारी एकाग्रता तुम्हें समझाने में लगा रहा हूं और तुम ऐसे दुचित्ते हो कि मेरी सारी बातें ध्यान से नहीं सुन रहे हो। ऐसे कई साधारण आदमी ही नहीं, साधक भी होते हैं कि जब उन्हें कोई विषय समझाने लगो तो वे उसे गहराई से नहीं लेते। वे या तो दूसरी तरफ ताकने लगते हैं, या दूसरी बातें करने लगते हैं। फिर तो ऐसे जिज्ञासुओं को समझाने की रुचि ही समाप्त हो जाती है।

बोधवान सद्गुरु-संतजन सदैव सत्पात्रों को सत्यज्ञान देकर उन्हें कल्याण के पथ पर ही खींचने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु सब जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पूर्ण समर्पित नहीं होते। जो पूर्ण समर्पित नहीं होता उसे पूर्ण कल्याण-पथ पर लाना बड़ा कठिन है। गृहस्थ भक्त तो दुचित्ते होते ही हैं और यह स्वाभाविक है। परन्तु कितने विरक्ति का जामा पहने हुए साधक भी दुचित्ते होते हैं। जो साधक आधा चित्त गुरुज्ञान की तरफ तथा आधा चित्त इन्द्रियों की लंपटता, कुटुम्ब-मोह, प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि की तरफ रखता है, वह अधकचरा है। उसकी नौका कब डूब जाये इसका ठिकाना नहीं है। गृहस्थ दुचित्ते हों यह बात स्वाभाविक लगती है परन्तु विरक्ति वेष लेकर दुचित्ता हो, तो उसे घर-गृहस्थी में

लौट जाना चाहिए और जब उसका मन वैराग्य में पक्का हो जाये तब वैराग्य-पथ में आना चाहिए।

कुछ हद तक गृहस्थ-भक्तों का भी दुचित्तापन गलत है। जैसे अभक्ष्यसेवन, किसी प्रकार का नशा-सेवन, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक में लगना, कल्पित देवी-देवता तथा परोक्ष भ्रांत-मान्यताओं में भटकना, धन सत्कर्म में न खर्च करना, साधु-संगत एवं सद्ग्रन्थ-अध्ययन में रुचि न रखना, योग्यतानुसार त्याग पर ध्यान न देना, यह सब गृहस्थ-भक्तों का दुचित्तापन उनके पतन का कारण है। वे भक्त कहलाकर भी यदि इस तरह अपने पतन वाले पक्षों में मन रखते हैं तो उनका पतन कौन रोक सकता है!

विरक्त साधकों का दुचित्तापन तो एकदम क्षम्य नहीं है। ब्रह्मचारी एवं साधु-मर्यादा में रहते हुए अपने माने हुए घर एवं परिवार में रागवान होना, अपनी पूर्व-पत्नी या किसी स्त्री से निकट सम्बन्ध बनाना, संसारियों से घुलना-मिलना, स्वार्थ-दृष्टि से संसारियों को अपनी ओर खींचने का नाना उपाय करना, नाना पदार्थों का लालच करना, स्वाद और राग-रंग में मन रखना, किसी पद एवं प्रतिष्ठा-पूज्यता की लालसा रखना और इसी प्रकार अन्य ऐसी चेष्टाएं जो अपने वैराग्य, एकता एवं साधना में बाधक हैं, ब्रह्मचारी एवं साधु के पतन-पथ हैं।

लोकोक्ति है—"बज्र अस रांड़ या बज्र अस अहिबाती" अर्थात दो नावकाओं में पैर न रखकर एक ही नावका पर पैर रखने चाहिए। विरक्ति के पूर्ण साधन न अपना पावे तो उसका जामा न पहने, घर-गृहस्थी में रहकर भक्ति-पथ से चले। यदि विरक्ति-पथ का शौक हो तो सच्चा विरक्त हो। कहा जाता है बिन शौक फकीरी मिट्टी है। साधक बनकर फिर स्त्रियों की संगत में मोह, राग-रंग, स्वाद-शौक आदि करना मूर्खता ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

कोई काम तब तक पूर्णतया सफल नहीं होता जब तक दुचित्तापन छोड़कर उसको एक चित्त से न किया जाये, वह चाहे खेती, व्यापार, पढ़ाई या कुछ भी हो। फिर स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का काम कोई दुचित्तापन से करे तो वह कैसे सफल होगा! यह तो बिलकुल एकाग्रता का विषय है। "प्रेम गली अति साँकरी, जामें दो न समाय।" जब तक सांसारिक राग-रंग से एकदम पीठ नहीं दे दिया जाता, तब तक सच्ची मुमुक्षा नहीं और जब तक सारी कामनाओं का त्याग कर समाधि में लीन नहीं होते तब तक परम शांति एवं मोक्ष पद नहीं मिल सकता, जो जीवन का, या कम-से-कम साधक का परम लक्ष्य है। इसलिए हम दुचित्तापन को छोड़कर तथा एकचित्त होकर गुरुज्ञान एवं साधना में लगें।

निर्णय वचन मोक्षप्रद हैं

चुम्बक लोहे प्रीति है, लोहे लेत उठाय।
ऐसा शब्द कबीर का, काल से लेत छुड़ाय॥ 318॥

शब्दार्थ—चुम्बक=एक प्रकार का पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है। काल=अज्ञान।

भावार्थ—चुम्बक में लोहे के प्रति मानो प्रेम है। वह लोहे को निकट पाकर उसे उठाकर अपने में चिपका लेता है। कबीर के निर्णय वचन भी ऐसे ही हैं। वे जीव को अज्ञान से छुड़ा लेते हैं॥ 318॥

व्याख्या—यहां 'कबीर' का यदि हम ग्रंथकार कबीर साहेब अर्थ करते हैं जैसा कि ऊपर किया गया है, तो यह साखी कबीर की एक गर्वोक्ति के रूप में प्रतीत होगी। अर्थात कबीर गर्वपूर्वक कहते हैं कि मेरे वचन ऐसे हैं जो जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। साधारणतया यह साखी लगती तो गर्वोक्ति है, परन्तु यह एक साधिकारोक्ति है जो कबीर साहेब-जैसे सिद्ध संत के लिए सहज एवं स्वाभाविक है। पूर्ण पुरुष साधिकार वचन कह सकते हैं। कबीर साहेब अध्यात्म के उच्चतम सिद्ध संत थे। उनका अधिकारपूर्वक कहना स्वाभाविक है। पूरा बीजक पढ़ डालिए तो आप कहीं भी नहीं पायेंगे कि अंधविश्वास की थोड़ी भी गुंजाइश हो। बल्कि उसका तो प्रबलतम निषेध है। कबीर की सारी बातें धारदार, बेलाग और खरे ज्ञान से पूर्ण हैं। वे निश्चित ही अज्ञान-काल की जड़ उखाड़कर फेंक देने वाली हैं। कबीर साहेब की वाणियों का जो निष्पक्षतापूर्वक एवं आग्रहरहित होकर मनन करेगा, निश्चित ही उसके सारे अज्ञान समाप्त हो जायेंगे।

क=काया, बीर=जीतने वाला, अर्थात काया को जीत लेने वाला कबीर है। जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को जीत लिया है, वही कबीर है। कबीर का सामान्य अर्थ जीव भी किया जाता है। काया में बीर कबीर—जीव है। अतएव सामान्य चेतन जीव और जितेन्द्रिय संत पुरुष कबीर वाचक मान लिये गये हैं। इस प्रकार उक्त साखी का अर्थ होगा कि जितेन्द्रिय पुरुष के ज्ञान-शब्द मनुष्य के मन के अज्ञान के विध्वंसक है। जिसने भी अपने मन तथा शरीर को जीत लिया, उसके ही वचन अज्ञान के ध्वंसक हो जाते हैं। जिसने मन को जीता वही गुरु है, वही कबीर है और उसी के वचन जिज्ञासुओं के लिए कल्याणकारी हैं।

यदि कबीर का अर्थ सामान्य चेतन जीव माने, तो अर्थ होगा कि जीव के स्वरूप के परिचायक शब्द जीव को अज्ञान-काल से छुड़ा लेते हैं। अर्थात जो वाणी जीव के स्वरूप का परिचय देती है वह जीव को अज्ञान से छुड़ा लेती है। जीव अपने स्वरूप का परिचय पाकर ही तो नाना प्रकार के अज्ञान से छूटता है!

कुल मिलाकर सार अर्थ यही है कि निर्णय वचन अज्ञान के ध्वंसक हैं और

वे चुम्बक की तरह हैं। यहां चुम्बक का सुन्दर उदाहरण दिया गया है। लोहे का चूर भी हो और वह धूल में मिल गया हो, परन्तु यदि वहां चुम्बक-पत्थर पहुंच जाये तो उन लोह-कणों को वह धूल में से खींचकर अपने में चिपका लेगा। चुम्बक में लोहे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। इसी प्रकार खरे ज्ञान में जिज्ञासु जीव के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। जो निष्पक्ष, आग्रहरहित एवं विनम्र जिज्ञासु होता है, वह सत्य निर्णय को सुनकर उधर स्वाभाविक खिंच जाता है। सत्य निर्णय वचन जीव को काल से छुड़ा लेते हैं। काल का रूढ़ अर्थ मृत्यु है, जो केवल शरीर को मारता है, परन्तु शरीर के मरने से कोई हानि नहीं होती। जिससे जीव को संसार में भटकना पड़ता है, अथवा जिससे मनुष्य का मन सदैव चंचल रहता है वह अज्ञान एवं अविद्या ही काल है। चिन्ता और चिता में चिंता ही दुखदायी है, चिता नहीं। क्योंकि चिता तो जड़ शरीर को ही भस्म करती है, परन्तु चिन्ता चेतन को रुलाती है। मौत होने पर जड़ शरीर चिता में जलता है, परन्तु अज्ञान से चेतन-मनुष्य चिन्ता में जलता है। अतएव चिन्ताकारक अज्ञान ही काल है, जिससे जीव को ज्ञान के वचन छुड़ाते हैं। इसलिए हर शांति-इच्छुक का कर्तव्य है कि वह विवेकवान संत पुरुषों के निर्णय वचनों का मनन-चिंतन करे।

भूल से जागो

भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।
विस्मय की छूरी, संशय का रेतना॥ 319॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः, फिर। चेतना=होश में आना, सावधान होना। विस्मय=आश्चर्य, संदेह। संशय=अनिश्चय। रेतना=रेती से रगड़कर किसी वस्तु को साफ या औजार को तेज करना।

भावार्थ—जो भूल हो गयी वह हो गयी, अब सावधान हो जाओ! लोग संशय की रेती से रेतकर विस्मय की छूरी को तेज करते हैं और उससे अपना ही गला काटते हैं। तुम ऐसा न करो॥ 319॥

व्याख्या—रेती नाम का लोहे का एक खुरदुरा चपटा छड़ होता है उससे रगड़कर लोहे के औजार साफ किये जाते हैं और छूरी, चाकू आदि धारदार हथियार को रगड़कर उनकी धार तेज की जाती है। सद्गुरु ने इस साखी में विस्मय को छूरी कहा है जिससे गला रेता जा रहा है। इस विस्मय की छूरी को ज्यादा तेज करने के लिए संदेह की रेती से उसकी धार साफ कर ली जाती है।

विस्मय आश्चर्य को कहते हैं। इसके बाद इसके अर्थ संदेह, गर्व, विषाद, आदि भी हैं, किन्तु यहां का खास अर्थ आश्चर्य ही लगता है। मनुष्य भूमंडल, समुद्र, वन, असंख्य तारे तथा अनंत आकाश देखता है। उसे आश्चर्य होता है कि

यह सब कैसे बन गया, इसे किसने बनाया! पृथ्वी पर छह ऋतुओं का परिवर्तन, वृक्ष, बेलि, वनस्पति, नदी, झरने, नाना धातु, प्राणियों के शरीर, शरीर में उपयोगी अवयव एवं इन्द्रियां—ये सब कैसे बन गये, इन्हें किसने बनाया! पुराकाल में हमारे पूर्वजों को तो निविड़ अंधियारी रात, तूफान, मूसलाधार वर्षा, बादलों की गर्जना आदि भी घोर आश्चर्यजनक लगते थे और वे इन सबमें किन्हीं समर्थ देवताओं के हाथ देखते थे। आज इस विज्ञान युग में भी सृष्टि की विचित्रता में जड़-चेतन के गुण-धर्म, विश्व के नियम, द्रव्यों से स्वभावसिद्ध संरचना न देखकर किसी देव के हाथ देखने वालों की भीड़ है। विस्मय एवं आश्चर्य होना ही अबोध का लक्षण है।

वनस्पतियों के पत्तों में नसें कैसे बन गयीं! नाना प्रकार के फूल कैसे खिल गये! एक ही पेड़ की एक ही डाली में नाना रंग के फूल कैसे हो गये। मोर की कलंगी, हिरन की ऐंठी सींगे, सिंह के शरीर पर धारियां, प्राणियों में आंख, नाक, कान, दांत आदि कैसे बन गये! यह सब आश्चर्य अबोधी आदमी को ही हो सकते हैं। ज्ञानवान समझते हैं कि जड़प्रकृति गुणों का भंडार है। बीजीअसर के असंख्य खेल हैं और जड़-चेतन के बीच में जो संभव है वह हो रहा है। आश्चर्य नाम की चीज संसार में कुछ है ही नहीं। परन्तु देवता का भूत जिसके दिमाग पर चढ़ा है वह हर चीज किसी देवता का बनाया मानता है, और स्वयं अकर्मण्य होकर उसकी प्रार्थना के बल पर सब कुछ पाना चाहता है।

संशय की रेती से विस्मय की छूरी अधिक धारदार हो जाती है। संशय का अर्थ है अनिश्चय, जैसे कि जगत स्वतः अनादि है कि किसी ईश्वररचित, ईश्वर है कि नहीं, जीव तथा देह एक है कि दो, पुनर्जन्म, कर्मफल-भोग, बन्ध-मोक्ष है कि केवल कल्पित, त्याग-मार्ग में चल पाऊंगा कि नहीं! यह संशय मनुष्य को जिज्ञासु बनाये और वह सत्य की खोज करे तब तो ठीक है; परन्तु यदि संशय जीवनभर दिमाग पर छाया रहे तो यह भटकने का कारण बन जायेगा। सद्गुरु कहते हैं कि आदमी जितना संशयग्रसित होगा उतना वह अबोधी बनकर भटकेगा। वह उतना ही संसार की घटनाओं को देखकर आश्चर्य करेगा।

कबीर देव कहते हैं—"भूला तो भूला, बहुरि के चेतना।" पहले जो भूल-चूक में थे अब वैसे ही मत बने रहो। देव तथा ईश्वर की बैशाखी छोड़कर स्वतन्त्र होकर चलो। द्रव्य नित्य हैं, द्रव्य में क्रिया एवं गति नित्य हैं और इस द्रव्य एवं गति से जगत नित्य है। द्रव्य और गतिमय संसार के साक्षी चेतन नित्य हैं। जो असंख्य चेतनों तथा असंख्य जड़ द्रव्यों को ठीक से अनादि-अनंत अपने गुण-धर्मों से नित्य समझ लेगा उसे संसार के ज्ञान के विषय में भटकाव नहीं होगा। जड़-चेतन का ठीक से बोध न होने से आत्मा से अलग परमात्मा तथा देवी-देवता, भूत-प्रेतादि के नाना भ्रम खड़े होते हैं। जड़-चेतन का निर्णययुत

बोध हो जाने पर सारी भ्रंतियां कट जाती हैं।

इस साखी का अर्थ हम बौद्धिक एवं दार्शनिक स्तर के हटकर मानसिक एवं चारित्रिक स्तर पर भी कर सकते हैं। हम विस्मय का अर्थ विषाद तथा संशय का अर्थ पूर्ववत अनिश्चय लें तो अभिप्राय होगा कि हम अपने मानसिक अनिश्चय एवं संदेह के कारण विषाद में पड़े रहते हैं। विषाद का अर्थ है, उदासी, मानसिक चिंता तथा मन का उखड़ा-उखड़ा रहना। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अनिश्चय मन वाला विषाद भरा मन वाला होता है। जिसका अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं है, जो अपने पथ में निश्चय मन वाला नहीं है, उसकी न अपने लक्ष्य की दिशा में प्रगति हो सकती है और न उसके मन में शांति आ सकती है। जो व्यक्ति मन की दुविधा छोड़कर अपने विषय में निर्णय ले सकता है वही विषाद एवं चिंता से छूटकर अपने लक्ष्य को पा सकता है। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तू आज तक भूल में रहा, परन्तु अब सावधान हो जा, अब होश में आ जा। जब सारे संशय, अनिश्चय एवं दुविधा को छोड़कर अपने पथ में लग जायेगा, तब तू सारे विषयों से पार होकर अनन्त सुख के सागर में पहुंच जायेगा।

इस साखी की प्रथम पंक्ति को देखते हुए लगता है कि मानो कोई साधक कुछ भूल कर गया हो और वह पश्चाताप में इतना डूब गया हो कि उठने का साहस ही न कर रहा हो। इतने में सद्गुरु ने झकझोरकर जगाते हुए तथा साहस देते हुए उसे कहा हो कि जो भूल हुई सो हुई, उसको लेकर रात-दिन ग्लानि में डूबा मत रह, किन्तु यह निश्चय कर कि अब ऐसी गलती तू नहीं करेगा। अब तू पूर्ण होश में आ जा। तू अपने मन का अनिश्चय छोड़, तेरे सारे विषाद-अवसाद समाप्त हो जायेंगे। तू अपने कल्याण-पथ पर चलने में संदेह मत कर। तू अपने कल्याण-पथ पर चल सकता है और इसी जीवन में पूर्ण जीवन्मुक्त हो सकता है।

संसार का सम्बन्ध झूठा है

दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।
मुये गये नहिं बहुरे, बहुरि न आये फेरि॥ 320॥

शब्दार्थ—दोहरा=साखी, दोहा।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के देश और काल को देखकर जो संसार की वास्तविकता है उसका बोध कराने के लिए दोहे एवं साखियां कहता हूं। संसार की यह परम वास्तविकता है कि जो व्यक्ति मरकर यहां से चला जाता है वह लौटकर नहीं आता॥ 320॥

व्याख्या—कबीर साहेब लिखते नहीं थे, किन्तु वैदिक ऋषियों की तरह

कहते थे—"दोहरा कथि कहैं कबीर" इस पद्यांश से स्पष्ट होता है। "मसि कागद छुवों नहीं.....इस 187वीं साखी में तो उन्होंने बहुत खुलासा बताया है कि मैं स्याही, कागज, कलम आदि नहीं छूता, केवल मुख से ही अपनी बातें बता देता हूं। लिखने और कहने में बड़ा अन्तर होता है। लेखक जब लिखता है तब वह दूसरे मनुष्यों से हटकर केवल अकेला रहकर लिखता है। लिखते समय लेखक के सामने केवल अपनी मानसिक कल्पना रहती है। परन्तु कहते समय सामने दूसरा आदमी होता है। वक्ता चेतन मनुष्यों की स्थिति एवं मनोदशा देख-देखकर उनके अधिक उपयोग की बातें कहता है। इसलिए लेख से प्रवचन अधिक प्राणवान होते हैं। श्री विशाल साहेब ने भी कहा है—"चेतन संयुत वाक्य प्रकाशित, लखि-लखि उर तस प्रेरे।"

कबीर साहेब ने बहुत दोहे कहे हैं। तीन सौ तिरपन दोहे तो इस प्रकरण में ही हैं। दोहा में दो पंक्तियां होती हैं। दोनों पंक्तियां तेरह और ग्यारह मात्राओं की होती हैं। कबीर साहेब ने इसे साखी कहा है। साखी साक्षी का तद्भव शब्द है। साखी द्रष्टा को कहते हैं जो तटस्थ एवं निष्पक्ष होता है। कबीर साहेब की सारी वाणियां निष्पक्ष होती हैं। अतः अपने दोहों को उन्होंने साखी ही कह डाला है। पूरे बीजक में इस 320वीं साखी में ही दोहरा कहकर दोहा नाम का भाव व्यक्त किया है।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं प्रतिदिन के समय को देखता हूं तो लगता है कि सभी देश और काल की वस्तुएं आगमापायी हैं। संसार की सभी वस्तुएं गतिशील हैं। हर वस्तु की गतिशीलता में देश और काल लगते हैं। जैसे मानो यह उंगलियों में फंसी कलम कागज पर गति करती है, तो इसके गति करने में कुछ देश तथा कुछ काल लगते हैं। कलम कागज पर प्रतिक्षण एक जगह से दूसरी जगह सरकती है यह देश का आयाम है और उसमें जो समय लगता है वह काल है। देश और काल से प्रभावित सारी चीजें नाशवान हैं। मनुष्य का जीवन क्षणभंगुरता का ज्वलंत उदाहरण है। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब का प्रतिदिन का अनुभव है कि आदमी मरता है और जो मरता है वह पुनः लौटकर नहीं आता। परन्तु इस बात से कोई यह अर्थ न लगाये कि कबीर साहेब पुनर्जन्म का खंडन करते हैं। कबीर साहेब पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रबलता से मानते हैं, जिसके समर्थन में पूरे बीजक में उनके वचन फैले हैं। यहां तो केवल इतना ही अर्थ है कि इस संसार में रहने वाले सभी मनुष्य मरते हैं और जो मरता है वह लौटकर पुनः नहीं आता।

यहां माया-मोह पर चोट है। साहेब कहते हैं कि मनुष्य इतना जड़ हो गया है कि इस क्षणभंगुर जीवन में वह पता नहीं कितना पाप कर डालता है। जमीन, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के लिए पाप-पर-पाप करता है। मोही मनुष्य की

गतिविधि देखकर लगता है कि मानो उसे इस देह से इस संसार में ही सदैव रहना है। परन्तु ध्यान रहे, जो एक बार यहां से उठ गया वह यहां कभी नहीं लौटता। यह ठीक है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्तानुसार जीव पुनः संसार में बारम्बार जन्म धारण करता है, परन्तु उसी रूप में तो वह नहीं आ पाता। राम, कृष्ण, पृथु, वेन, जवाहर, पटेल उसी रूप में कहा आ सके! इस संसार से सबको अचानक जाना पड़ता है। जाने में देरी नहीं लगती और जाकर लौटने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, फिर ऐसे संसार में हमें किस वस्तु का मद करना चाहिए! जहां सब कुछ अचानक सदा के लिए छूट जाना है। वहां के लिए हमें चिंता करना व्यर्थ है। बाकी सब अनिश्चित है, परन्तु मृत्यु निश्चित है। यह संसार के प्रतिदिन का ज्वलंत अनुभव है। सद्गुरु का इस साखी में उसी के लिए निर्देश है कि हे मानव! तुम मोह-नींद से जागो।

सकामी शिष्य की दशा

गुरू बिचारा क्या करे, शिष्यहि माँ है चूक।
भावै त्यों परमोधिये, बाँस बजाये फूक॥ 321॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, अपराध, छल-कपट, असावधानी। परमोधिये= प्रबोध दीजिये, जगाइये, उपदेश दीजिये।

भावार्थ—बेचारा गुरु क्या करे जबकि शिष्य की ही असावधानी है। कपट से भरे श्रद्धाहीन शिष्य को चाहे जितना उपदेश करो उस पर उसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ सकता जैसे कोई पोले बांस में फूंक मारकर उसे बजाये और फूंक दूसरी तरफ निकल जाये॥ 321॥

व्याख्या—कबीर साहेब की प्रायः हर बात में उदाहरण रहता है। यहां पोले बांस से श्रद्धाहीन शिष्य की तुलना की गयी है। ऐसे भी शिष्य नामधारी होते हैं जो कहने के लिए तो किसी गुरु से दीक्षा ले लेते हैं और उनके शिष्य कहलाने लगते हैं, परन्तु उनके मन में परमार्थ की बात न होकर देहस्वार्थ, इन्द्रिय-भोग एवं मान-बड़ाई पाने की लालसा रहती है। वे परमार्थ की आड़ में स्वार्थ साधने के चक्कर में रहते हैं। इसलिए वे सद्गुरु तथा संतों से छल-कपट रखते हैं। वे अपने हृदय के भेद को अपने परम हितैषी संत-गुरु से नहीं कहते हैं। वे बड़ी चतुरता से अपनी भोग-लालसा को छिपाये रखते हैं। परन्तु क्या छिपाकर लहसुन-प्याज खाने से वह खाना छिप सकता है। जब वह लोगों के बीच में जायेगा तब उसके मुंह से निकलकर उसकी गंध अपने आप बता देगी कि उसने लहसुन-प्याज खा रखे हैं। पापी अपने पाप को हजार परत में लपेटकर छिपाना चाहता है, परन्तु वह तो छिपने वाला नहीं है।

कल्याणार्थी साधक के हृदय में भोग और सम्मान की किंचित भी वासना नहीं रहती। वह अपने उद्धारक सद्गुरु तथा संतों से निष्कपट, निष्छल एवं

अभिन्न होता है। जिसे मानसिक स्वच्छता तथा आध्यात्मिक शांति प्रिय है, वह छल-कपट से सैकड़ों कोस दूर रहता है। निष्छलता मनुष्य का उच्चतर व्यक्तित्व है और फिर साधक की तो बात ही निराली है। जो साधक होता है उसमें छल-कपट का प्रश्न ही नहीं उठ सकता! साधक इन्द्रियों के भोगों को तिलांजलि दे देता है। सारे छल-कपट इन्द्रिय-भोग तथा सम्मान की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं। साधक इन्हें अपना शत्रु मानता है। भोग-मान की वासना ही शत्रु है। अतएव शांति का भूखा-प्यासा साधक भोग-मान की वासनाओं से दूर निष्छल होता है।

साधक के चोंगे में जो भोगों की इच्छावाले लोग होते हैं वे बड़ी सावधानी से अपने मैले मन को संत-गुरु से छिपाये रखते हैं। वे मूढ़जन अपना इसी में लाभ समझते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में उनकी जो दुर्गति होती है, भोगे नहीं सिराती। ऐसे मलिन साधक को गुरु चाहे कितना समझावे उसको कोई असर नहीं होता। "भाव त्यों परमोधिये" गुरु का जितना मन हो उतना उपदेश उसे करता रहे, परन्तु उसके लिए वह सब "बाँस बजाये फूक" की तरह ही निरर्थक होकर रह जाता है। जिसके मन में विषय-भोग और सांसारिकता समाये हैं वह गुरु-उपदेशों का महत्त्व क्या समझ सकता है!

"भावै त्यों परमोधिये" को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शिष्य को जितना भावे, जितना अच्छा लगे उतना ही तो उपदेश दिया जा सकता है! यदि उसे उपदेश अच्छे नहीं लगते तो उसके सामने कुछ भी कहना "बाँस बजाये फूक" के समान बेकार होगा।

वक्ता की विनम्रता

दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥ 322॥

शब्दार्थ—दादा=पिता के पिता, पितामह, बड़ा भाई, गुरुजन। लेखों=मानूं, समझूं। बन्दा=सेवक, दास; वक्ता विनय दिखाने के लिए अपने आप को बंदा कहता है।[1] पुरिया=बाना फैलाने की नरी, ताना, गठरी, गांठ, तात्पर्य में वासना। निरुवारे=सुलझावै।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि हे मित्रो! मैं तो तुमको भाई, पिता तथा पितामह के समान समझूंगा और तुम्हारे चरणों का गुलाम भी बन जाऊंगा, शर्त यह है कि तुम वासनाओं का त्याग करो। जो आज वासनाओं का ताना सुलझा लेगा एवं मानसिक ग्रंथियों को खोल लेगा वह सदा के लिए आनंदित हो

32. बृहत् हिन्दी कोश।

जायेगा ॥ 322 ॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर के मन में मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति की कितनी तीव्र भावना है! व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति हुए बिना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। व्यक्ति-व्यक्ति इकट्ठा होकर ही समाज बनता है। यदि व्यक्ति ठीक हो जायें तो समाज ठीक हो जाये। या कहना चाहिए कि जितने व्यक्ति ठीक हो जायेंगे उतने अंश में समाज ठीक हो जायेगा।

मन की गुत्थियों का सुलझ जाना ही मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। बीजक में 'पुरिया' शब्द का प्रयोग प्रायः वासनाओं की पोटली, गठरी, गांठ या ताना-बाना के अर्थ में है। 58वें शब्द में भी "पुरिया जरे वस्तु निज उबरे" कहकर वासनाओं की गठरी के जल जाने पर ही निज वस्तु-आत्मतत्त्व का उद्धार होना बताया गया है। इस साखी की यह पंक्ति "अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा।" बहुत महत्त्वपूर्ण है। सद्गुरु कहते हैं कि तुम आज विवेक-साधनासंपन्न मानव शरीर को प्राप्त हो, अंतः यदि आज वासनाओं का ताना-बाना सुलझा लो, तुम्हारे मानसिक संस्कार सुधर जायें, मन की सारी वासनाएं क्षीण हो जायें, तो तुम सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे। संसार के भोग-ऐश्वर्य एवं पद-प्रतिष्ठा में क्षणिक सुख मिलता है और उसके परिणाम में केवल क्लेश मिलता है। परमानन्द, सदानंद, नित्यानंद, अनंत सुख, आत्यंतिक सुख, परमशांति एवं अनंत शांति पाने का केवल एक रास्ता है, वह है समस्त वासनाओं का त्याग। समस्त इच्छाओं एवं वासनाओं के त्याग हो जाने पर जो शांति मिलती है, उसका वर्णन असंभव है। उसका केवल अनुभव हो सकता है, कथन नहीं। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। जिसकी इच्छाएं निवृत्त हो चुकी हैं, जिसने समस्त वासनाओं का त्याग कर दिया है, वह सदा के लिए परमानंदमय एवं शांति का महासागर हो जाता है।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। पारखी संत प्रायः आनंद शब्द से कतराते हैं और वेदांती सुख शब्द से, परन्तु यह दोनों का मिथ्या भय है। परम पारखी कबीर देव ने यहां जीवन्मुक्ति सुख के लिए आनंद शब्द का प्रयोग किया है। उनके परवर्ती श्री रामरहस साहेब ने भी अपनी महान रचना पंचग्रंथी में अनेक स्थलों पर विधेयात्मक ढंग से आनंद शब्द का प्रयोग किया है। कुछ बानगी लें—"आनंद सिधु अहंतातीता, तू हंस स्वतः आनन्द, हंस स्वतः पद आनंद लहै, हंस स्वतः आनंद पद सोई पद है जीव, दीन दयाल की शरण अनंदा, तेहि मांहिं परख गुरु ठहर साध। आनंद लहरि के समुद्र अगाध, हंस स्वतः आनंदपद, स्वतः अस्ति आनंद पद, आनंद महल अबास सोहावान,

गुरुमुख सुख अनुमान रहित पद, बसै आनंद अटारी, स्वतः हंस आनंद पद।"[1] इसी तरह वेदांतियों के मान्य ग्रंथ गीता में देखें—"संन्यस्यास्ते सुखं वशी, सुखमक्षयमश्नुते, स युक्तः स सुखी नरः, योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः, सुख-मात्यन्तिकम्, योगिनं सुखमुत्तमम्, अत्यन्तम् सुखमश्नते, आदि।"[2] गीता में इस आध्यात्मिक सुख के लिए शांति शब्द का भी काफी प्रयोग है। मूल वेदांत उपनिषद् कहती है—"यो वै भूमा तत्सुखं"[3] जो भूमा है, अनंत आत्मा है, वही सुख है।

वेदांती मान लेते हैं कि सुख का अर्थ विषय-सुख तथा आनन्द का अर्थ आध्यात्मिक सुख में है, और कतिपय पारखी मान लेते हैं कि आनन्द का अर्थ विषय-सुख है तथा सुख का अर्थ आध्यात्मिक है। परन्तु विचारकर देखा जाये तो ऐसी बात नहीं है। यह तो अपने मनोभाव पर निर्भर करता है कि जब हम आनन्द या सुख शब्द कहते हैं तब उन्हें क्षणिक विषयों की अनुकूलता के लिए कहते हैं कि मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक सुख के लिए कहते हैं। सुख या आनन्द दोनों में से किसी भी शब्द या प्रयोग आध्यात्मिक सुख के लिए किया जा सकता है। शांति तो इसके लिए महत्तम शब्द है ही।

इस साखी की पहली पंक्ति भी ध्यान देने योग्य है। सद्गुरु कहते हैं कि जो अबकी बार समस्त वासनाओं का त्यागकर सदैव के लिए आनन्दमय हो जाये, मैं उसको "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।" अर्थात उसे मैं भाई, पिता तथा पितामह की तरह मान सकता हूं, मैं उसके चरणों की सेवकाई भी कर सकता हूं। यह विनम्रता और लोकमंगल की चरमनिष्ठा है। इस पंक्ति में दो बातें हैं, एक तो यह है कि वे मनुष्य की पूर्ण उन्नति इच्छाजीत एवं वासनामुक्त होने में मानते हैं जो अध्यात्म की परम ऊंचाई है और दूसरी बात यह है कि ऐसे आध्यात्मिक उन्नति करने वाले को वे अपने सर-आंखों पर बैठा लेना चाहते हैं। इसी भावना से ओत-प्रोत उनके जगह-जगह वचन हैं "कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरू हम चेला।"

इससे हमें यह भी प्रेरणा मिलती है कि वक्ता को कितना विनयी होना चाहिए। कबीर जैसे उच्चतम संत कितनी विनम्रता से अपने आप को पेश करके कल्याणार्थी को प्रेरित करते हैं यह सोचते ही बनता है। जैसे कोई अपने बच्चों को बच्चा, बाबू, बप्पा, दादा, बाबा आदि कहकर उन्हें दुलारता एवं मनाता हो, वैसे सद्गुरु जिज्ञासु एवं मुमुक्षु को भाई, बाप, दादा, कहकर उसे सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं। कबीर जैसे उच्चतम संत संसार का गुरु बनकर उसे नहीं

---

33. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, गुरुशतकसार तथा प्रश्न एक से पन्द्रह के उत्तर में।
34. गीता 5/13, 5/21, 5/23, 5/24, 6/21, 6/27, 6/28।
35. छांदोग्य उपनिषद् 7/23।

चेताना चाहते, किन्तु उसका चेला बनकर एवं सेवक बनकर उसे चेताना चाहते हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है कि बड़े-से-बड़े लोगों को भी अपने आप को श्रेष्ठ, स्वामी एवं मालिक मानकर नहीं, किन्तु जनता का सेवक मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए। उपदेशक को चाहिए कि वह समाज को विनम्रता एवं समतापूर्वक सत्योपदेश एवं धर्मोपदेश दे। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

उत्तर प्रश्न अनेक विधि, निर्णय सहित यथार्थ।
उपदेशै तेहि मेल विधि, लखै आपनो अर्थ॥
काहे ते शिष्य मेल विधि, उचटै नहिं सो जीव।
वह तू जमा सो एक ही, ताते मेलहु कीव॥
मिलि लखे ते उचटे नहीं, एकता सुख की खानि।
सत्य शब्द टकसार विधि, निर्णय कही बखानि॥
दादा भाई बाप कै लेखौं, चरणन होइहौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥
ऐसी उपदेशन युक्ति, दीन्हीं तोहि बताय।
जाते उचटै नहीं सो, लहै हंस पद आय॥
ठहरावै तेहि पद निजु, सो कृपाल गुरुदेव।
अनुमानी संकल्पना, नाश लहै बिनु भेव॥

(पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोह 292 से 297)

अर्थात—अनेक प्रकार से प्रश्न और उत्तर के रूप में यथार्थ निर्णय करे। उपदेशक को चाहिए कि वह मेल-मिलाप की विधि से उपदेश करने में अपना प्रयोजन समझे। हे शिष्य! मेल-मिलाप के तरीके से क्यों उपदेश करना चाहिए; क्योंकि इससे श्रोताओं का मन उदास नहीं होता। तुम वक्ता और वे श्रोता दोनों सजाति मानव होने से एक ही हो, इसलिए तुम्हें उनको मिलाकर उपदेश करना चाहिए। प्रेम से, विनय से एवं मीठे वचन कहकर मेल-मिलाप की भावना से उपदेश करने पर किसी श्रोता का मन उचटता नहीं, उदास नहीं होता। देखो, संसार में एकता सुख की खानि है। टकसाल में—प्रामाणिक ग्रन्थ बीजक में सद्गुरु कबीर ने अपने सत्य शब्दों में ऐसा निर्णय वर्णन किया है—"हे प्रिय मनुष्यो! मैं तुम्हें भाई, पिता तथा पितामह कहता हूं और तुम्हारे चरणों की वन्दना भी करता हूं कि तुम कल्याण के रास्ते पर आ जाओ। अबकी बार संपूर्ण वासनाओं का त्याग करो तो सदैव के लिए आनंदित हो जाओगे।" इस प्रकार सद्गुरु कबीर ने तुम्हें मीठे वचनों में उपदेश करने का तरीका बता दिया है। ऐसा उपदेश करने से श्रोताओं का मन खिन्न नहीं होता और वे धीरे-धीरे

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। वही सच्चा कृपालु गुरु है जो यथासंभव मीठे वचनों में निर्णय कहकर मनुष्यों को उनके हंस पद में स्थित करे। अनुमान-कल्पना में पड़े हुए लोग बिना अपने स्वरूप का भेद जाने पतित होते हैं। अतः उन्हें यथार्थ ज्ञान देना आवश्यक है।

श्री पूरण साहेब भी 341वीं साखी "है बिगरायल ओर का" की टीका में लिखते हैं—"हे प्राण! तू तो भास-अध्यास का जानने वाला मेरा सजाति है। कछु मैं जीवघातक काल नहीं जो त्रास रूपी घाव मारों...। इस वास्ते शनैः-शनैः मिथ्या धोखा परखाय के पारख पर स्थिर करता हूं।"

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह नहीं है कि उपदेष्टा श्रोताओं का केवल मीठे वचनों में मनोरंजन करता रहे और सत्य निर्णय पर लीपापोती करता रहे। सत्य निर्णय करने पर कुछ लोगों को वह कुछ-न-कुछ कटु लग सकता है। परन्तु इतनी परवाह करके सही निर्णय नहीं कहा जा सकता, और सही निर्णय कहे बिना जिज्ञासु एवं सत्पात्र को बोध नहीं हो सकता। इसलिए सही निर्णय तो कहना चाहिए, परन्तु वक्ता को यह भी देखना चाहिए कि श्रोता किस किस्म के हैं! उनमें पात्रता कितनी है! सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। श्रोताओं का मन प्रसन्न करके ही उनके गले अपनी बातें उतारी जा सकती है। धीरे-धीरे ही किसी को रास्ते पर लाया जा सकता है। खानी-वाणी में अत्यन्त आसक्त जीवों को तत्काल उनसे सर्वथा नहीं छुड़ाया जा सकता। पहले तो श्रोताओं के मन को प्रसन्न करने वाली ही बातें करनी पड़ेगी। श्रोता प्रसन्न होने के बाद खरे-से-खरे निर्णय को भी मानेंगे। इसलिए जितना संभव हो प्रवचन में मीठे वचनों का प्रयोग होना चाहिए।

विनम्रता उच्च सद्‌गुण है

सब ते लघुता भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नावै सब कोय॥ 323॥

शब्दार्थ—लघुता=अपने आप को छोटा मानने का भाव, विनम्रता।

भावार्थ—अपने आप को सबसे छोटा मानकर सबसे विनयी बने रहना बड़ी अच्छी बात है। मनुष्य को इस विनय-भाव से ही सारी श्रेष्ठता प्राप्त होती है। जैसे दुतिया के चन्द्रमा को सब सिर झुकाते हैं॥ 323॥

व्याख्या—दुतिया का चन्द्रमा दुबला-पतला होता है, परन्तु वन्दनीय इसलिए होता है कि वह चांदनी रात की शुरुआत करता है। उसके बाद वह दिन-प्रति-दिन ज्यादा प्रकाशमान होता जाता है और संसार को दिनोदिन अधिक प्रकाश देता जाता है। इसके विपरीत पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखिए, वह भरा-पूरा है, परन्तु वह अभागा उस दिन के बाद से ही काला होना शुरू होता है और

तभी से अंधियारी रात शुरू होती है तथा दिनोदिन रात की अंधियारी गहराती जाती है।

यहां दुतिया के चन्द्रमा की उपमा विनम्र मनुष्य से दी गयी है। इस प्रकार सद्गुरु ने सुन्दर उपमा अलंकार में विनयी मनुष्य की प्रशंसा की है। जैसे दुतिया का दुबला चन्द्रमा आगे निरन्तर प्रकाश की तरफ बढ़ता तथा जगत को उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित करता है, वैसे अपने आप को सबसे लघु मानकर चलने वाला विनयी मनुष्य अपने लक्ष्य में निरन्तर उन्नति करता जाता है और समाज के कल्याण में सहायक बनता जाता है। जो अपने आप को सबसे छोटा मानकर सबसे विनयपूर्वक रहता है, वह सबसे ज्यादा सार एवं ज्ञान ग्रहण करता है। दत्तात्रेय जी का चौबीस गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करने की बात उनका विनम्रतापूर्वक सबसे सार ग्रहण करना ही है। तथाकथित उच्च वर्ण, उच्च कुल, सुन्दरता, विद्या, पद, प्रतिष्ठा, बहुत जानकारी, काव्यशक्ति, लेखनशक्ति आदि सारे गुण तुच्छ एवं फीके हो जाते हैं यदि इनसे संपन्न मनुष्य विनयी नहीं है। ज्ञान, वैराग्य और बड़ी उम्र भी आदरणीय नहीं हो पाते यदि विनम्रता का अभाव है। वे ज्ञान-वैराग्य कैसे जिनमें विनय न हो। सच्चे ज्ञान-वैराग्य धारण करने वाले में विनय अपने आप होता है। जिसमें विनय नहीं है उसके ज्ञान-वैराग्य दिखावे के या अधूरे हैं।

अधिकतम मनुष्यों की यह बहुत बड़ी दुर्बलता रहती है कि वे अपने आप को बड़ा करके समाज में प्रदर्शित करना चाहते हैं। किसी पुस्तक में तथाकथित जगत-गुरुओं के नाम पढ़िए तो देखिएगा कि वह अनेक विशेषणों से संयुक्त पूरे पेज की चौड़ाई में रहेगा। कहीं-कहीं तो एक पंक्ति में उनका नाम नहीं आने से दो-दो पंक्तियों में रहता हे। उसमें इतने विशेषण रहते हैं कि असली नाम क्या है पता भी नहीं चलता। इसे कोई दूसरा लिख दे तो कोई बात नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं हैं। वे स्वयं ऐसा लिखवाना चाहते हैं और अनेक स्वयं भी लिखते हैं। अपनी आध्यात्मिक तथा नैतिक कमजोरी के कारण अपनी असली श्रेष्ठता पर संदेह करने वाले अपने नामों में स्वयं जगद्गुरु, विश्वगुरु, व्रह्मांडगुरु, आचार्य, महंत, महामंडलेश्वर, साहेब, स्वामी, शास्त्री, वेदांताचार्य, दर्शनकेशरी, तर्कपंचानन, प्रतिवादभयंकर आदि विशेषण-पर-विशेषण लिखते हैं! हम पुरानी परम्परा के अनुगामी तो बनते हैं परन्तु पुराने पुरुषों की अच्छाइयों का अनुसरण भी नहीं करते। सोचिए, पुराने महापुरुष अपने नाम कैसे प्रचलित करते थे सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, वसिष्ठ, कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि। परन्तु आज के ज्ञानी, साधु, संन्यासी लोग स्वामी, साहेब, आचार्य और शास्त्री के बिना अपना नाम ही नहीं लिख पाते। राम, कृष्ण, बुद्ध तथा महावीर ने कभी अपने नाम में स्वयं भगवान नहीं जोड़ा था। पीछे से उनके नाम

में भक्तों ने भगवान शब्द लगाया, परन्तु आज के अभिमानी स्वयं अपने आप को भगवान लिखते तथा शिष्यों से लिखवाते हैं। पूरे बीजक में महत्तम संत कबीर ने अपने आप को केवल कबीर कहा है या कहीं दास लगा दिया है, परन्तु उनके अनुगामी लोगों की दशा देखी जा सकती है कि उनमें कितने लोग अपने नाम में कितना अधिक विशेषण चाहते हैं! अपने विषय में विश्वस्त ही नहीं हैं कि वे बिना विशेषण के रह सकते हैं। लोग समझते हैं कि मेरे नाम में यदि कोई विशेषण नहीं रहेगा तो लोग मुझे क्या समझेंगे! ऐसे लोग जब किसी सभा में जाते हैं तब आगे बैठना चाहते हैं और जहां तक हो सके दाहिने। वे हर समय अपनी कमजोरी जाहिर करते हैं। लोगों में बड़ा और अच्छा कहलाने की जितनी भावना है उतना बड़ा और अच्छा रहने की भावना नहीं है। बड़ा और अच्छा वही है जिसमें सद्‌गुण और विनम्रता है। कहा है—"बड़े बड़ाई न करे, बड़े न बोले बोल। हीरा कबही ना कहै, लाख टके का मोल॥"

मनुष्य को यह आत्मविश्वास रखना चाहिए कि वह यदि विनम्र, सेवा-परायण तथा सद्‌गुणसंपन्न है, तो स्वाभाविक सज्जनों के गले का हार हो जायेगा। विनयी व्यक्ति अपनी बड़ाई नहीं चाहता, किन्तु संसार उसकी बड़ाई करता है। जैसी फली हुई डालियां झुक जाती हैं वैसे सद्‌गुणसंपन्न व्यक्ति विनयी होता है। जैसे तराजू का जो पलड़ा झुकता है वह बड़ा माना जाता है। "जो कोइ नवै सो आप को, पर को नवै न कोय। घालि तराजू तोलिए, नवै सो भारी होय॥ "[1]

विनय एक ऐसा महान सद्‌गुण है कि यह अन्य छोटे-मोटे दुर्गुणों के रहते हुए भी मनुष्य को सबका प्यारा बना देता है। वाल्मीकीय रामायण के प्रथम संस्करण में ही राम का चरित्र अत्यन्त विनयपूर्ण चित्रित हुआ है। उसका प्रभाव पीछे के कवियों पर इतना पड़ा है कि राम-कथा के पुष्कल साहित्य बन गये। रोम सम्राट मार्क्स ओरेलियस तथा अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने विनय के विषय में जगत-प्रसिद्ध हैं। कनफ्यूसियस, बुद्ध तथा महावीर विनय के मूर्तिमान स्वरूप थे। पण्डित, मौलवी, योगी, अवधूत तथा षड्‌दर्शनियों को जोर से फटकारने वाले स्वयं ग्रन्थकार कबीर की अत्यन्त विनम्रता "सोई गुरू हम चेला" से ही प्रकट हो जाती है। फिर उनकी पूर्ण विनम्रता तो उनका जीवन-दर्शन ही है। न वे पैगंबर बनते हैं, न ईश्वर-पुत्र और न अवतार और न अपनी वाणी कथाकथित ईश्वर-वाणी एवं इलहामी किताब कहते हैं। वे अपने आप को केवल मनुष्य कहते हैं और "सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी" कहकर सबको स्वतन्त्र चिन्तनपूर्वक विचार करके बात को मानने या न मानने की राय

---

36. साखी ग्रन्थ।

देते हैं।

अतः हर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह चाहे व्यावहारिक क्षेत्र में हो या पारमार्थिक, उसे विनयी होना चाहिए। विनयी सबके दिल का देवता है, सबका स्नेहपात्र है और भव का भूषण है।

मरने की अच्छी कला क्या है?

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥ 324॥
मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया बिचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार॥ 325॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः। सयानी=समझ, विवेक। परबस=वासनाओं के अधीन।

भावार्थ—संसार के लोग मरते-मरते सब मरते ही हैं, परन्तु वे मरना नहीं जानते। वे ऐसी रहनी में जीकर नहीं मरते जिससे उन्हें पुनः न मरना पड़े॥ 324॥ जगत के सभी लोग तो मरते ही हैं, परन्तु वे अपने आपकी तरफ लौटकर विचार नहीं करते। एक तो मरना ऐसा होता है जिसमें अपने विवेक से सारी आसक्तियों एवं वासनाओं का त्याग कर इस जीवन में निर्भय और मुक्त हो जाया जाता है और दूसरा ढंग मरने का है वासनाओं की रस्सी में बंधकर घसीटा जाना, यही संसार की गति है॥ 325॥

व्याख्या—उक्त दोनों साखियों का विषय एक है। सद्गुरु कहते हैं कि मरते तो सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। लोग मरने का तरीका नहीं जानते। प्रश्न हो सकता है 'मरने का तरीका क्या है? क्या फांसी लगाकर, आग में या जल में कूदकर या ट्रेन से कटकर या जहर खाकर? आखिर मरने का कौन-सा तरीका अच्छा है?' उत्तर में समझना चाहिए कि यह सब मरने की तरीका नहीं है। यह सब तो आत्महत्या है। मरने का तरीका है जीने का अच्छा तरीका।

जीवन में प्रेम और अनासक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा होना जीने का अच्छा तरीका है। प्राणिमात्र के प्रति प्रेमपूर्ण और समस्त प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि संसार पांच विषयों के प्रति अनासक्त रहना ही जीवन का उत्तम रूप है। प्रेम में स्वर्ग है और अनासक्ति में मोक्ष है। जिसके जीवन में प्रेम और अनासक्ति दोनों घटते हैं उसका जीवन पूर्ण सफल है।

आप कहेंगे कि जिसके मन में प्रेम होगा, उसके मन में अनासक्ति नहीं होगी और जिसके मन में अनासक्ति होगी उसके मन में प्रेम नहीं होगा। प्रेमपूर्ण मन अनासक्त कैसे होगा तथा अनासक्त मन प्रेमपूर्ण कैसे होगा। इसका समाधान यह

है कि प्रेम तथा अनासक्ति में विरोध नहीं है, किन्तु ये एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम के नाम से मोह और वासना अर्थ भी संसार में माना जाता है। लोग कहते हैं कि अमुक लड़के को अमुक लड़की से प्रेम हो गया है। यहां मोह एवं वासना को प्रेम मान लिया गया है। परन्तु विवेकीजन प्रेम का अर्थ निष्काम स्नेह मानते हैं जिसमें केवल सेवा करने की भावना होती है, पाने की भावना नहीं। वासना एवं मोह में पाने की भावना होती है, परन्तु प्रेम में देने की भावना होती है। कबीर साहेब ने कहा है—"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित हुआ न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥" यह कबीर-कथित उच्चतम प्रेम किसी लड़की-लड़का का वासनात्मक आकर्षण नहीं है, किन्तु मानवता एवं जीव मात्र के लिए करुणा है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को जितने अंशों में जीत लेता है वह उतने अंशों में प्रेम से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह उतने अंशों में परोपकारी हो जाता है। जो व्यक्ति संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाता है वह प्राणिमात्र के लिए प्रेम करता है। संसार के पूर्ण अनासक्त संतजन कपिल, बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, रैदास, दयानन्द, विवेकानन्द आदि संसार के कल्याण के लिए रोते थे। कबीर साहेब ने कहा—"मैं रोवों यह जगत को।"[1] संसारासक्त लोग जगत के लिए नहीं रोते। वे अपनी पत्नी, बच्चे एवं धन-दौलत के लिए रोते हैं। संसार के कल्याण के लिए तो वह रोता है जिसके मन में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम एवं करुणा की तरंगें उठती रहती हैं और वह वही हो सकता है जो संसार से अनासक्त है।

जिसका व्यवहार मनुष्यों से प्रेमपूर्ण नहीं है, वह जीवन में उलझा-उलझा रहता है और उलझा आदमी का जब जीना ही अच्छा नहीं है तब मरना क्या अच्छा हो सकता है। इसलिए जो जीवन को अच्छे ढंग से जीना चाहे, उसे चाहिए कि वह व्यवहार में मिलने वाले सारे मनुष्यों से प्रेम का बरताव करे। सबके प्रति प्रेम का व्यवहार होने से मन में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, वैमनस्य आदि नहीं आते। मन निर्ग्रंथ, सरल एवं प्रसन्न रहता है। यही स्वर्ग-सुख है। जो व्यक्ति अपने साथियों में प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है और अन्य समस्त प्राणियों को भी प्रेम की दृष्टि से देखता है उसका मन राग एवं द्वेष से छूटकर सब समय प्रसन्न रहता है।

दूसरा पक्ष है अनासक्ति। प्रेम द्वारा जिनका हृदय शुद्ध हो जाता है वही ज्ञानोदय होने पर सबसे अनासक्त हो जाता है और जो सबसे अनासक्त हो जाता है उसका प्रेम और परिपूर्ण हो जाता है। जो प्राणियों में मोह नहीं करता, पदार्थों में लोभ नहीं करता, प्रतिष्ठा में आकर्षित नहीं होता, वही तो अनासक्त है। वह

---

37. साखी 180।

खाता-पहनता है केवल शरीर की रक्षा के लिए। उसे खाने-पहनने में भी आसक्ति नहीं होती है। सारा संसार एक दिन अनंत काल के लिए अचानक छोड़ देना है। ऐसे संसार में किस वस्तु में राग किया जाये! राग-द्वेष ही जीव को संसार में भटकाते हैं। जो राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है वही कृतार्थ हो जाता है। सद्गुरु ने कहा है—"बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं।"[1] धनी घराने में बालक की सेवा करने वाली नौकरानी धाय बालक की सेवा करती है, उसे प्यार देती है, उसको सीने पर सुलाती है, पुचकारती एवं दुलराती है, परन्तु जब नौकरी छोड़कर उस घर से जाने लगती है तब उसके लिए रोती नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि यह बच्चा मेरा नहीं है। हमें भी चाहिए कि हम स्वजनों तथा परजनों को प्रेम की निगाह से देखें, उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, परन्तु उनमें कहीं भी किंचित आसक्त न हों।

जो अपने आप को अविनाशी, देह से सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन समझता है और देहादि समस्त भौतिक पदार्थों को नाशवान एवं विजाति समझकर सबसे अनासक्त रहता है, उसकी मरने-जीने में समबुद्धि हो जाती है। जो सारे संसार को स्वप्नतुल्य समझकर सबसे सब समय अनासक्त रहता है उसे न जीते रहने में हर्ष है और न मरने में शोक। किसी के वियोग से इसलिए मन में पीड़ा होती है, क्योंकि हम उसमें आसक्त होते हैं। यदि हम आसक्त न हों तो बिछुड़ने में कोई दुख ही नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष है कि हम वहीं-वहीं दुखी-सुखी होते हैं जहां के लिए हमें राग-द्वेष है। जिसके प्रति हमारे मन में राग-द्वेष नहीं है, उसके मिलने-बिछुड़ने में हमें कोई हर्ष-शोक नहीं होता। सर्वत्र अनासक्त हुआ व्यक्ति ही मुक्त है और जो मुक्त है उसी का जीवन अच्छा है। उसी का मरना भी अच्छा होता है। सद्गुरु कहते हैं "ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय।" इस पंक्ति में यह सिद्धान्त निहित है कि जीव वासनावश पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, परन्तु वासना का त्याग कर देने पर वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः जन्म-मरण के बंधनों में नहीं पड़ता। साहेब कहते हैं कि संसार के लोग मरते तो हैं, परन्तु वे वासना त्यागकर नहीं मरते जिससे उनका बारम्बार जन्मना-मरना बन्द हो जाये, किन्तु वासना बनाये रखकर मरते हैं। इसलिए वे बारम्बार जन्मने-मरने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं "एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार।" एक मरना स्वतन्त्र होकर होता है और दूसरा परतन्त्र होकर। स्वतन्त्र होकर मरने वाले बिरले हैं, परन्तु परतन्त्र होकर मरने वाला तो पूरा संसार है।

---

38. पूरी साखी इस प्रकार है—
कमल पत्र हैं संतजन, रहैं जगत के माहिं।
बालक केरी धाय जो, आपन जानत नाहिं॥

"एक सयानी आपनी" बड़े गम्भीर भाव का वाक्यांश है। अपने विवेक से रहकर मरना उत्तम मरना है। विवेकवान मौत को ललकार देता है कि हे मौत! तू आ, मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूं। विवेकी समझता है कि मेरी मौत नहीं होती। मौत का अर्थ इतना ही है शरीर और जीव का अलग-अलग हो जाना। इसमें भय किस बात का। भय केवल शरीर-संसार के छूटने का होता है जब उनमें मोह रहता है। जब मोह समाप्त हो जाता है तब छूटने का भय भी समाप्त हो जाता है। सारा संसार छूटने वाला है, वह छूटेगा ही, हम चाहे भय करें या न करें। इसलिए विवेकवान पहले ही भय छोड़ देता है।

यदि किसी के ख्याल से ऐसा हो कि देह से अलग अविनाशी जीव या आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, शरीर समाप्त होने पर सब समाप्त हो जाता है, तो भी मृत्यु के भय का कोई अर्थ नहीं होता। जब मरते ही सब समाप्त हो जाना है, तब किस बात का भय। और यदि देह से भिन्न जीव अविनाशी शुद्ध चेतन है, वह शरीर के न रहने पर भी रहता है, तो शरीर के छूटने का भय क्यों!

जीने, भोगने, खाने, करने, देखने आदि की वासनाएं ही मृत्यु-भय पैदा करती हैं। अभी मेरे पास मृत्यु आ जाये, तो मैं उससे कहूंगा कि तुम अभी मुझे मत ले जाओ! वह मुझसे पूछेगी कि अभी क्यों न ले चलूं। तो मैं कहूंगा कि अभी मुझे अमुक-अमुक काम करने हैं, अमुक-अमुक जगह देखनी है, अभी खाने-भोगने की भी इच्छाएं नहीं पूरी हुई हैं। मौत कहेगी कि जब तुम आज इतनी उम्र तक जीकर इच्छानुसार काम न कर पाये तो थोड़े दिन और रहकर क्या देख, सुन तथा भोग सकोगे?

हम चार-छह घंटे के लिए सोने चलते हैं तो कितना आनन्द लगता है! यदि किसी रात सोने चलें और कोई व्यक्ति आकर हमारे सोने में विघ्न करे तो हमें बड़ा बुरा लगेगा। चार-छह घंटे की नींद जब इतनी प्यारी है, तब मौत तो ऐसी नींद है जो सदा के लिए सुला देती है, फिर उसमें हमें क्या परेशानी है! सदा के लिए सोने में तो हमें अति आनन्द मानना चाहिए। उलझन भरी जिंदगी में सुख मानना तो मोह ही है। जहां सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं उस मौत से परेशानी कैसी?

बोधवान व्यक्ति सब समय सारा काम पूर्ण समझता है। वह जीने, करने, भोगने सबकी वासनाएं सर्वथा त्याग देता है। इसलिए उसे जीना और मरना बराबर लगता है। वह समझता है कि मैं सब समय पूर्ण हूं। जो सब समय पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम एवं अकाम है, उसे मरने का भय कहां! यही है मरने का अच्छा तरीका । यही है अपनी सयानी से मरना। श्री विशाल साहेब कहते हैं—

ना मिलने की चाहना, ना छुटने को सोच।

धन प्राणिन निर्वाह में, कहूँ न मन को रोच॥
सबै काम को छोड़ि कै, रहै आप में आप।
पारख पाय अनाथ गत, मिटै जगत दुख पाप॥
पारख अटल समाधि है, देहभिन्न सब काल।
देह रहे या न रहे, यकसम जानि निहाल॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूँ नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहाँ रहे सब फीक॥

(मुक्तिद्वार, शांतिशतक, 116, 119; निवृत्ति साहस शतक, 135, 136)

ज्ञान की कीमत आचरण है

शब्द है गाहक नहीं, वस्तु है महँगे मोल।
बिना दाम काम न आवै, फिरै सो डामाडोल॥ 326॥

शब्दार्थ—दाम=कीमत, श्रद्धा, समझ, आचरण। डामाडोल=डांवांडोल, चंचल, किंकर्तव्यविमूढ़।

भावार्थ—निर्णय के वचन हैं, परन्तु उनके ग्राहक नहीं हैं, अर्थात बहुत कम हैं। निर्णय एवं निष्पक्ष ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मूल्य में मिलती है। वह मूल्य है श्रद्धा और समझपूर्वक आचरण। इस मूल्य को चुकाये बिना निर्णय वचन काम नहीं देते और आदमी चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बना भटकता है॥ 326॥

व्याख्या—"शब्द है गाहक नहीं" इस भाव का अनुभव विवेकियों ने सदा से किया है। निर्णय के वचन तो हैं, परन्तु उन्हें ग्रहण करने वाले नहीं हैं। इसका मतलब निर्णय वचनों के ग्राहक कम हैं। जब तथागत बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, तब उनके मन में ख्याल आया कि मैं इस ज्ञान का जनता में प्रचार करूं। परन्तु तत्काल उन्होंने पुनः सोचा कि ज्ञान के पिपासु इस संसार में कहां हैं! इस अंधकार भरे संसार में कौन मेरी बातें सुनेगा! परन्तु पुनः उन्होंने विचार किया कि आखिर मैं भी तो एक आदमी हूं। जैसे मुझे ज्ञान की पिपासा थी और मैं उसे पाकर कृतार्थ हो गया हूं वैसे कोई मेरे समान दूसरा भी होगा ही। संसार जिज्ञासुओं से निर्बीज तो होगा नहीं। अतएव उन्होंने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन किया, उपदेश देना शुरू किया।

वेदव्यास जी ने कहा है—"मैं अपने हाथ ऊपर उठाकर कहता हूं, परन्तु मेरी बातें कोई सुन नहीं रहा है। मैं कहता हूं धन और भोग धर्म से ही मिलते हैं,

फिर धर्म का आचरण क्यों नहीं करते हो!"[1] गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—"रामायण के अनुसार शिक्षा दी जाती है कि राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की तरह भाई-भाई प्रेमपूर्वक रहो, परन्तु संसार के लोग महाभारत के समान भाई-भाई विरोध करके मर रहे हैं। हे तुलसी, तेरे-जैसे शठ की बात कौन सुनता है, कलिकाल में कुचाल पर ही प्रेम है।"[2] संसार के लोगों की ज्ञान के विषय में अरुचि देखकर यहां वक्ता ने अपने आप को ही शठ कह डाला है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन के आखिरी हिस्से में बेलुड़मठ में बेल पेड़ के नीचे बैठे-बैठे खेदपूर्वक कहा था "जिसके आने की आशा की थी, वे नहीं आये।" उन्होंने एक जगह लिखा है कि मद्रास के युवक कुछ कर सकते हैं। किन्तु सब अभागे योनिकीट हैं। अर्थात वे संन्यासी बनकर स्वामी जी के मिशन में सहयोग नहीं दे सके।

कबीर के निर्णय धारदार, पैने और खरे तो हैं ही, अन्य शास्त्रों एवं ग्रन्थों में भी जगह-जगह निर्णय के वचन, काम के वचन बहुत हैं; परन्तु उन्हें पढ़-सुन तथा मनन कर उनका आचरण करने वाले कम मिलते हैं। हजार श्रोताओं में मनन करने वाले थोड़े हैं, और हजार मनन करने वालों में आचरण करने वाले थोड़े हैं। सद्गुरु कहते हैं "वस्तु है महँगे मोल" निर्णय वचन एवं ज्ञान की कीमत बहुत है। यह ज्ञानरूपी वस्तु बहुत महंगे मोल की है। ज्ञान की कीमत क्या है? कौन-सा मूल्य चुकाना पड़ता है ज्ञान के बदले में? इसकी कीमत है आचरण। परन्तु आचरण श्रद्धा और समझपूर्वक होना चाहिए। श्रद्धा का सामान्य अर्थ है आस्था तथा शाब्दिक अर्थ है सत्य को धारण करना—श्रत=सत्य+धा=धारण करना। समझ का अर्थ बुद्धि है। हम आस्था और बुद्धिपूर्वक जब आचरण धारण करते हैं तभी ज्ञान का सही उपयोग हुआ समझना चाहिए। हमने किसी बात को सुनकर उसमें आस्था कर ली और उसका आचरण भी करने लगे, परन्तु वह समझपूर्वक नहीं है तो उसके टूटते देर नहीं लगेगी; और यदि हमने उसे बुद्धिपूर्वक तो अपनाया है, परन्तु उसमें आस्था नहीं है तो उसके भंग होने में भी संदेह नहीं है। परन्तु जब हम किसी बात को श्रद्धा और समझपूर्वक धारण करते हैं और उसका आचरण करते हैं, तब प्राप्त ज्ञान हमारा अपना हो जाता है। हमारे सामने कोई हजार निर्णय करे, परन्तु हमें उन वचनों में न श्रद्धा है, न समझ है और न उसे आचरण में लाने का उत्साह है तो निर्णय वचनों का कोई मूल्य नहीं है। हवा आती है और चली जाती है, वैसे

---

39. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥ महाभारत, स्वर्गारोहणपर्व 5/62॥
40. रामायण अनुहरत सिख, जग भयो भारत नेम।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रेम॥ दोहावली॥

संतों और सद्ग्रन्थों के निर्णय वचन आते हैं और चले जाते हैं।

"बिना दाम काम न आवै" श्रद्धा, समझ एवं आचरण रूपी मूल्य चुकाये बिना निर्णय एवं ज्ञान की बातें काम नहीं देतीं। श्रद्धा, समझ एवं आचरण से हीन वक्ता-श्रोता चंचल एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बने भटकते रहते हैं। अतएव हमें ज्ञान का सच्चा पिपासु बनना चाहिए और उसके लिए श्रद्धा, समझ और आचरण का दाम चुकाना चाहिए। किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

तमन्ना दर्द दिल में है, तो कर खिदमत फकीरों की।
नहीं वह लाल मिलता है, अमीरों के खजानों में॥

विवेक बिना गृह-त्याग से भी शांति नहीं

गृह तजि के भये योगी, योगी के गृह नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं॥ 327॥

शब्दार्थ—योगी=संन्यासी, त्यागी। छाहिं=आश्रय, छाया।

भावार्थ—कुछ लोग गृहस्थी का त्याग कर संन्यासी एवं विरक्त आश्रमी हो जाते हैं, परन्तु सच्चे ज्ञान एवं आचरण के बिना वे वहां भी शांति नहीं पाते। वे बिना विवेक सुने-सुनाये शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं॥ 327॥

व्याख्या—गृहस्थी में नाना उलझनें हैं। कहा जाता है "घर ही में बनते काजा, तो घर काहेक छोड़ते भरथरी राजा।" यदि गृहस्थी में मोक्ष का सारा काम बन जाता तो राजा भर्तृहरि घर क्यों छोड़ते! अतएव समस्त सूक्ष्म बन्धनों को काटने के लिए घर-गृहस्थी का त्याग करना पड़ता है। ऐसा विचारकर कुछ लोग गृहस्थी का त्याग कर देते हैं और संन्यास आश्रम में चले जाते हैं। परन्तु यदि उन्हें सच्चे सद्गुरु न मिले, उनको सच्चा ज्ञान न मिला और सच्चा त्याग न हुआ तो उनके जीवन में पूर्ण शांति की प्राप्ति नहीं होती।

अनन्त शांति की प्राप्ति के लिए ही संन्यास-मार्ग ग्रहण किया जाता है। परन्तु केवल घर छोड़कर साधु का वेष पहन लेना संन्यास नहीं है। यहां "गृह तजि के भये योगी" का केवल शाब्दिक अर्थ घर छोड़कर योगी होना नहीं है, किन्तु योगी का सामान्य अभिप्राय संन्यासी-साधु होना है। यहां का सरल अभिप्राय है घर छोड़कर किसी त्यागी संप्रदाय में दीक्षित होकर विरक्ति-मार्ग से रहना। कितने लोग उत्साह में घर तो छोड़ देते हैं और किसी संप्रदाय में साधुवेष धारण कर लेते हैं, परन्तु उनमें सच्चा वैराग्य न होने से उन्हें साधुआश्रम का जीवन आगे चलकर नीरस लगने लगता है, या अच्छे गुरु एवं साधुओं की संगत न मिलने से अधूरे-अधकचरे साधु-समाज में पड़कर उनका चित्त आशा के विपरीत तितर-बितर हो जाता है। उनमें निष्पक्ष होकर न सच्चे सद्गुरु की खोज

करने का साहस होता है और न त्याग का अखंड बल होता है। ऐसे लोगों के वैराग्य का जोश थोड़े दिनों में उतर जाता है। वे पुनः वासनाओं में बहने लगते हैं।

सच्चे विवेकवान सद्गुरु एवं संतों की संगत न पाने से उनकी सारी भ्रांतियां नहीं कटतीं। अनादिकाल के जगत में नाना प्रकार की वाणियां कही गयी हैं। उनमें सत्य निर्णय भी है और मिथ्या धारणाएं भी। इन सबका निष्पक्षतापूर्वक निर्णय और शोधन करने का उनमें साहस नहीं होता। अतएव वे धर्मशास्त्रों के उलटे-सीधे शब्दों की पूंछ पकड़कर घूमते रहते हैं। नाना मत के धर्मशास्त्रों एवं धार्मिक ग्रन्थों में विश्वसत्ता के नियमों, प्रकृति के गुण-धर्मों एवं कारण-कार्य-व्यवस्था के विपरीत ऊलजलूल बातें कही गयी हैं। चमत्कार जो एक छल-कपट का जाल है, धर्म, भगवान और गुरु के नाम पर खूब चलता है। इस छल-कपट की गंगा में प्रायः सभी मत वाले अपने तन-मन पखारते हैं। चमत्कार नाम की जालसाजी एवं धूर्तता धर्म के नाम पर इतनी मान्य हो गयी है कि इनके विरोध में कहना ही मानो नास्तिक, नापाक और काफिर होना है। धर्म के नाम पर जो लम्बा-चौड़ा झूठ बोलता हो वह धर्मात्मा एवं आस्तिक है, और जो सत्य निर्णय करता हो वह अधर्मी और नास्तिक है। नाना मत के साधु-संन्यासी या साधक धर्म के नाम पर बिना सिर-पैर की बातों को लेकर उनके गीत गाते रहते हैं और मन के भटकावे में भटकते रहते हैं। कोई गुरु शब्द, ज्योति, नाद, शून्य या कोई काल्पनिक बिन्दु को कह दिया कि यही भगवान है तो उसी में लोग लटक जाते हैं। किसी ने कहा कि भगवान अमुक लोक में है तो लोग उसी के गीत गाने लगते हैं। कोई कण-कण में बताया तो कोई अगजग व्यापक। ऐसी भावुकतापूर्ण अवधारणाओं में साधक उलझ जाते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि सारी कल्पनाओं का जनक यह स्वयं द्रष्टा चेतन है। मनुष्य का अपना 'स्व' उसकी चेतना है। वही सर्वोच्च है। सारी विषय-वासनाओं को त्यागकर अपनी चेतना में लीन होना ही स्वरूपस्थिति है। यही परम पद की प्राप्ति है। इसी में सदैव के लिए परम शांति है। परन्तु लोग इस दिव्य चेतन स्वरूप की स्थिति को न समझकर धर्मशास्त्रों के शब्दों की छाया पकड़कर भटकते रहते हैं। बहुत मार्मिक वचन है—"बिना विवेक भटकत फिरै, पकरि शब्द की छाहिं।"

सामान्य मन का चित्रण

सिंह अकेला बन रमै, पलक पलक करै दौर।
जैसा बन है आपना, वैसा बन है और॥ 328॥
पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।

जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत॥ 329॥

शब्दार्थ—सिंह=मन। अकेला=बे-जोड़। रमै=घूमना, चलना, आसक्त होना, भोग-विलास करना। दौर=दौड़, जोरदार हमला। बन=मनोमय संसार। पैठा=घुसा। घट=हृदय। साचेत=सचेत, सावधान। गति=क्रिया, आचरण, दशा। मति=बुद्धि, प्रेरणा।

भावार्थ—यह मन बे-जोड़ सिंह बन गया है। यह मनोमय संसार में घूमता है और विलास करता है। यह भोगों के लिए क्षण-क्षण जोरदार हमला करता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सर्वसामान्य एवं एक समान है। तुम जैसे अपना मनोमय समझो, वैसे दूसरे का भी॥ 328॥ यह मन सबके हृदय में घुसा है और भोगों में रमण करने के लिए सावधान होकर बैठा है। यह जब जैसा क्रिया-भोग चाहता है व्यक्ति को वैसी ही प्रेरणा देता है॥ 329॥

व्याख्या—इस बात पर इस पुस्तक की व्याख्या में कई बार निवेदन किया गया है कि मन कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है जो जीव को विवश कर सके। मन एक आभ्यासिक वृत्ति है। परन्तु जीव अपने स्वरूप को न जानकर अनादिकाल से पंचविषयों में आसक्त है। इस आसक्ति से उत्पन्न मन विषयों के लिए प्रबल हो गया है। जैसे बीड़ी-तम्बाकू पीने वालों का मन उनके लिए अत्यन्त जोरदार हो जाता है। जो व्यक्ति बीड़ी-तम्बाकू का सेवन नहीं करता उसका मन उनके लिए उसे परेशान नहीं करता। ऐसे ही अन्य विषयों के लिए समझा जा सकता है। अतएव विषयासक्ति के कारण ही मन प्रबल है। विषयासक्ति का कारण है विषयों का उपभोग। उपभोग का कारण है अज्ञान। अतएव जीव ही अपनी भूल से मन को निर्मित करता है, बलवान करता है और फिर उसके वश होकर हैरान होता है। एक व्यक्ति है, वह शराब नहीं पीता था। उसके प्रति उसका मन नहीं बना था। शराब के लिए उसका मन न सिंह बना था और न उस पर हमला करता था। परन्तु कुछ दिनों के बाद उसे शराबियों का कुसंग मिल गया। अब वह शराब पीने लगा। वह कुछ दिनों में शराब पीने का अत्यन्त व्यसनी हो गया। अब शराब के विषय में मन बन गया। उसका मन शराब पर हमला करने के लिए सिंह बन गया। शराब पर टूट पड़ने के लिए मन को सिंह किसने बनाया? स्वयं उस व्यक्ति ने ही। इस प्रकार मन को सिंह बनाने वाला यह मनुष्य ही है। इसके विपरीत उस व्यक्ति ने शराब को दुखदायी जानकर उसे छोड़ दिया। दृढ़ता से कुछ दिनों में आदत की कठिनाई समाप्त हो गयी। अब वह न शराब पीता है और न शराब के प्रति मन में आकर्षण है, बल्कि शराब की गंध भी उसको बुरी लगने लगी। अब उसका मन शराब पर टूटने वाला सिंह नहीं रहा। अब तो उसका मन शराब के सम्बन्ध में एकदम शांत हो गया, अपना दास हो गया। इस प्रकार संसार की सारी आसक्तियों के विषय में समझा जा

सकता है।

सद्गुरु ने इन दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन का चित्रण किया है। संत पुरुष अपने मन को देखते-परखते तथा अपने वश में करते हैं इसलिए वे सच्चे मनोवैज्ञानिक होते हैं। कबीर साहेब सामान्य मनुष्यों के विषयासक्त प्रबल मन को दृष्टि में रखते हुए कहते हैं कि यह मन 'सिंह अकेला' अर्थात बेजोड़ सिंह बन गया हे। यहां 'सिंह' में 'अकेला' विशेषण है। अकेला एक को भी कहते हैं और बे-जोड़ एवं अद्वितीय को भी। यहां बे-जोड़ एवं अद्वितीय ही अर्थ है। विषयासक्त मन बे-जोड़ सिंह है। यह पल-पल, क्षण-क्षण विषयों में दौड़ा करता है। दौड़ दौड़ने को कहते हैं और सवेग आक्रमण एवं जोरदार हमले को भी। यहां अभिप्राय जोरदार हमले का ही है। आसक्त मन विषयों पर किस तरह टूट पड़ता है, यह थोड़ा अन्दर में झांककर देखा जा सकता है। जो अपने मन को देखता है वह उसकी कसर-खोट को समझता है, परन्तु जो रात-दिन मन की धारा में बहता है उसे इसका क्या पता है! वह तो मन का विषयों पर टूटना तथा उनमें बहना अपनी स्वाभाविक क्रिया मानता है। बड़े-बड़े संसारी मनोवैज्ञानिकों की यह दशा है कि वे मन का विषयों में बहना उसका अपना ही सहज स्वभाव मानते हैं। वे विषय-चिन्तन मनोविकार न मानकर मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं। यह उनका भ्रम है। क्या भूख-प्यास की तरह मैथुनादि भोग शरीर के लिए आवश्यक हैं? क्या जैसे जल-भोजन नहीं त्याग सकते, वैसे मैथुनादि मनःकल्पित भोग नहीं त्याग सकते? जब आदमी सत्संग एवं सद्विचार में रहने लगता है, तब सद्विवेक से मन को विषयों से अलग करना सहज हो जाता है। काम-भोग मन का सहज स्वरूप नहीं है, किन्तु निष्काम रहना उसका सहज स्वरूप है। व्यक्ति का मन कुछ ही क्षण के लिए काम-भोग में रहता है और उतने समय के लिए उसका मन मलिन, विह्वल, क्षीण एवं हतप्रभ हो जाता है। क्या इसी स्थिति में कोई जीवनभर रह सकता है! परन्तु मन की निष्काम अवस्था स्वस्थ, तृप्त एवं शांत होती है और इस अवस्था में पूरा जीवन आनन्द से रहा जा सकता है। अतएव फ्रायड आदि मनौवैज्ञानिकों का यह समझना कि मनुष्य का मन काम-भोगादि से रहित हो नहीं सकता, एक गलत समीक्षा है, जिसका परिणाम भयंकर पतन है।

अज्ञान और गलत अभ्यास से मनुष्य का मन अत्यन्त विषयासक्त हो गया है। इसलिए उसका सिंह बना मन विषयों पर क्षण-क्षण टूटता रहता है। साधक को मन से सावधान रहना चाहिए। भोग-क्रिया तथा भोगासक्ति का त्याग करते-करते मन का निरसन हो जाता है और वह कुछ दिनों में शांत हो जाता है। साथ-साथ विषय-चिंतन से बचने की जागरूकता रखनी चाहिए। जो विषय-

चिंतन त्याग देता है, उसका मन विषयों से अलग, स्ववश एवं शांत हो जाता है।

"जैसा बन है आपना, वैसा बन है और" यह पंक्ति कहकर सद्गुरु मानव मात्र के मन की समानदशा का चित्रण करते हैं। अंतःकरण-भेद से हर मनुष्य के मन की चंचलता की मात्रा में अन्तर हो सकता है; परन्तु सभी सामान्य मनुष्यों के मन की दशा एक-जैसी ही होती है। सबका मन विषय-चिंतन का रागी है। विवेक द्वारा जितने व्यक्ति विषय-चिंतन छोड़ देते हैं, उनका शुद्ध मन भी एक समान ही शांत हो जाता है।

सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं—"पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत। जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" यह मन सबके हृदय के भीतर घुसा है और अपनी भोग-लालसाओं के लिए सावधान है। यह सभी सामान्य मनुष्यों का निरन्तर का अपना अनुभव है। थोड़ा भी असावधान होते ही मन गलत चिंतन करा सकता है। यह व्यक्ति से जिस प्रकार क्रिया कराना चाहता है, उस प्रकार उसे प्रेरणा देता है। बुद्धि को प्रेरित करके ही तो अनुकूल क्रियाएं करायी जा सकती हैं। यह प्रबल हुआ मन मनुष्य की बुद्धि घुमाता रहता है और इच्छानुसार क्रिया कराता रहता है।

सद्गुरु ने उक्त दोनों साखियों में सामान्य मनुष्यों के विषयी मन का चित्र खींचा है। इसको वश में करने के उपाय पूरे ग्रन्थ में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसके वश में होकर मनुष्य दुखी है, और जीवन में मन ही एक वस्तु है जिसे मनुष्य अपने वश में कर सकता है। शेष तो कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। जवानी, शरीर, परिवार, धन कुछ भी वश में होने वाला नहीं है। केवल मन हमारे वश में हो सकता है और मन को वश करके ही अनंत सुख मिलता है।

एक बात पर यहां थोड़ा और विचार कर लिया जाये। बीजक में 'सिंह' का लाक्षणिक अर्थ प्रायः जीव माना गया है। परन्तु प्रसंग को देखते हुए यहां मन किया गया है जो अधिक उपयुक्त है। सिंह का हर जगह लाक्षणिक अर्थ जीव ही हो यह कोई पक्की बात नहीं है। गीता में आत्मा का अर्थ चेतन जीव है, परन्तु जगह-जगह मन, इन्द्रिय एवं देह भी है।

'पैठा है घट भीतरे' भी मन के लिए ही कहा गया है। यहां यह मान लेना कि सबके घट-भीतर ईश्वर पैठा है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ईश्वर की कल्पना सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के रूप में है। फिर वह यदि सबके घट में पैठकर सब कुछ करा रहा है तो भले के साथ बुरा भी वही करा रहा है; क्योंकि अगली पंक्ति में यही कहा है कि "जब कैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत।" वह जब जैसी क्रिया चाहता है तब वैसी प्रेरणा देता है। तो क्या जब आदमी चोरी, हत्या, व्यभिचारादि करता है तब ईश्वर ही उसे ऐसी मति देता है! अतएव यह मन का

प्रसंग है। आसक्ति सम्बलित मन ही व्यक्ति को भटकाता है। यदि मनुष्य मन को ठीक कर ले तो उसकी दशा ठीक हो जाये।

वाणी मन की पहचान

बोलत ही पहिचानिये, साधु चोर का घाट।
अन्तर घट की करनी, निकरे मुख की बाट॥ 330॥

शब्दार्थ—घाट=रंग-ढंग, चाल-ढाल, लक्षण। अन्तर घट=हृदय, मन। बाट=रास्ता।

भावार्थ—किसी के बोलते ही उसके अच्छे-बुरे लक्षण पहचानने में आ जाते हैं, क्योंकि जो हृदय-अन्तर की करनी होती है, वह मुख के रास्ते से निकल पड़ती है॥ 330॥

व्याख्या—वाणी से मन की पहचान होती है। जब तक आदमी नहीं बोलता, उसके मन की थाह पाना कठिन है। परन्तु जैसे वह बोलने लगता है वैसे यह पता चलने लगता है कि उसके मन में क्या है या उसकी योग्यता क्या है!

एक मनोरंजक कहानी है। एक हाथी का सौदागर हाथी लेकर एक तालुकेदार के यहां बेचने गया। उसने हाथी को तालुकेदार के दरवाजे पर बांध दिया और उससे मोल-भाव होने लगा। तालुकेदार हाथी का एक दाम लगाकर अपने भवन में चला गया और सौदागर से कह दिया कि इस दाम पर विचार करो! इधर गांव से एक आदमी आया, वह हाथी को दायें-बायें तथा आगे-पीछे से लगा गौर से निहारने। वह बोलता कुछ नहीं था, किन्तु केवल देखता था। सौदागर ने समझा कि यह कोई हाथी का पारखी है और तालुकेदार के यहां से भेजा गया है। यदि इसने हाथी में कोई कसर बता दी तो तालुकेदार हाथी नहीं खरीदेगा। अतः सौदागर ने पचीस रुपये निकालकर उसे चुपके से दे दिये। वह रुपये ले जाकर घर में रख आया, और पुनः बिना बोले हाथी को देखता रहा। सौदागर बहुत हैरान हुआ। उसने पुनः बीस रुपये उसके हाथ में चुपके से थमा दिये। वह उन्हें भी घर रख आया और लगा हाथी को आगे-पीछे से देखने। अब सौदागर से न रहा गया। उसने कहा—"महाशय, हाथी में जो कसर है उसे बता दो, मन में रखने से क्या फायदा!" उसने कहा—"भैया, मैं यह नहीं जान पाता कि इसका मुंह किधर है।" सौदागर ने सोचा कि यह पारखी काहे का, महामूढ़ है। मैंने नाहक ही इसको घूस दिया। सौदागर ने उससे कहा कि जो रुपये मैंने तुमको दिये हैं, उन्हें ले आओ तो मैं तुम्हें बता दूं कि हाथी का मुंह किधर है। उसने दौड़कर घर से रुपये ले आकर सौदागर को दे दिए। सौदागर ने उससे कहा—"भले आदमी, जानवर जिधर से खाता है, दांत दिखते हैं उधर

मुंह होता है। आप देखते नहीं हाथी के दो बड़े-बड़े दांत।"

जब तक उसने बातें नहीं बोली थीं तब तक उसमें क्या गुण है, पता नहीं चला था; परन्तु जैसे उसने कहा कि हाथी का मुंह किधर है, यह मैं जान नहीं पाता हूं, वैसे उसकी पोलपट्टी खुल गयी। इसके विपरीत कितने लोग ऊपर से देखने में मैले-कुचैले और भोले-भाले लगते हैं, परन्तु जब बात करने लगते हैं तब उनकी विद्वता बातों से टपकने लगती है। मनुष्यों की वाणी से ही उनके भीतर के संतत्व-असंतत्व, सरलता-कपट और योग्यता-अयोग्यता का पता चलता है। अतएव हम किसी के रूप-सौन्दर्य, उज्ज्वल वेष एवं बनावटी सभ्यता पर न भूल जायें; और किसी की कुरूपता, मैले वेष, गंवईपन को देखकर उसकी उपेक्षा न कर दें। हमें किसी नये आदमी से कुछ समय बात करने पर उसके भीतर की बातों का कुछ अन्दाज लग सकता है। कहा जाता है कि सज्जन और संत तो तत्काल परख में आ जाते हैं; परन्तु छल-कपट पूर्ण आदमी को शीघ्र पहचानना कठिन होता है। फिर भी मनुष्य की बातों से उसके भीतर की भावनाओं का पता चलता है।

कुछ लोग बातों में बनावटीपन लाकर अपने हृदय के भावों को कुछ समय के लिए छिपाने में माहिर होते हैं। परन्तु वे भी अपने मुख की व्यंजना को नहीं छिपा पाते। मनुष्य के मन के भीतर की बातें मुख के ऊपर व्यंजित हो जाती हैं। बस, उसका पारखी होना चाहिए। जब श्रीराम चौदह वर्ष के वनवास की अवधि बिताकर अयोध्या लौटे, तब प्रयाग से ही हनुमान जी को भरत के पास भेजकर कहा कि तुम जाकर मेरा लौटना भरत को बताओ। भरत ने चौदह वर्ष तक अयोध्या का राजकाज देखा है। हो सकता है उनका मन बदल गया हो और उनके मन में राज्य के प्रति मोह हो गया हो। अतएव यदि मेरा अयोध्या पहुंचना उनको बुरा लगता है, तो मैं यहीं से पुनः वन को लौट जाऊंगा। अतएव हे हनुमान! तुम भरत से मेरे लौटने की बात करके यह परखना कि वे क्या उत्तर देते हैं। उनकी बातों के स्वर तथा उनके मुख की व्यंजना को भी परखना।

यहां आप श्री राम की संदेहजनित कमजोरी का अनुमान न कीजिए। यहां मनोविज्ञान का सुन्दर अध्ययन है। आदमी का मन बदलता है। यहां श्रीराम का सामान्य और सहज संदेह है जैसा कि संसार में घटता है। आदमी अपने भावों को एक तो अपने वचनों में ही नहीं दबा पाता। यदि बनावटी वचनों में दबा दिया तो उसकी बातों के स्वर उसके मन के भाव को बता देते हैं। यदि कहीं आदमी अपने स्वर में भी बनावटीपन लाकर उसमें भी भाव छिपा लिया, तो वह अपने मुख की व्यंजना से अपने अन्दर की बातें विवश होकर प्रगट ही कर देता है। बात और स्वर बदले जा सकते हैं, परन्तु मुख की व्यंजना नहीं बदलीं जा सकती। हर्ष-शोक, प्रसन्नता-खिन्नता एवं सरलता-छल मुख के ऊपर अपना

प्रभाव दिखा ही देते हैं।

रामायण का उक्त उदाहरण मूल रूप में इस प्रकार है—श्री राम लंका से अयोध्या लौट पड़े थे। रास्ते ही से उन्होंने हनुमान को भरत के पास अयोध्या भेजा और कहा कि मेरा सकुशल अयोध्या लौटने की बात जाकर भरत से कहो; परन्तु "ध्यान रखना, मेरा अयोध्या लौटना सुनकर भरत की मुख-मुद्रा पर क्या भाव उभरते हैं इस पर ध्यान देना और भरत मेरे प्रति क्या करना चाहते हैं, इसका पता लगाना। वहां की सारी बातें तथा भरत की चेष्टाएं तुम्हें ठीक से परखनी चाहिए। भरत के मुख की कांति, उनकी आंखें तथा बातचीत से उनके मनोभावों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हाथी, घोड़े, रथ आदि समस्त भोगों से संपन्न पिता-पितामहों का राज्य मिल जाने पर वह किसके मन को नहीं पलट दे सकता है?"[1] यहां राम के मन में भरत के प्रति संदेह एक सहज मानव के मनोभाव की झलक है। यहां राम को संदेहग्रस्त होने से दोषी न मान लेना चाहिए। ऐसे भाव मनुष्य के मन में आ जाते हैं।

सत्य के भेद जानने वाले कम हैं

दिल का महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गर्जी।
कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्यों कर सीवै दर्जी॥ 331॥

शब्दार्थ—महरमि=महरम, भेद जानने वाला। गर्जी=स्वार्थी। असमानहिं=आकाश, तात्पर्य में अंतःकरण, दिल। दर्जी=कपड़े सीने वाला, तात्पर्य में विवेकवान गुरु या संत।

भावार्थ—हृदय की बातें समझने वाला कोई नहीं मिलता, जो मिलते हैं उनमें प्रायः सांसारिक वस्तुओं के स्वार्थी ही मिलते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि यदि आकाश फट जाये तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! इसी प्रकार सासांरिक कामनाओं में डूबे हुए मन वालों को स्वरूपज्ञान कैसे दिया जा सकता है!॥ 331॥

व्याख्या—दुनिया के सभी महापुरुषों के मन में यह टीस रही है कि उनको ऐसे लोग बहुत कम मिले हैं कि उनके हृदय की बातों को वे गहराई से समझें। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन्मुक्त पुरुष इन बातों को लेकर दुखी होते

---

41. एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
श्रेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः॥ (वाल्मीकीय रामायण, 6/125/14-15-16)

रहे। जो सुख-दुख द्वन्द्वों से छूट जाता है वही जीवन्मुक्त है। परन्तु ऐसे उच्चतम पुरुष भी अपना अनुभव तो कहते ही हैं।

"दिल का महरमि कोइ न मिलिया" बड़ा मार्मिक वचन है। कबीर-जैसे पैने विचारों के दिल के भेद जानने वाले कम होंगे ही। "कोइ न मिलिया" एक मुहावरा-जैसा है। इसका शाब्दिक नहीं, लाक्षणिक अर्थ होना चाहिए। अर्थात कम मिले। कोई-कोई तो मिला ही, तभी उनके विचार आज तक फैलते गये। वैसे मिलने वालों की भीड़ तो कबीर साहेब को शुरू से ही मिलती गयी। वह भीड़ उनके प्रति श्रद्धालु थी। ईसा की सोलहवीं शताब्दी से आज तक की निर्गुणधारा के संतों की वाणियां पढ़ डालिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सब में कबीर तथा कबीर-विचारों की प्रशंसा भरी पड़ी है। कबीर की मानवतावादी एवं सार्वभौमिक बहुत-सी बातें हैं जो एकदम खुली हैं, उनको सभी उदार लोग समझ सकते हैं। परन्तु कबीर के हृदय में पूर्ण ज्ञान-धन को समझना बहुत बड़ी बात है। खुली बातें भी समझना सबके लिए कठिन ही है। सभी मानव मूलतः समान हैं, इस नग्न सत्य को कितने लोग समझते हैं! आज पर्यन्त ईश्वर मनुष्य की एक अवधारणा एवं कल्पना ही है, फिर उसके पुत्र, पैगम्बर तथा अवतार की बात एक धार्मिक छल-कपट है। अमुक पुस्तक ईश्वर-वाणी है तथा अमुक मजहब ईश्वर का चलाया है, अमुक मजहब, समाज, पंथ, संप्रदाय ईश्वरीय-राह तथा मोक्ष-द्वार है, यह सब चतुर मनुष्यों की वंचना ही है। परन्तु इन बातों को इस तरह कितने लोग समझते हैं! मनुष्य का परम प्राप्तव्य, विश्राम-स्थल, आश्रय एवं निधान उसकी अपनी चेतना ही है, उसका अपना आपा एवं चेतनस्वरूप ही है, परन्तु इसका बोध कितने लोगों को है! सारी वासनाओं को सर्वथा छोड़ देने पर ही निजस्वरूप की स्थिति होती है, इस परम सत्य को कितने लोग समझते हैं और जो समझते हैं, उनमें कितने लोग उसका आचरण करते हैं, ये सारी बातें कबीर साहेब के या किसी भी निष्पक्ष विवेकी पुरुष के दिल की हैं, परन्तु इनके समझने वाले बहुत कम हैं। अतएव "दिल का महरमि कोई न मिलिया" इस मुहावरे-जैसे वचन में सद्गुरु कहना चाहते हैं कि सत्य के पथिक बहुत थोड़े होते हैं।

"जो मिलिया सो गर्जी" नित्य के अनुभव की बात है। लोग संसार के प्राणी, पदार्थ, पद, प्रतिष्ठादि पाने की लालसा में डूबे हैं। जो महात्मा नामधारी जनता को पुत्र, धन, विजय, नीरोग्यता आदि देने का झांसा देते हैं उनके पास संसार की भीड़ इकट्ठी हो जाती है। तथाकथित भगवान एवं महापुरुषों के अवतार बनने वाले, चमत्कार—जो केवल छल-कपट है—दिखाने वाले लोगों के पास धन-जन दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। स्वार्थी गुरुओं एवं स्वार्थी अनुगामियों की संसार में भीड़ लगी है। भक्ति-भाव जो सत्य के लिए हृदय का समर्पण है,

उसे न समझकर भौतिक स्वार्थ की भावुकता में बहना मान लिया गया है। कबीर देव का पद प्रसिद्ध है—ऐसी है दिवानी दुनिया, भक्ति-भाव नहिं बूझे जी।

"कहहिं कबीर असमानहिं फाटा, क्योंकर सीवै दर्जी" यदि आसमान फट जाये तो दर्जी उसे कैसे सी पायेगा! आसमान तो कोई वस्तु नहीं जो फट सके। यहां आसमान से अर्थ हृदय है। मनुष्य का हृदय फटा है। वह सत्य से दूर है और क्षणभंगुर भोगों तथा मिथ्या अहंकारों में लीन है। अतएव संसार के अहंकार तथा कामना में डूबे हुए मनुष्यों के मन को विवेकवान कैसे समझायें! जिसका दिल टुकड़े-टुकड़े है, जिसका मन अनेक शाखाओं में बंटा है एवं जिसका चित्त बिखरा-बिखरा है उसको समझा पाना बड़ा कठिन काम है। यह अमर वाक्य है कि गुरु उन्हीं शिष्यों पर शासन कर सकता है जो मन को जीत लिये हैं। मन के अधीन हुए संसार की कामनाओं में नाचने वाले लोगों पर गुरु अपना शासन नहीं चला सकता।

यह बात अन्य क्षेत्रों के लिए भी है। यदि अनुगामी, साथी, परिवार एवं पार्टी के लोग सुयोग्य नेता एवं अगुआ के हृदय की बातें समझते हैं और स्वयं में संयत हैं, तो उन पर ही अगुआ या नेता शासन कर सकता है, उन्हें चला सकता है।

सद्गुरु उन्हीं को अपने हृदय के सत्य को समझा सकता तथा उन्हीं को अपने शासन में चला सकता है जो उसके हृदय के विचारों को समझते हैं और समझकर तद्नुसार आचरण करते हैं। जो समझता नहीं तथा समझकर भी आचरण में चलता नहीं, उस पर गुरु का कोई वश नहीं।

राग-द्वेष की दावाग्नि

ई जग जरते देखिया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि॥ 332॥

शब्दार्थ—लागि=लगाव, प्रेम, सहारा।

भावार्थ—देखा गया है कि संसार के सभी मनुष्य अपने-अपने राग-द्वेष की आग में जल रहे हैं। ऐसा कोई नहीं मिलता जो शीतल हो और जिसका सहारा लेकर शीतलता प्राप्त की जा सके॥ 332॥

व्याख्या—कबीर देव की पंक्ति-पंक्ति में संसार का परम सत्य समाया हुआ है। विचारिए, उक्त साखी में कितना मार्मिक भाव भरा हुआ है! संसार के सभी लोग जल रहे हैं। किसमें जल रहे हैं? अपनी-अपनी आग में। भौतिक आग अपनी या परायी नहीं होती। परन्तु जिस आग में संसार के लोग जल रहे

हैं वह भौतिक आग नहीं है। भौतिक आग जहां जलती है उसे सब देखते हैं। चूल्हे में, धूनी में, भट्ठे में, आंवा में, कहीं भी भौतिक आग जलती होगी उसे सब देखते हैं। वह अपनी-परायी नहीं होती। वह तो सार्वभौमिक होती है। परन्तु जिस आग में संसार के सारे लोग जलते हैं, वह सार्वभौमिक आग नहीं है। वह सबकी अपनी-अपनी है। ईर्ष्या, घृणा, मोह, काम, क्रोध, लोभ, शोक, चिन्ता, विकलता और इनको संक्षिप्त करके कहें तो राग-द्वेष। यही तो वह आग है जिसे हर मनुष्य निजी-निजी बनाता है। एक घर में आग लगी हो, तो उस घर के सारे लोगों का सामान एक साथ जलता है, परन्तु उस घर के सभी सदस्यों के मन में लगी हुई राग-द्वेष की आग अपनी-अपनी अलग-अलग है। जिसके मन में जितनी मात्रा में आग है उसका चित्त उतनी मात्रा में जलता है।

मनुष्य अविवेक से अपने मन में राग-द्वेष की आग बनाता है और जीवनभर उसी में जलता है। जिस संसार के प्राणी-पदार्थों से अंततः न कुछ लेना है न देना, उन्हीं में हम राग-द्वेष की आग तैयार कर लेते हैं, और उसी में स्वयं जलते रहना तथा दूसरों को जलाते रहना अपना बहुत बड़ा काम समझते हैं। घरेलू झगड़ों से लेकर विश्व के बड़े-बड़े युद्ध एवं भारत के रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के नरसंहारक महान युद्ध मनुष्य के मन के राग-द्वेष रूपी जलती आग के फल होते हैं।

कहीं आग लगी हो, हम उसमें पड़ जायें, तो जलने लगेंगे, परन्तु यदि वहां से भाग निकलें, तो तत्काल उससे बच जायेंगे। लेकिन यदि मेरी अपनी आग है जो मेरे साथ है, तो उससे भागकर नहीं बच सकते। यह मेरे मन की राग-द्वेषात्मक आग तो मेरी अपनी है। इससे भागकर बचने का कोई चारा ही नहीं है। इससे बचने का चारा है इसे बुझा देना। परन्तु संसार में थोड़े लोग हैं जो अपने मन के राग-द्वेष की आग को बुझा देते हैं। अधिकतम लोग तो रात-दिन इस आग को उद्‌गारते जाते हैं। लोगों के मन में भोग-कामनाओं की आग जलती है और भोग-कामनाओं के बाद ही राग-द्वेष का जन्म होता है, फिर उसके बाद तो केवल उसमें जलना है। बाहर की दावाग्नि की कोई सीमा है, परन्तु मन के राग-द्वेष की आग की कोई सीमा नहीं है। उसके निर्मित होने पर तो उसमें तब तक केवल जलना है, जब तक उसे बुझा न दिया जाये।

राग-द्वेष की अपनी-अपनी आग में संसारी जल रहे हैं, तो वेषधारी भी जल रहे हैं। अधार्मिक जल रहे हैं तो धर्म के दिखावे में लिपटे हुए लोग भी जल रहे हैं। साधारण लोग जल रहे हैं तो बड़े-बड़े पूज्य, प्रतिष्ठित एवं स्वामी लोग भी जल रहे हैं। जिज्ञासु एवं मुमुक्षु संसार से भागकर परमार्थ-मार्ग में जाता है कि वहां उसकी आग बुझ जायेगी, परन्तु कई जगहें ऐसी मिलती हैं कि संसार से भी वहां अधिक राग-द्वेष की आग है। ऐसी स्थिति में साधक को भ्रम हो जाता है

कि मानो कहीं छुटकारा की जगह है ही नहीं।

"ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि" इस पंक्ति में मोटे तौर पर यही प्रकट होता है कि शीतलता का आधार संसार में कहीं नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहां का कथन संसार में राग-द्वेष की अधिकता का द्योतक है। संसार के अधिकतम लोगों की यही दशा है। यदि शीतलता का आधार ही नहीं होता तो साधकों के लिए शंबल ही नहीं होता। प्रत्यक्ष है लेकर राग-द्वेष की आग बुझायी जा सकती है। कबीर देव ने साधकों को एवं समस्त कल्याण-इच्छुकों को आदेश दिया है—"जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहाँ उठि मिलहु कबीरा।"[1] "संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।"[2] आपने साखीग्रन्थ में कहा है—"साधु बिरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार। जग महँ होते साधु नहिं, जरि मरता संसार॥ "

हर मनुष्य की अपनी-अपनी आग उसके द्वारा बनाये गये राग-द्वेष हैं। हर आदमी अपनी-अपनी आग में जल रहा है। राग-द्वेष हीन संतों की शरण में लगकर और उनकी उपासना एवं प्रेरणा से जगकर मनुष्य अपने हृदय के राग-द्वेष की आग को बुझा सकता है और इसी जीवन में परम शीतल हो सकता है। सद्गुरु ने कहा है—"अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा।"[3]

मानवीय बुद्धि के बिना मानव-तन व्यर्थ है

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल।
कहा लाल ले कीजिये, बिना बास का फूल॥ 333॥

शब्दार्थ—बेतूल=तुलना-रहित, हलका। बास=गंध, सुगंध।

भावार्थ—कुल, रूप, सौन्दर्य, जवानी, विद्या, पद, शृंगार सभी अंगों से बना-ठना मनुष्य अच्छी समझ एवं विवेक-बुद्धि के बिना मानवीय लक्षणों से दूर है। फूल लाल-लाल एवं बड़े-बड़े हों, परन्तु उनमें सुगंध न हो तो उन्हें लेकर क्या होगा!॥ 333॥

व्याख्या—मनुष्य का असली व्यक्तित्व बाहर नहीं, भीतर है। अच्छी समझ, विवेकबुद्धि, शील, संयम, सदाचार आदि मानसिक गुण हैं। इन्हीं से आन्तरिक व्यक्तित्व गठित होता है। व्यक्ति में यदि ये मानसिक गुण न हों तो उसका बाहरी तामझाम निरर्थक है। आदमी को पहला अहंकार होता है कुल का। मैंने इतने बड़े कुल में जन्म लिया है, इसका दिखावा प्रायः किया जाता है।

---

42. बीजक, शब्द 29।
43. बीजक, साखी 207।
44. बीजक, साखी 322।

इसके विपरीत समाज में कुछ लोगों के मन में यह भाव भी बैठा दिया है कि तुम नीच कुल के हो। अतः वे चाहे जितने सद्‌गुणसंपन्न हों, किन्तु उनके मन में ऐसी हीन-भावना बनी रहती है कि हम नीच हैं। दूसरे लोग भी उन पर यही दृष्टि रखते हैं और वे स्वयं भी अपने आप के लिए यही धारणा रखते हैं। यह मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्‌गुरु कहते हैं कि तथाकथित उच्चकुल में जन्मा हो, देह सुगठित एवं रूप-सौन्दर्यसंपन्न हो, जवानी की मस्ती हो, अनेकानेक भाषाओं एवं लिपियों का ज्ञान हो, अनेक विषयों के ज्ञान से संपन्न हो, ऊंचे पदों पर आसीन हो, अर्थात बाहरी सारी संपन्नता हो, परन्तु समझ अच्छी न हो, विवेकवती बुद्धि न हो, न वह मनुष्यों से अच्छा व्यवहार कर पाता हो और न उसके अपने जीवन में संयम हो, तो वह बना-ठना मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं है। क्या आपने सेमल के फूल नहीं देखे हैं! वे बड़े-बड़े तथा लाल-लाल होते हैं परन्तु उनमें सुगंधी का नाम भी नहीं होता, तो ऐसे फूल किस काम के! इसी प्रकार भक्ति, विनम्रता, शील, संयम, समझ आदि के बिना बना-ठना मनुष्य किस काम का! वह तो केवल आकृति में मनुष्य है, प्रकृति में मनुष्य नहीं है।

मनुष्य की महानता उसके रूप, सौन्दर्य, विद्या, पद आदि में नहीं, उसके सुन्दर मन में है। इतिहास साक्षी है कि संसार के अनेक महापुरुष न तो लौकिक दृष्टि से विद्वान थे, न धनवान, न तथाकथित उच्चकुल में जन्मे थे और न देखने में सुन्दर; परन्तु उनके चरणों में सारी दुनिया झुकती रही, और आज भी वह उनकी याद कर सत्प्रेरणा का शंबल पाती है। यह सबका अनुभवसिद्ध ज्ञान है कि विद्या-रूपादि से संपन्न होने पर भी अच्छी समझ तथा मानवीय गुणों के बिना आदमी लोगों को प्यारा नहीं होता; परन्तु विवेकशील तथा विनयी व्यक्ति देह से कुरूप एवं विद्याहीन होकर भी सबको प्यारा होता है। विनयशील व्यक्ति सदैव सुन्दर दिखता है, यह अनुभूत तथ्य है।

लम्बे-लम्बे हाथ, चौड़ी छाती, बड़ी-बड़ी आंखें, प्रशस्त मस्तक, सुन्दर मुख आदि में उत्तम व्यक्तित्व खोजना महा भ्रम है। मनुष्य का उत्तम व्यक्तित्व तो उसके सुलझे हुए मन में है। यह बात अलग है कि यदि मन बढ़िया है तो शारीरिक सुन्दरता भी शोभा देती है। परन्तु मन ठीक न हो तो तन की सुन्दरता दो कौड़ी की भी नहीं है। मनुष्य को आंतरिक तृप्ति, सुख, शांति एवं आनन्द देह की चमक-दमक से नहीं हो सकते। उसमें भूलकर तो अशांति ही होगी। उसे आंतरिक तृप्ति मिलेगी मन का विवेकसंपन्न एवं शीलयुक्त होने से। जब मन ज्ञान से भरा हो, संयत एवं स्थिर हो, तभी जीवन का लक्ष्य परम शांति मिल सकती है। इसीलिए सद्‌गुरु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू बाहर बन-ठनकर क्या चलता है, भीतर को संवार! चाम के चेहरे को संवारने की अपेक्षा मन को

संवार, तभी तुम्हें परम शांति की प्राप्ति होगी, तभी तेरा जीवन कृतकृत्य होगा।

सत्य पालन सर्वोच्च तपस्या है

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥ 334॥

शब्दार्थ—आप=स्वतः, स्वयं, अपने आप।

भावार्थ—सत्य पालन के समान तपस्या नहीं है और झूठ के समान पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा है, उसके हृदय में व्यक्ति का स्वराज्य है॥ 334॥

व्याख्या—लम्बा-लम्बा उपवास, पंचाग्नितापन, जलशयन, ऊर्ध्वबाहु रहना, मौनव्रत, नंगा रहना, वन में कठिनाई का जीवन बिताना, इसी प्रकार अन्य अनेक तपस्याएं हैं, परन्तु सत्य के पालन के समान दूसरी तपस्या नहीं है। तथागत बुद्ध तथा महावीर ने सत्य का पालन किया। वे विरोधियों द्वारा विचलित न होकर अपने मार्ग में दृढ़ रहे। उसका फल संसार के लिए अमोघ हुआ। यूनान देशीय एथेंस नगरी के महात्मा सुकरात को वहां की तात्कालिक राज-सत्ता तथा पुरोहित-समुदाय ने नाना प्रलोभन दिये, जब वे नहीं माने और अपने निर्धारित सत्य का प्रचार करते रहे, तब उन्होंने उन्हें जेल में डाला और अन्त में विष का प्याला पीने का दण्ड दिया। इतने पर भी सुकरात अपने सत्य-पथ से विचलित न हुए और निर्धारित तिथि को जल्लाद द्वारा विष का प्याला पाकर उसे हंसते-हंसते पी गये और मरते तक उपस्थित शिष्यों को आत्मा की अमरता का उपदेश करते रहे। तात्कालिक अंधरूढ़ि का विरोध करने से महात्मा ईसा को भी वहां की राजसत्ता तथा पुरोहितसत्ता का कोपभाजन बनना पड़ा। ईसा को क्रास पर चढ़ाकर उन्हें प्राणदंड दिया गया, परन्तु न वे विचलित हुए और न उन्होंने अपने हत्यारों को बुरा कहा। उन्होंने मरते दम क्रास पर लटके-लटके कहा था—"हे प्रभु इन्हें क्षमा करना। ये नहीं समझते कि हम क्या कर रहे हैं।"

स्वयं ग्रन्थकार कबीर साहेब के सत्य-पालन की दृढ़ता जगत-प्रसिद्ध है। बादशाह सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर साहेब की बावन कसनियां बतायी जाती हैं जो एक-से-एक दारुण है। निश्चित है उनमें जितने अंश चमत्कार के हैं, वे काल्पनिक हैं। परन्तु उन सबसे इतना तो पता चलता ही है कि समसायिक राजसत्ता एवं पुरोहितसमाज ने कबीर साहेब को नाना तकलीफ देने का प्रयास किया था, परन्तु उनकी सत्य में अविचल दृढ़ता तथा जनसमाज का सहयोग उनके साथ होने से उनका कोई बाल बांका नहीं कर पाया। कबीर साहेब पुरोहितों की नगरी काशी में रहकर उन्हें ललकारते रहे, उनकी त्रुटियों पर उन्हें

खरी-खोटी सुनाते रहे और उनके द्वारा विरोध पाकर भी अविचलित बने रहे। यह उनका कितना अपार साहस था! सत्य-पालन की उनमें कितनी अपार क्षमता थी! सत्य-पालन में उन्होंने कितना कठोर तप किया, यह सोचते ही बनता है!

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दूसमाज के कूड़े-कचड़े को बुहारने में कितना अपार साहस दिखाया, यह जगत-प्रतिद्ध है। उनके क्रांतिकारी विचारों के कारण उनको कई बार जहर दिया गया तथा उन पर प्राणघातक हमले किये गये, परन्तु वे अपने सत्य विचार में दृढ़ रहे। अंततः उनको विष दिया गया। मीराबाई को भी विष का प्याला दिया गया। उन पर कई प्राणघातक प्रयोग किये गये, परन्तु उन्होंने अपने निर्धारित-पथ का परित्याग नहीं किया। ध्रुव और प्रह्लाद की कहानियां चाहे पूरी ही काल्पनिक हों,परन्तु सत्य-पथ पर चलने वालों के लिए उनमें प्राणवान शिक्षाएं मिलती ही हैं। श्री राम का पिता के वचन रखने के लिए चौदह वर्ष घोर तपस्वी जीवन बिताना और उसमें सीता, लक्ष्मण, भरत आदि का हाथ बंटाना अपने आप में उत्तम आदर्श है। श्री कृष्ण[1] का वनवासियों तथा पशुओं की भी रक्षा में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों और इन्द्र से भी लोहा लेना अपने आप में अत्यन्त रोचक तथा बहुत बड़ी तपस्या की बात है। महात्मा गांधी ने सत्य के पालन में अपनी जान खो दी परन्तु सत्य से विचलित न हुए। सिक्ख गुरुओं की कुर्बानियां जगत-प्रसिद्ध हैं। गुरुगोविन्द सिंह के दो बच्चे मुसलिम राजा द्वारा दीवार में चुनवा दिये गये, परन्तु उन्होंने उनके मुसलिम बनने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। गैलेलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों को अपने सत्य सिद्धान्त के लिए धर्म के ठेकेदारों का कोपभाजन होना पड़ा, परन्तु वे सत्य से न डिगे।

सत्यभावना, सत्यसिद्धान्त, सत्यवचन तथा सत्याचरण पालन करने में चाहे जितनी कठिनाइयां पड़ें, उन्हें सहर्ष सहना ही तपस्या है। भय और प्रलोभन में पड़कर जो सत्य को छोड़ देता है वह कहीं का भी नहीं रह जाता। अनेक लोगों को देखा जाता है कि उन्हें लम्बी बीमारियों में घोरातिघोर कष्ट उठाना पड़ता है, फिर यदि सत्य के लिए कष्ट उठाना पड़े तो क्या हर्ज है! मौत सभी देहधारियों की निश्चित है और यदि सत्य के पालन में ही मौत हो तो यह कितना ऊंचा काम है! सत्य के समान न संसार के माने गये सुख हैं, न पद-प्रतिष्ठा है और न अन्य कुछ। यदि सत्य छोड़ देना पड़े तो शरीर भी रखकर किस काम का! अतएव सचाई में रहना ही सबसे बड़ी तपस्या है। सत्यपरायण व्यक्ति बाहर से भले ही अकिंचन दिखे, परन्तु भीतर से वही संपन्न होता है। सत्यपरायण व्यक्ति जीवन में सच्चा सुख पाता है। जो व्यक्ति सत्य में रहता है वह कोई पाप नहीं कर

---

45. श्री कृष्ण का यह स्वरूप ऋग्वेद मंडल 8, सूक्त 85, मन्त्र 13-16 में द्रष्टव्य है। जहां खिलभाग (परिशिष्ट) है वहां यह 96वां सूक्त पड़ता है।

सकता, फिर उसके समान तपस्वी और सफल-जीवन कौन होगा!

"झूठ बराबर पाप" झूठ के बराबर पाप नहीं होता। जो झूठ बोलता है वह कौन-सा पाप नहीं कर सकता! जो व्यक्ति जितना ही झूठ का आश्रय लेता है वह उतना ही परमार्थ से तो दूर हो ही जाता है, उसका व्यवहार भी थोड़े दिनों में भ्रष्ट हो जाता है। झूठा आदमी सबका अविश्वासपात्र हो जाता है। झुठाई के बल पर कोई तत्काल धन-मकान को चमका सकता है, परन्तु वह भीतर से मलिन हो जाता है और उसकी बाहरी चमक-दमक भी थोड़े दिनों में बुझ जाती है। झुठाई के रास्ते पर चलने का मतलब है दूसरों को पीड़ा देना, और दूसरों को पीड़ा देखकर कोई स्वयं पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता।

"जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप।" यह बड़ी वजनदार बात है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में अपने आप की प्रतिष्ठा है। शिष्य ने पूछा कि सत्य क्या है? गुरु ने कहा कि व्यक्ति अपने आप ही परम सत्य है। व्यक्ति का बाहरी खोल तो असत्य है, अर्थात शरीर नाशवान है, परन्तु शरीर के भीतर विद्यमान चेतन परम सत्य है। जो सत्य को खोजता है वह चेतन जीव ही परम सत्य है। जो व्यक्ति अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान पा गया है और जीवन के सारे व्यवहार सत्यमय बरत रहा है वह अपने आप कृतकृत्य होता है। अपने स्वरूप का अज्ञान तथा असत्य में मोह होने से ही सारे दुख थे। जब निजस्वरूप का बोध हो गया और असत्य मायाजाल से मोह टूट गया तब जीव अपने सत्य स्वरूप चेतन में प्रतिष्ठित हो गया। यही जीवन की सर्वोच्च दशा है। यही "जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप" का भाव है। जब जीव असत्य से सर्वथा हट गया, तब स्वयं सत्यस्वरूप रह गया।

बड़ा वही है जिसकी बड़ी बुद्धि एवं बड़े संस्कार हैं

कारे बड़े कुल ऊपजै, जोरे बड़ी बुधि नाहिं।
जैसा फूल उजारिका, मिथ्या लगि झरि जाहिं॥ 335॥

शब्दार्थ—कुल=वंश, घराना गोत्र, एक जाति वालों का समुदाय। उजारि=जाड़, वीरान, जनशून्य, जंगल।

भावार्थ—यदि बड़ी बुद्धि नहीं है तो बड़ी जाति में पैदा होने से क्या हुआ! जैसे जनशून्य जंगल में फूल खिले और व्यर्थ में झड़ गये, वैसे उत्तम मानव-जाति में जन्म लिया, परन्तु आत्मकल्याण और जनकल्याण का कोई भी का किये बिना संसार से चला गया, तो उसका जन्म व्यर्थ गया॥ 335॥

व्याख्या—यह भाषा की विचित्रता है कि तुर्की भाषा में 'कुली' मजदूर को कहते हैं और संस्कृत में कुली या कुलीन उच्च वंश में पैदा हुए लोगों को कहते हैं। सद्गुरु कबीर यहां 'कुल' के साथ 'बड़े' विशेषण लगाते हैं। बड़ा कुल एवं

उच्च कुल मानव-कुल है। पूरे मानव का एक ही कुल एवं वंश है जो संसार में सर्वोच्च है। मानव के समान संसार में कोई जाति नहीं है। परन्तु ऐसे उत्तम मानव-कुल में जन्म लेकर जीव ने क्या कमाया जबकि उसकी बुद्धि मानवीय गुणों से सम्पन्न एवं विवेकवती नहीं है! बड़े कुल में जन्म लेने की शोभा तब है जब उसमें बड़ी बुद्धि हो।

बड़ी बुद्धि का अर्थ है विचार एवं विवेक-प्रधान बुद्धि का होना। जिसमें बड़ी बुद्धि होती है वह अपने आप को बड़ा तथा दूसरे को छोटा नहीं मानता, किन्तु वह दूसरे सब का आदर करता है और स्वयं विनम्र रहता है। बड़ी बुद्धि वाला वह है जो अपने आप के प्रति संयमशील है और दूसरों की यथाशक्ति सेवा करता है। विनयभाव तथा पर-सेवा बड़ी बुद्धि का मुख्य लक्षण है। यह जिसके पास नहीं है वह निर्जन स्थल में खिले हुए फूलों के समान है जिनका उपयोग किसी के लिए नहीं हुआ।

बड़ा कुल उसे भी माना जाता है जिस मानव जाति के परिवार में उत्तम शिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार का बाहुल्य है; और जिस परिवार में इन अच्छे गुणों का अभाव है, उसे निम्न कुल माना जाता है। परन्तु इस मान्यता में आगे चलकर मिथ्या अवधारणा घर बना लेती है। जो उत्तम संस्कारों से अधिक सम्पन्न थे उत्तम कुल वाले कहलाने लगे। आगे चलकर उनमें भ्रष्ट लोग होने लगे, परन्तु वे भी अपने आप को उत्तम कुल का होने का अहंकार करते हैं। दूसरी तरफ जिन परिवारों में उच्च संस्कार नहीं हैं उन्हें निम्न कुल का कहा जाता है। परन्तु आगे चलकर उनमें शिक्षा, अच्छे संस्कार तथा सदाचार आ जाने पर भी उन्हें दूसरे लोग नीच कुल का ही मानते हैं। यह घोर अपराध संसार के प्रायः हर क्षेत्र तथा महजब वालों में है, और इसका अधिक ज्वलंत रूप भारतवर्ष के हिन्दू समाज में है। कभी पुराकाल में ब्राह्मण नामधारियों का एक छोटा परिवार था और वह बहुधा शिक्षित, अच्छे संस्कारसंपन्न और सदाचारी था। इसलिए वह उच्च कुल कहलाने लगा। आज उनका परिवार बहुत बड़ा है। उच्च शिक्षा, अच्छे संस्कार एवं सदाचार कुछ लोगों में ही हैं, शेष की दशा इतनी गिर गयी है कि उसका वर्णन करना बेकार है। फिर भी वे अपने आप को उच्च कुल का मानकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं। दूसरी तरफ जिसे समाज निम्न एवं शूद्र कुल कहता है उसमें अनेक उच्च शिक्षा प्राप्त, अच्छे संस्कारयुत, भक्त एवं सदाचारी हैं, परन्तु उन्हें आज भी समाज नीच कुल का मानता है। यह धारणा मानवता के प्रति घोर अपराध है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि उच्च कुल का कहलाने से कोई उच्च नहीं हो सकता। वस्तुतः जिसकी उच्च बुद्धि है, उच्च आचार एवं उच्च संस्कार हैं वही उच्च है। विनयी ही श्रेष्ठ है। अपने को सबसे बड़ा मानने वाला तुच्छ है।

कल्पक सत्य है, कल्पना असत्य

कर्ते किया न बिधि किया, रवि ससि परी न दृष्टि।
तीन लोक में है नहीं, जाने सकलो सृष्टि॥ 336॥

शब्दार्थ—कर्ते=कर्ता, बनाने वाला। बिधि= संयोग। तीन लोक=ऊपर-नीचे-मध्य, समस्त संसार, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन।

भावार्थ—बताओ, वह क्या है जिसे न तो किसी कर्ता ने बनाया है, न संयोग से ही बन गया है, न उसे सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में देखा जा सकता है और न तो वह संसार में कहीं है, फिर भी उसे सारा संसार जानता एवं मानता है? वह है आत्मसत्ता से भिन्न ईश्वर एवं दैवी-कल्पना॥ 336॥

व्याख्या—मनुष्य की अपनी आत्मा ही ईश्वर है, देव है, सर्वोच्च सत्ता एवं परमतत्त्व है। परन्तु इसे न समझकर मनुष्य ने अपने से भिन्न किसी ऐसे ईश्वर एवं देव की कल्पना कर रखी है जिसके विषय में धारणा है कि वह सर्वशक्तिमान है, सब जगह है और सर्वज्ञ है। इसके साथ-साथ वह न्यायी, दयालु एवं आनन्दस्वरूप भी है। इन सबकी कल्पना इसलिए होती है कि मनुष्यों को इन सब बातों की आवश्यकता है। कोई ऐसा चेतन होता जो सब जगह होता, सब कुछ जानता और सब कुछ कर सकता और इसके साथ-साथ न्यायी, दयालु तथा आनन्दस्वरूप भी होता, तो ऐसा बादशाह पाकर हम जीवों को कोई तकलीफ कभी होती ही नहीं। वह सब जगह तथा सर्वज्ञ होने से सबकी बातें सब समय जानता और सब कुछ करने की शक्ति रखने से वह सबको सदैव अच्छे पथ पर चलने के लिए सावधान करता रहता। यदि कोई न मानता तो मां जैसे बच्चे को चपत लगाकर उसे रास्ते पर लाती है, वैसे वह मनुष्यों को बलपूर्वक असत-मार्ग से हटाकर सत-मार्ग पर ले आता। वह अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से संसार को बचाकर मानव एवं प्राणियों को विनाशलीला से उबार लेता। वह न्यायी होने के साथ-साथ हम पर दयालु भी होता और आनन्द स्वरूप होने से उसके आनन्द से हम सदैव आनन्दित रहते इत्यादि।

ईश्वर की यह अत्यन्त मनोरम कल्पना मानव की आवश्यकता है। दुर्भाग्य यह है कि ऐसा ईश्वर कहीं कोई नहीं है। राजसी-तामसी मनुष्यों की उद्दंडता, गरीबों तथा लाचार जीवों का रात-दिन पिसे जाना, बाढ़, सूखा, भूचाल, तूफान तथा अनेक प्राकृतिक उत्पातों से प्राणियों को घोर कष्ट होना, ईश्वर और धर्म के नाम पर उन्मादी संस्कार, यह देखकर साफ जाहिर हो जाता है कि जड़ प्रकृति तथा उसके अपने शाश्वत नियम और जीवों के स्वतन्त्र कर्मों का समुच्चय ही

संसार है। अतएव ईश्वर, ब्रह्म, खुदा, गॉड, देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि जहां तक मानवेतर शक्तियों की कल्पना की गयी है, सब मनुष्यों के मन की अवधारणा है। सब मिलाकर कहें तो अनुभविता तथा अनुभूत चेतन और जड़ से अलग प्रेरक शक्ति की कल्पना ही वह मन की वस्तु है जो कहीं नहीं है और आश्चर्य है कि उसे ही संसार के प्रायः सारे लोग सर्वेसर्वा मान बैठे हैं।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इसे किसी कर्ता ने नहीं बनाया है और न संयोग से ही बन गया है। प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य ने ही तो ईश्वर की कल्पना की है। तो कहा जा सकता है कि मनुष्य ही ईश्वर का कर्ता है, उसने ही ईश्वर को मन से गढ़ करके रखा है। यह तर्क बिलकुल सच है। ऐसा कहा भी जाता है। परन्तु यहां की कथन-शैली यह है कि ईश्वर कोई वस्तु न होने से उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता। मनुष्य मकान का कर्ता होता है, घड़ी, कपड़े एवं मशीन का कर्ता होता है। ये भले ही क्षणभंगुर हों, परन्तु इनकी कुछ दिनों के लिए सत्ता होती है। ईश्वर ऐसा कुछ भी नहीं है। अतएव ईश्वर केवल काल्पनिक होने से उसका कोई कर्ता नहीं और न उसका कोई संयोग से ही निर्माण हो गया है। वह कुछ न होने से उसे सूरज तथा चांद की रोशनी में देखना भी असंभव है। सद्गुरु कहते हैं कि वह संसार में कहीं नहीं है। न वह द्रष्टा है, न दृश्य है, और न दर्शन। द्रष्टा चेतन हैं, दृश्य जड़ और दर्शन दोनों का संबंध है। ईश्वर उनमें कुछ भी नहीं है। फिर भी संसार ईश्वर-ईश्वर पुकार रहा है। यह उसका भोलापन है।

मिट्टी, पानी, आग, हवा कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाईट्रोजन आदि शताधिक तत्त्वों के समाहार ठोस, तरल, वायव्य एवं अतिवायव्य कहें, ये जड़ तत्त्व हैं। इनमें अपने अनादि स्वयंभू तथा शाश्वत नियम हैं, इधर असंख्य जीवों के मन तथा कर्म हैं जिनसे संसार की व्यवस्था चल रही है। हमें संसार के नियमों का अध्ययन करके अपना ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे हमें यथासंभव कष्ट न हो। हम यह न कर नियामक की खोज में पड़ जाते हैं, कि यदि वह मिल जाये तो हम उसकी पूजा कर लें और वह हमें संसार के सारे नियमों के प्रतिबन्धों एवं फलों से मुक्त कर दें। परन्तु यह होने वाला नहीं है। बड़े-बड़े ईश्वर-भक्त भी अपने कर्मों के फलभोग पाते हैं। प्रसिद्ध ईश्वरभक्त गोस्वामी तुलसीदास अपने हाथ से दर्द से बुढ़ापे में बहुत पीड़ित रहे, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा गीताप्रेस के हनुमान प्रसाद पोद्दार गले के कैंसर का असह्य कष्ट भोगकर शरीर छोड़े।

पहले यह विचार लेना चाहिए कि हर नियम का नियामक नहीं हुआ करता। आग का नियम है जलाना। इसे उसमें किसी ने नियोजित नहीं किया है, किन्तु यह आग का शाश्वत स्वभाव है। आग अनादि है, उसका जलाना नियम

भी अनादि है। ऐसे समस्त जड़-चेतन अनादि हैं। उनके स्वभावसिद्ध नियम भी अनादि हैं। बनावटी नियम तो मनुष्य के होते हैं, जैसे उसने अपने नियम बना लिये कि हम सुबह चार बजे सोकर उठेंगे, पांच बजे तक नित्यक्रिया से निपट लेंगे, छह बजे तक अध्ययन तथा ध्यान करेंगे इत्यादि। किन्तु जड़-चेतन के स्वभावसिद्ध नियम किसी के बनाये नहीं होते। वे स्वयंभू तथा शाश्वत होते हैं। अतएव हमें जड़-दृश्य जगत तथा उससे भिन्न अपनी आत्मा के अलावा किसी नियामक की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जड़-चेतन और मन, देह एवं विश्व प्रकृति के नियमों को जानकर आचरण से चलना चाहिए जिससे हम स्वयं सुखी रहें और यथासंभव समाज को सुख दें। अपने ऊपर से ईश्वरीय कल्पना को हटाये बिना हमें अपने चेतनस्वरूप का न बोध होगा और न उसमें स्थिति। बाहरी ईश्वर का जंजाल काटने पर ही स्वरूप-राम में विश्राम होगा।

काल्पनिक स्वर्ग पाने की दुराशा

सुरहुर पेड़ अगाध फल, पन्छी मरिया झूर।
बहुत जतन कै खोजिया, फल मीठा पै दूर॥ 337॥

शब्दार्थ—सुरहुर=लम्बा तथा सीधा। अगाध=असीम, अपार। झूर=सूखा। जतन=यत्न, उपाय।

भावार्थ—कोई लम्बा-सीधा पेड़ हो, उसमें असीम मीठे फल लगे हों और उन्हें खाने के लिए पक्षी उनमें लगे हों, परन्तु वे फल न पाकर स्वयं सूख-सूखकर मर रहे हों! मानो ऐसा ही बहुत उच्च स्थान पर एक स्वर्ग है। उसमें अप्सरादि मीठे भोग तथा ईश्वर-साहचर्य के आनंद मिलने की कल्पना की जाती है। परन्तु उसके रसिक भक्त उसे पाते नहीं, प्रत्युत तपस्या में सूख-सूखकर मरते हैं। नाना मत के गुरुओं के भुलावे में पड़कर संसार के लोग उसे नाना उपाय करके खोजते हैं, वे कहते हैं कि स्वर्ग के फल तो मीठे हैं, परन्तु दुर्लभ हैं॥ 337॥

व्याख्या—संसार के प्रायः सभी मतों ने आकाश में स्वर्ग की कल्पना की है। लोग मानते है कि वहां के सारे भोग दिव्य हैं। नाना मत के पुरोहितों की रोचक और काल्पनिक बातें सुनकर संसार के लोग ललचाते हैं और उन्हें पाने के लिए तपस्या करते हैं। लोग तपस्या करके सूख-सूखकर मरते तो हैं, परन्तु स्वर्ग-सुख पाने से रहे, क्योंकि वह सब मन बहलाने का उपाय मात्र है।

सालोक्य (ईश्वर के लोक में बसना), सामीप्य (ईश्वर के निकट रहना), सारूप्य (ईश्वर के रूप वाला हो जाना), सायुज्य (ईश्वर में घुल-मिल जाना)—ये चार प्रकार की सगुण मुक्तियां मान रखी हैं, जो स्वर्ग की कल्पना

की तरह हैं।

कबीर साहेब विवेकसंमत बात ही मानने वाले पुरुष थे। उन्होंने उक्त साखी में स्वर्गवादियों की मिथ्या कल्पनाओं एवं दुराशाओं पर व्यंग्य किया है। उक्त पूरी साखी स्वर्गवादियों पर व्यंग्य है।

स्वर्ग और ईश्वर की खोज करने वाले भटके हैं

बैठा रहै सो बानिया, ठाढ़ रहै सो ग्वाल।
जागत रहै सो पहरुआ, तेहि धरि खायो काल॥ 338॥

शब्दार्थ—पहरुआ=पहरा देने वाला। काल=कल्पना, अज्ञान।

भावार्थ—उक्त स्वर्ग और ईश्वर को पाने के लिए जो लोग एक जगह बैठकर कथा-कीर्तन तथा नाम-जपादि करते हैं वे मानो दुकानदार बुनिया हैं, जो लोग ठाढ़ेश्वरी बने रहते तथा घूम-घूमकर तीर्थ करते हैं वे मानो गाय चराने वाले ग्वाले हैं और जो उनके लिए जागरण करते हैं वे मानो पहरेदार हैं, इन सबको मानो अज्ञान ने पकड़कर खा लिया है॥ 338॥

व्याख्या—कबीर साहेब व्यंग्य करने तथा चुटकी लेने में निपुण हैं। किसी ने कहा, कुछ लोग भगवान और स्वर्ग को पाने के लिए एक जगह ही बैठकर कथा, कीर्तन, जप, दान आदि करते हैं। साहेब कहते हैं कि वे बनिया की तरह हैं। बनिया भी एक ही जगह बैठकर दुकान करता है। वैसे भक्त लोग एक ही जगह बैठकर जप-कीर्तन आदि करके स्वर्ग में जाना तथा ईश्वर को पाना चाहते हैं।

साहेब कहते हैं कि स्वर्ग पाने तथा ईश्वर-दर्शन के लिए बारह-बारह वर्ष या जीवनभर खड़े रहने वाले तथा तीर्थों की यात्रा करने वाले सब गाय चराने वाले ग्वालों के समान हैं। ग्वाले सदैव डंडा लेकर गायों के पीछे दौड़ते रहते हैं, वैसे ये ईश्वर और स्वर्ग के विरही लोग सदैव तीर्थों का चक्कर लगाते रहते हैं।

अनेक लोग रात-रात जागकर देवपूजन या हठयोगादि साधते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये मानो पहरेदार हैं। पहरेदार भी तो रात-रात जागकर पहरा देता है। जो वस्तु है ही नहीं वह न बनियापन से मिलेगी, न ग्वालेपन से तथा न पहरेदारपन से। मनुष्य की आत्मा को छोड़कर उसे न कहीं कोई परमात्मा मिलने वाला है और न स्वरूपस्थिति छोड़कर कोई स्वर्ग। अतएव जो लोग स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति छोड़कर बाहरी स्वर्ग एवं ईश्वर पाने के चक्कर में भटकते हैं वे मानो कल्पना-काल के गाल में लीन हैं। आत्मदेव ही परमात्मा है तथा मन की विश्रांति ही स्वर्ग एवं मोक्ष है। इनसे बाहर भटकना अज्ञान का चक्कर है।

संसार-वृक्ष कट जाने पर फल देता है

आगे आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय॥ 339॥

शब्दार्थ—दौं=दावाग्नि, जंगल में लगी हुई प्रचंड अग्नि। हरियर=हरा-भरा। बलिहारी=निछावर होना, कुर्बान होना, प्रशंसा।

भावार्थ—जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लगी है और आगे-आगे सांसारिकता एवं भास-अध्यास का वन जलता जाता है, उनके पीछे मन का नन्दनवन हरा-भरा होता जाता है। इस संसार-वृक्ष की यही प्रशंसा है कि इसकी जड़ काटने से ही यह मोक्ष-फल देता है॥ 339॥

व्याख्या—महाकवि कबीर का समर्थ-कथन कितना मार्मिक, अनुभवपूर्ण एवं तलस्पर्शी है! 'दव' कहते हैं वन को। बांसों की रगड़ या किसी मनुष्य के आग लगा देने से जब वन में आग लगती है तब कभी-कभी वह बहुत व्यापक हो जाती है। वन में सर्वत्र घास-फूस, पत्ते तथा लकड़ियां होती हैं। अतः उन ईंधनों को पाकर आग सर्वत्र बढ़ती जाती है। इसे दावाग्नि कहते हैं। वैसे 'दव' मात्र को भी दावाग्नि कहा जाता है। जब दावाग्नि लगती है तब वन को जलाकर राख कर देती है। वहां तुरन्त उसके हरा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का नन्दनवन खिल जाता है।

हमारा मन एक विशाल वन है। हम इसी में तो रात-दिन भटकते हैं। वन में हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपते हैं। यदि वन जलकर राख हो जाये तो सब कुछ मैदान में बदल जाये और उसमें न हिंसक जन्तु रह सकें न चोर-डाकू। उसी प्रकार हमारे मन के वन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि हिंसक जन्तु तथा चोर-डाकू छिपे रहते हैं और हम मन की उलझन में सदैव उलझे रहते हैं। जिनके मन में ज्ञान की दावाग्नि लग जाती है उनके मन का वन जल जाता है। फिर न तो वहां काम-क्रोधादि रह सकते हैं और न जीव के भटकने का अवसर ही रह जाता है।

मन में हर क्षण वास्तविकता का बोध बने रहना ज्ञान की दावाग्नि का प्रज्वलित रहना है। शरीर विवेक-साधन-सम्पन्न होने से महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा भौतिक दृष्टि से यह एक हाड़-मांस का ढांचा है। जिसमें टट्टी, पेशाब, रक्त, मवाद आदि भरे हुए हैं, फिर यह प्रायः हर क्षण रोग-व्याधि से ग्रसित रहता है। यह क्षणभंगुर है ही। सारे भोग मन को अशांत करने वाले हैं। संसार की सारी ममता घोर अविवेक है; क्योंकि जीव के साथ अंततः न कुछ रहने वाला है और न कुछ जाने वाला है। जीव का परम निधान जीव का अपना स्वरूप एवं उसकी

अपनी आत्मा ही है। सब तरफ से लौटकर अपनी आत्मा में स्थित होना ही जीवन की सर्वोच्च गति है। इस तरह का भाव मन में सदैव बने रहना मानो मनरूपी वन में ज्ञान की दावाग्नि का जलते रहना है। जो जैसा है उसको उसी तरह समझते रहना ही सच्चा ज्ञान है और यह भाव मन में सदैव बने रहना ज्ञान की दावाग्नि है। ऐसी स्थिति में मन में कूड़े-कचड़े नहीं रह सकते। मन में कचड़े तो तभी आते हैं जब हम वास्तविकता को भूल जाते हैं। यथार्थ ज्ञान का निरन्तर बने रहना ही भजन है।

सद्गुरु कहते हैं—"आगे आगे दौं जरे, पाछे हरिहर होय।" व्यक्ति के आगे मन ही तो है। हर समय मन ही आगे रहता है। जिनके मन में ज्ञान की आग जलती है। उनकी दशा हरी-भरी हो जाती है, परम सुखमय एवं परमानंदमय हो जाती है। जो आगे-आगे होता है उसी का फल पीछे घटता है। जिसके मन में दिनभर खुराफात है, वह शाम को जब खाट पर अकेला होकर बैठेगा, तब उसके मन में अशांति का बोलबाला ही तो रहेगा! जो दिनभर अच्छे बरताव करेगा, वह जब शाम को बिस्तर पर अकेला होकर बैठेगा तब उसके मन में सुगंधी-ही-सुगंधी रहेगी। हम जो कुछ वर्तमान में करते हैं, पीछे वही होते हैं। अतएव सद्गुरु ने यह बड़े मनोविज्ञानपूर्वक कहा है कि जिसके आगे-आगे अर्थात मन में ज्ञान की दावाग्नि जलती रहती है उसके पीछे अर्थात फल में उसका नंदनवन हरा-भरा होता जाता है। वासनाहीन मन आनंद का सागर होता है। इसीलिए तो परम पारखी सद्गुरु रामरहस साहेब ने "आनंद सिंधु अहंतातीता" कहा है। अर्थात जो अहंकार से रहित है वह आनन्द का सागर है। मन की सांसारिकता के वन में ज्ञान की आग लगा देने पर मन का अध्यात्म-वन हरा-भरा होता है।

सद्गुरु कहते हैं—"बलिहारी तेहि वृक्ष की, जर काटे फल होय।" अर्थात उस पेड़ पर हम कुर्बान हैं जिसकी जड़ काट देने पर वह फल देता है। संसार की आसक्ति एक महान वृक्ष है। यदि इसे भोगों से सींचा जाये तो यह दुखों का कारण बनता है और यदि इसकी जड़ काट दी जाये तो यह मोक्ष-फल देता है। जब सांसारिकता एवं राग-द्वेष की जड़ कट जाती है, तब जीव को जीवन पाने का फल मिलता है, वह है भव-बन्धनों से छुटकारा। भारतीय परम्परा में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार फल माने गये हैं। फल तो काम और मोक्ष हैं, अर्थ और धर्म उनके क्रमशः साधन हैं। परन्तु अंततः काम भी जीवन का फल नहीं है। जीवन का फल तो केवल मोक्ष है। हम मोक्ष को परोक्ष के संदर्भ में देखते हैं कि बारम्बार के जन्म-मरण से छुटकारा हो जाना मोक्ष है, परन्तु यह तो जीवन्मुक्ति का फल है। प्रत्यक्ष अनुभवपूर्ण एवं बोधगम्य मोक्ष वह है जो इस जीवन में उपलब्ध होता है। उसे कहते हैं जीवन्मुक्ति! सद्गुरु ने कहा भी है—

"जियत न तरेउ मुये का तरिहो, जियतहि जो न तरे।"[1] यह मोक्ष मुक्त पुरुष का अनुभव है और मनोविज्ञान-संमत भी है। मनोविज्ञान कहता है कि मन की ग्रन्थियां कट जाने पर मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है और सन्त कहते हैं कि वासनाओं के ध्वंस हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है। दोनों का तात्पर्य एक है। जो व्यक्ति इस जीवन में परम शांति का उपभोग तथा जीवनांत में जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा चाहे वह संसार-वृक्ष की जड़ काट दे। संसार-वृक्ष है विषयासक्ति एवं राग-द्वेष। इसके कट जाने पर जीव परम सुखी हो जाता है। विशाल देव ने उसके लिए कहा है—

हानि लाभ सुख दुख नहीं, मिलन विछोह न चाह।
क्षुधा तृषा निद्रा नहीं, घट बढ़ पार सदाह॥

(भवयान, अपना बोध, साखी 141)

प्राणी हर समय मौत के मुख में है

जन्म मरण बालापना, चौथे वृद्ध अवस्था आय।
जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय॥ 340॥

शब्दार्थ—जम=यम, मृत्यु। घात=चोट, ताक, दांव-पेंच।

भावार्थ—जन्म-मरण के घेरे में पड़े हुए प्राणियों के बाल्य, कौमार्य, जवानी बीतते हुए चौथी वृद्धावस्था आ जाती है, अथवा प्राणी की मृत्यु होती है, पुनः जन्म होता है, फिर बाल्यावस्था आती है और चतुर्थ वृद्धापन आ धमकता है। जैसे चूहा को बिल्ली टकटकी लगाकर देखती है कि कब वह बिल से निकले और मैं उसे दबोच खाऊं, वैसे मौत प्राणधारियों पर दावं-पेंच लगाकर बैठी है और अवसर आते ही उसे दबोच खाती है॥ 340॥

व्याख्या—जीवन स्थिर वस्तु नहीं, वह एक प्रवाह है। यहां रुकने वाली कोई वस्तु नहीं है। देखो न, पन्द्रह से पचीस वर्ष के बीच की उम्र जिसे गदहपचीसी भी कहते हैं, तीस वर्ष की उम्र में कहां लौट सकती है! इस उम्र में जो शरीर में चमक रहती है वह तीस तक उड़ने लगती है। शिशुपन बालपन में नहीं रहता, बालपन कौमार्य में नहीं रहता, कौमार्य जवानी में नहीं रहता, जवानी परिपक्वावस्था में नहीं रहती, परिपक्वावस्था बुढ़ापा में नहीं रहती, बुढ़ापा जरजरता में नहीं रहता और पूरा जीवन मौत में नहीं रहता। शरीर में हर समय रासायनिक क्रिया होती रहती है और यह क्षण-क्षण बदलता चला जाता है।

यह बदलना बुरा नहीं है। हमारा शरीर जैसे बदलते हुए निरन्तर परिपक्वता एवं बुढ़ापा की ओर बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी निरन्तर परिपक्व एवं वृद्ध

---

46. बीजक, शब्द 14।

होना चाहिए। पके फल मीठे होते हैं, वैसे पकी उम्र अनुभव-सागर एवं पका मन शांति-सागर होता है। अतएव जैसे हमारा शरीर निरन्तर वृद्धता की तरफ बढ़ रहा है, वैसे हमारा मन भी अंधकार से प्रकाश की ओर निरन्तर बढ़ना चाहिए। जब तक जरजरता और मौत दूर है तब तक ही अपने कल्याण का साधन कर लेना चाहिए। यह कोई नहीं जानता कि शरीर कब रोगग्रस्त तथा मौत का कब आक्रमण हो जायेगा। इस संसार में हमारा एक तृण भी नहीं है। अतः हमें यहां के सारे अहंकार छोड़कर सब समय सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं—"जस मूसा को तकै बिलाई, अस जम जिव घात लगाय।" जहां-जहां चूहे के रहने की संभावना रहती है, वहां-वहां बिल्ली उसकी गंध से जान लेती है कि यहां चूहे का आवागमन या निवास है। बिल्ली प्रायः चूहे के बिल के पास शांतमुद्रा में दुबककर बैठती है और बिल पर योगी की तरह ध्यान रखती है और चूहे के निकलते ही उस पर झपट पड़ती है। हर देहधारी ऐसे ही मौत का अचानक ग्रास बनता है। प्रमादी आदमी माने रहता है कि दूसरे मर जायें तो मर जायें, परन्तु मैं अभी नहीं मर सकता; इससे अधिक असावधानी और कुछ नहीं हो सकती। मौत का तो कोई ठिकाना नहीं किसके पास कब आ धमके।

अतएव हमें हर समय अपने माने हुए शरीर को मौत के मुख में समझकर जगत-वासना का त्याग करना चाहिए। हमसे जितना बन सके दूसरों का उपकार करें और अपने आप को सबके राग-द्वेष से छुड़ाकर संसार के बंधनों से मुक्त हों।

सब प्राणी प्राण-प्रिय हैं

है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।
घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो॥ 341॥

शब्दार्थ—बिगरायल=बिगड़ैल, क्रोधी, हठी, कुमार्गगामी। ओर का=शुरू से, तात्पर्य में अनादिकाल से। घाव=चोट।

भावार्थ—मनुष्य वैसे ही अनादिकाल से क्रोधी, हठी एवं कुमार्गगामी हैं, तुम उनके साथ वैसा ही व्यवहार करके उन्हें उसी तरफ प्रेरित मत करो। किसको चोट पहुंचाओगे, जहां देखो वहां हमारा प्राणप्यारा है॥ 341॥

व्याख्या—सभी देहधारी जीव अनेक प्रकार की कामनाओं के अधीन हैं। सारी कामनाएं किसी की पूरी नहीं होतीं। अतएव कामनाओं में भंग पड़ने पर आदमी तुरन्त क्रोध के अधीन हो जाता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति में तथा अपने अहंकार के पोषण में मनुष्य हठ करता है। फिर इतना ही क्या, अहंकार-कामना के वश होकर आदमी सारे अनर्थ करता है। इस प्रकार सभी जीव

अनादिकाल से बिगड़ैल हैं। "है बिगरायल ओर का" ओर के अर्थ तरफ, दिशा, पक्ष, अथवा छोर, अंत, आरम्भ, आदि हैं। वैसे जब हम समास में 'ओर-छोर' कहते हैं तब उसके अर्थ क्रमशः 'आरम्भ-अंत' होता है। इसलिए 'ओर' का अर्थ यहां आरम्भ है। चूंकि सृष्टि का आरम्भ कहीं न होने से सब कुछ अनादि है। इसलिए यहां अर्थ किया गया प्राणी अनादिकाल से ही बिगड़ैल हैं। यहां अनादि और आरम्भ का झमेला न बढ़ाकर सरल अभिप्राय इतना ही है कि देहधारी पहले से ही बिगड़ैल हैं। इसलिए तुम उनके साथ बिगड़ैलपन का काम करके उन्हें अधिक बिगड़ैल मत बनाओ।

"है बिगरायल ओर का, बिगरो नाहिं बिगारो।" इस पंक्ति में गहरा मनोविज्ञान और करुणा है। विषयासक्ति के रोगवश सभी मनुष्यों का मन फोड़ा-सरीखा बना है। जैसे फोड़े में थोड़ा भी धक्का लगने पर वह दुख जाता है, वैसे मनुष्यों के मन में थोड़ी-सी भी चोट लगने पर वे दुखी हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि सब जीव दुखी हैं, अतएव तुम भी दुखी बनकर दूसरों को और दुख मत दो। जैसे धनी हुए बिना कोई दूसरों को धन नहीं दे सकता, विद्वान हुए बिना दूसरों को विद्या नहीं दे सकता, वैसे दुखी हुए बिना कोई दूसरों को दुख नहीं दे सकता। यदि तुम दूसरों को दुख देते हो तो तुम पहले से ही स्वयं दुखी हो।

चाहे अपने पास के रहने वाले हों और चाहे बाहर के मिलने वाले, किसी भी मनुष्य के संबंध होने पर हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि उन्हें हमारे द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न हो। अगले आदमी को कष्ट होने में देरी नहीं लगेगी। जहां हमसे कुछ असावधानी हुई वहां अन्य को कष्ट हुआ। यदि हमारा मन और व्यवहार ठीक है, कोई अपनी अल्पज्ञता एवं मनोमालिन्यतावश दुखी होता है, तो उसमें हमारा अपराध नहीं है। परन्तु हमें हर समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे मन, वाणी एवं कर्मों द्वारा किसी अन्य को कष्ट न हो। जो किसी-न-किसी मनोविकार को लेकर पहले से ही दुखी बने बैठे हैं, उनका तुम्हारी थोड़ी-सी चूक से दुखी हो जाना सहज है। कितने लोगों का ऐसा पक्का मन है चाहे जैसा उलटा-सीधा व्यवहार पाकर दुखी नहीं होते। हमें अपने आप को ऐसा बनाना चाहिए कि हम दूसरों से कटु-से-कटु व्यवहार पाकर भी दुखी न हों। परन्तु हमसे दूसरों को दुख न हो इससे आगाह रहें।

"घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो।" इस पंक्ति में करुणा की सीमा है और करुणा के प्रति अतिशयोक्ति भी। हमें अपने प्राण ज्यादा प्रिय होते हैं। एक बार एक राजा और उसके मंत्री में विवाद हो गया था कि पुत्र ज्यादा प्रिय है या प्राण! राजा कहता था कि पुत्र ज्यादा प्रिय है और मंत्री कहता था प्राण ज्यादा प्रिय है। मंत्री ने इसको प्रमाणित करने के लिए एक बड़े पिंजरे

में गर्म तवा पर एक बच्चे सहित बंदरिया को छुड़वा दिया। बंदरिया अपने बच्चे को पेट में चिपकाये हुए तवे पर भागती रही। परन्तु जब उससे न सहा गया तब उसने पेट से बच्चे को नोचकर तवे पर रख दिया और उस पर अपने पैर रखकर बैठ गयी। अतः सिद्ध हो गया कि प्राणी को सबसे ज्यादा अपने प्राण प्रिय हैं।

यहां कहा गया है—"जित देखो तित प्राण हमारो" अर्थात जितने लोग हैं सब हमारे प्राण-प्रिय हैं। यह सर्वसामान्य के लिए अतिशयोक्ति लगेगी, परन्तु यदि इसे अतिशयोक्ति ही माने तो भी ऐसा भाव रखना अति आवश्यक है। ऐसा भाव रखने से प्राणियों के प्रति अपने मन में करुणा की प्रगति होगी। यहां अथर्ववेद के एक मंत्र की याद आती है। अथर्वा ऋषि कहते हैं—"मैं उपदेश करता हूं कि तुम लोग उदार हृदय वाले, सुन्दर मन वाले और द्वेषरहित बनो तथा एक दूसरे से ऐसा व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से करती है।"[1] यहां भी अतिशयोक्ति है। जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है वैसा प्रेम लोग एक दूसरे से कहां कर पाते हैं! परन्तु ऋषि ऐसा इसलिए कहते हैं कि जिससे मनुष्य के मन में दूसरों से प्रेम करने पर जोर पड़े।

सद्गुरु कहते हैं, किसको चोट पहुंचाओगे, सारे जीव तो अपने प्राण प्रिय हैं! यह भावना जिसके मन में आ जाये उसका मन स्वर्ग बन जायेगा। यदि यह भावना हर मनुष्य में आ जाये तो पूरा संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम हमें अपने में यह भाव लाकर अपने मन को स्वर्ग बना लेना चाहिए।

हमें इस साखी को इस ढंग से भी समझना चाहिए कि सद्गुरु कहते हैं कि हे उपदेशको! सभी जीव पहले से ही बिगड़े हैं। तुम उन्हें कठोर वचन कहकर पुनः मत बिगाड़ो। सारा सत्य एक साथ नहीं कहा जा सकता। लोग भ्रांति में डूबे हैं। परन्तु उनके भ्रांत मत का असामयिक कठोर वचनों में खंडन करके उनको सत्य रास्ते पर नहीं लाया जा सकता। धीरे-धीरे मीठे वचनों से ही सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। अतः सबको अपने प्राणप्रिय समझकर सहारे से सत्पथ पर लाने की चेष्टा करो।

जीव और शरीर भिन्न हैं

पारस परसे कंचन भौ, पारस कधी न होय।
पारस के अर्स पर्स ते, सुवर्ण कहावै सोय॥ 342॥

शब्दार्थ—पारस=एक कल्पित पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा के सोना बन

---

47. सहृदयं सोमनस्यमविद्वेषं कृणोमिवः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अथर्ववेद, कांड 3, सूक्त 30, मंत्र 1॥
इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। सातों में परस्पर मधुर संबंध के लिए उत्तम उपदेश हैं। इसी में 'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः' मंत्रांश है जिसका अर्थ है कि हम अन्न-पानी एक साथ ग्रहण करें।

जाने की धारणा है। कधी=कभी। सुवर्ण=स्वर्ण, सोना।

भावार्थ—जिस प्रकार लोहा पारस पत्थर से छू जाने पर सोना हो जाता है, परन्तु पारस पत्थर कभी नहीं होता। वह तो पारस पत्थर के स्पर्श से केवल सोना कहलाता है; इसी प्रकार चेतन जीव के संबंध से शरीर चेतन-वत भासता है, परन्तु वह चेतन नहीं हो सकता। शरीर तो निरा जड़ है॥ 342॥

व्याख्या—पीछे निवेदन किया गया है कि पारस पत्थर एक काल्पनिक पत्थर है जिसे छूकर लोहे का सोना हो जाने की अवधारणा है। कवि-जगत में ऐसे कई उदाहरण चलते हैं जो केवल काल्पनिक होते हैं। उससे कवि अपने प्रमेय-वस्तु की सिद्धि करता है। यहां पारस से छू जाने पर लोहे का सोना हो जाना कहा गया, परन्तु पीछे बताया गया कि लोहा पारस का स्पर्श पाकर पारस नहीं बनता। यह प्रमाण हुआ जो काल्पनिक है। परन्तु प्रमेय एवं ज्ञान का विषय जीव की विशेषता और शरीर की जड़ता का है। जीव चेतन है। उसका स्पर्श पाकर जड़-शरीर चेतनवत भासता है। हाथ चलते हैं, पैर चलते हैं तथा शरीर के अंगों में गति होती है, परन्तु जीव के अलग हो जाने पर शरीर जड़ बना पड़ा रहता है। अतएव जड़ शरीर से चेतन जीव सर्वथा अलग है, यह विवेक जाग्रत रहना चाहिए।

मैं शुद्ध चेतन हूं। मेरी सत्ता से ही शरीर चेतनवत भासता है। मैं अपने चेतन स्वरूप को भूलकर जड़ शरीर ही को अपना स्वरूप मान लेता हूं और उसमें आसक्त होकर मोह-शोक का भंडार बन जाता हूं। सारा दुख देहाभिमान की देन है। किसी ज्ञानी पुरुष ने कहा है—"देह को मैं मानना, सबसे बड़ा यह पाप है। सब पाप इसके पुत्र हैं, सब पाप का यह बाप है।" देह की उपयोगिता देह से अनासक्त होकर अपने स्वरूपज्ञान में स्थित होना तथा दूसरे की यथाशक्ति सेवा करना है। जो जीव देहधारण करके देह का गुलाम हो गया उसने मानो देह का दुरुपयोग किया और जिसने देह धारण कर देह की आसक्ति से अपने आप को छुड़ा लिया, उसका देह धारण करना सफल हुआ। जो व्यक्ति जितना देहाभिमानी होता है वह उतना ही स्वार्थी होता है, और जितना स्वार्थी होता है उतना ही दूसरों के हक को जिस किसी प्रकार मारने वाला होता है। और जो जीव देहाभिमान का जितना त्यागी होता है वह उतना ही निस्स्वार्थ होता है और जितना निस्स्वार्थ होता है उतना ही दूसरे की सेवा कर सकता है। अतएव अपने कल्याण एवं जनसेवा—दोनों के लिए देहाभिमान का त्याग आवश्यक है। जो वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, व्यापारी, कृषक, सरकारी विभाग में सेवारत तथा राजनेता लोग लम्बी-लम्बी अवधि तक जन सेवा की चिंता एवं श्रम में डूबे रहते हैं उनका किसी-न-किसी प्रकार अनासक्ति-भाव रहता ही है। यह ठीक है कि स्वरूपज्ञान एवं विवेक-वैराग्य के बिना कोई तात्त्विक रूप से

देहाभिमान से नहीं मुक्त हो सकता।

इसी जीवन में परमशांति एवं मोक्ष-लाभ लेने के लिए हमें देहाभिमान से एकदम ऊपर उठना होगा। यह शरीर है भी क्या, हाड़-मांस का ढांचा, चाम से छाया है और इसमें टट्टी-पेशाब भरी है। यह हर समय रोग का घर बना रहता है। इसके आसक्तिवश हम नाना प्राणी-पदार्थों से मोह-वैर बनाकर अपने दुखों को दुगुना बढ़ा लेते हैं। सपने में मिले हुए प्राणी-पदार्थों के समान यह अपना माना हुआ शरीर तथा मिले हुए प्राणी-पदार्थ हैं। जिसे शांति प्रिय हो, वह उन्हें अपने से सर्वथा अलग समझकर सबकी आसक्ति विष और कांटे के समान त्याग करे। देहाभिमान एवं देहासक्ति सर्वथा त्याग देने पर अन्य सारी अहंता एवं आसक्ति मिट जाती है, और सारी अहंता-ममता मिटते ही जीव अपने स्वरूप में स्थित होकर परमानंदमय हो जाता है।

अतएव यहां सद्गुरु ने देह को अपने चेतन स्वरूप से अलग समझकर उसके मोह को छोड़ने का संकेत किया है। हम देह को अपना स्वरूप न मान लें, यह सावधानी निरन्तर रखनी चाहिए।

परमतत्त्व जगतकर्ता के रूप में बाहर नहीं, किन्तु आत्मा के रूप में हृदय में है

ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़िया, भया सो गूनागून।
ढूँढ़त ढूँढ़त ना मिला, तब हारि कहा बेचून॥ 343॥

शब्दार्थ—गूनागून=गुमसुम, अनिर्वचनीय, जो कहने में न आये, यहां का अर्थ है किंकर्तव्यविमूढ़। हारि=लजाकर। बेचून=निरवयव, निराकार, निर्गुण।

भावार्थ—भावुकों ने ईश्वर को खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा, खूब ढूंढ़ा; परन्तु जब वह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते न मिला, तब वे थककर गुमसुम एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बहुत पूछने पर लजाकर उन्होंने कहा कि वह तो निरवयव, निराकार, परोक्ष एवं निर्गुण है फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा!॥ 343॥

व्याख्या—अपनी आत्मा से भिन्न ईश्वर एवं परमात्मा खोजने की सनक संसार में बहुत है। परन्तु ईश्वर खोजने वाले इतना भी विचार नहीं करते कि जो कुछ खोजकर बाहर से मिलेगा वह माया है। किसी भी देहधारी को जो कुछ मिलेगा वह पांचों विषयों से अलग नहीं होगा और जो कुछ पांचों विषयों के भीतर होगा वह मायामय है तो मनुष्य को कौन-सा परमात्मा या ईश्वर मिलेगा! अपनी आत्मा से अलग परमात्मा है और वह मिलता है, यह केवल भ्रम है।

सद्गुरु कहते हैं कि लोग ईश्वर को ढूंढ़ते हैं। तीर्थों, नदियों, वनों, देवमंदिरों और संसार के नाना गलियों में उसको छान डालते हैं; क्योंकि नाना मत के पौराणिक ग्रन्थों में एवं भावुक भक्तों तथा संतों के मुख से वे सुनते हैं कि

पुराकाल में अमुक को परमात्मा मिला, अमुक को मिला, तो लोगों को विश्वास होता है कि लगन से यदि खोज करेंगे तो हमें भी मिलेगा। परन्तु पौराणिक कहानियां जो इस प्रकार की बातें दृढ़ाती हैं, केवल काल्पनिक होती हैं। कथाकार जो इस प्रकार लच्छेदार कथा में लोगों को भावविह्वल करते हैं वे मनुष्यों में कुछ सात्त्विकता एवं भावना तो जगाते हैं, परन्तु उन्हें भ्रमित कर देते हैं। इससे जनता के स्वरूपज्ञान का रास्ता ही रुक जाता है।

ढूंढ़कर भी जब ईश्वर नहीं मिलता, तब लोग उसके विषय में मौन हो जाते हैं। ईश्वर न मिलने पर लोग हारकर एवं लज्जित होकर कहते हैं कि वह तो बेचून है, बेनमून है, निरवयव, निराकार तथा निर्गुण है। बात तो यह है कि यदि वह सचमुच ऐसा ही है तो तुम्हारा उससे मतलब ही क्या हल हो सकता है! जो वस्तु तुम्हारी पकड़ में न आये और जो नित्य के लिए तुम्हारी अपनी न हो उससे तुम्हारा क्या हल निकल सकता है! और तुम्हारा उसके लिए बेचून, बेनमून, निर्गुण, निराकार, निरवयव आदि कहना भी तो तुम्हारी केवल अवधारणा है। जिसका तुम्हें बोध नहीं है, शब्द मात्र एक दूसरे से कहते जा रहे हैं, वह केवल कल्पित है। श्रुतिवचन है—"न वहां आंखें पहुंचतीं हैं, न वाक और न मन पहुंचता है, न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

इस साखी में सद्गुरु ने उन पर व्यंग्य किया है जो ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसको खोजते हैं और न मिलने पर उसे बेचून, बेनमून एवं निराकार, निर्गुण कहते हैं। सद्गुरु अगली साखी में ऐसे ईश्वरवादियों से पुनः पूछते हैं—

बेचूने जग चूनिया, साँई नूर निनार।
आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार॥ 344॥

शब्दार्थ—बेचूने=निरवयव एवं निर्गुण-निराकार ने। चूनिया=बनाया। साँई=स्वामी, ईश्वर। नूर=प्रकाश, ईश्वर का एक नाम। निनार=पृथक, सातवें आसमान या स्वर्ग पर, निर्लिप्त। बखत=वक्त, समय, मौत की घड़ी, रोजकयामत (प्रलय) के दिन। दिदार=दीदार, दर्शन, साक्षात्कार।

भावार्थ—निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त ईश्वर ने दुनिया बना डाली—चलो थोड़े समय के लिए मान लें, तो भी यदि वह ऐसा है तो तुम

---

48. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो, न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे। (केन उपनिषद् 1/3)

अपनी मौत या प्रलय के दिन में उसके दर्शन एवं साक्षात्कार कैसे करोगे!॥ 344॥

व्याख्या—जो निरवयव, निर्गुण, निराकार एवं निर्लिप्त होगा वह इतने बड़े प्रपंच संसार को कैसे बना सकता है? कबीर साहेब कहते हैं कि हे जगतकर्तावादियो! तुम कहते हो कि बेचून ने संसार को चुना है। अर्थात निरवयव, निर्गुण तथा निराकार ने दुनिया बनायी है। इतना ही नहीं, वह स्वामी, वह ईश्वर निर्लिप्त भी है। परन्तु ये सारे लक्षण दुनिया बनाने वाले के नहीं हो सकते। जो स्वतः निर्गुण तथा निराकार है वह दुनिया नहीं बना सकता।

साहेब कहते हैं कि मानो, दुर्जनतोषन्याय से मान लें कि उक्त लक्षण वाले ईश्वर ने दुनिया बनायी है, परन्तु मैं पूछता हूं कि तुम लोग आखिरत में उसके दर्शन चाहते हो, परन्तु जब वह निर्गुण-निराकार है तब उसके दर्शन कैसे होंगे? उसका साक्षात्कार कैसे होगा? दर्शन तो रूप विषय वाले के होते हैं और जिसके रूप-आकार ही नहीं है उसके दर्शन कैसे? मनुष्य अपनी आत्मा से पृथक जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण करेगा वह पांच विषय होगा और जो कुछ मन से सोचेगा वह मन की अवधारणा होगी। अपने स्वरूप से अलग कुछ मानना ही भटक जाना है। सद्गुरु आगे कहते हैं—

सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।
जाके किये जग हुवा, सो बेचून क्यों जान॥ 345॥

शब्दार्थ—नूर=प्रकाश, ईश्वर। दिल=हृदय। पाक=पवित्र।

भावार्थ—जिसका हृदय पवित्र है वही ईश्वर है, अथवा पवित्र हृदय में आत्मसाक्षात्कार का हो जाना ही ईश्वर का पाना है। उसी हृदयनिवासी चेतन नूर को पहचानो। जिसके बनाने से जगत बन गया उसे बेचून, बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कैसे समझते हो!॥ 345॥

व्याख्या—कबीर साहेब अपनी बात कहने में बहुत माहिर हैं। जब वे हिन्दुओं को कहते हैं तब उनकी भाषा में कहते हैं और जब मुसमलानों को कहते हैं तब उनकी भाषा में। उक्त 343 से 345—तीन साखियों में वे मुसलमानों को समझाना चाहते हैं; इसलिए इन साखियों में वे गूनागून, बेचून, साईं, नूर, आखिर, बखत, दिदार, दिल, पाक आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः मुसलमानों में होता है। आगे 346 से 350—पांच साखियों में हिन्दुओं को समझाना चाहे हैं, तो उनमें ब्रह्मा, जननि, सीस नवाय, वर्ण, पुरुष, माता, रेख-रूप, अधर, धरी, देह, गगनमंडल, निरखो, विदेह, ध्यान, गगन, बज्रकिवांर, प्रतिमा, निहाल, मन, शीतल, उपजा, ब्रह्मज्ञान, बसन्दर, जग, पुनि, उदक, समान, चौरासी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग प्रायः हिन्दू लोग करते हैं।

सद्गुरु ने 343 से 345 तक की साखियों में मुसलिम कर्तावादियों को समझाना चाहा है तथा 346 से 350 तक की साखियों में हिन्दू कर्तावादियों को समझाने का प्रयास किया है। सद्गुरु ने प्रथम तीन साखियों में मुसलमान बंधुओं से कहा है जो प्रायः समस्त कर्तावादियों के लिए भी है कि हे बंधुओ, तुम जिस ईश्वर को ढूंढ़ते हो और नहीं पाते हो, हारकर बेचून-बेनमून कहते हो और यह भी कहते हो कि उसी ने दुनिया बनायी है; उसे तुम समझने की चेष्टा करो। बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार कुछ बना नहीं सकता और न उसके रोजकयामत एवं आखिरत के दिन दर्शन हो सकते हैं। जब वह निराकार है तब "आखिर ताके बखत में, किसका करो दिदार।"

कबीर साहेब कहते हैं कि जो इतना बड़ा संसार बनायेगा वह बेचून कैसे होगा? उसे किस बुद्धि से बेचून एवं निर्गुण-निराकार समझ रहे हो? निर्गुण-निराकार संसार नहीं बना सकता। इतना ही नहीं, मन में न आने वाले इस विराट संसार को देहधारी ईश्वर भी नहीं बना सकता। यह तो अनादि जड़-चेतन के अनादि गुण-धर्मों से अनादि और अनंत है। सद्गुरु ने इसका संकेत सातवीं रमैनी तथा उसके आस-पास और इस ग्रंथ की कई जगहों में किया है।

कबीर देव कहते हैं कि ईश्वर को बाहर मत खोजो। उसे जगतकर्ता के रूप में एवं विश्व के अधिष्ठाता के रूप में मत देखो, किन्तु उसको दिल में रहने वाला हृदयनिवासी के रूप में देखो। "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।" यह सद्गुरु का परम मन्त्र है। दिल पाक होने पर वह नूर, वह ईश्वर, उस ज्ञान-प्रकाश चेतना का अपने आप साक्षात्कार हो जाता है। उसे जगतकर्ता के रूप में बेचून-बेनमून एवं निर्गुण-निराकार के रूप में, अपने से अलग अज्ञेय मानकर खोजने के भ्रम में मत पड़ो, किन्तु इस हृदयनिवासी चेतन देव को परम परमात्मा समझो, इसे ही नूर रूप में पहचानो। जब हृदय विषय-विकारों एवं संसार के राग-द्वेष से मुक्त होगा तब हृदयनिवासी की पहचान होगी। कमरे में देवता बैठा है, परन्तु उसमें अन्धकर है तो देवता कैसे दिखे? अर्थात हृदय में चेतन रूप ईश्वर विराजमान है, परन्तु हृदय तो विषय-विकारों से ढका है तो चेतन देव के दर्शन केसे हों? अतएव यह समझ लो कि तुम्हारी आत्मा से अलग कोई परमात्मा नहीं जो तुम्हें मिलेगा, और आत्मा रूपी परमात्मा का साक्षात्कार तब होगा एवं उसमें स्थिति तब होगी जब दिल पाक हो, हृदय शुद्ध हो। सद्गुरु का महामन्त्र याद कर लो—"सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"

कबीर साहेब मिथ्या आदर्श एवं आकाशीय उड़ान नहीं भरते। वे सदैव धरती की बातें करते हैं। जिस संसार के बीज-वृक्ष और मुरगी-अण्डा में से कौन पहले हुआ इसका समाधान लोग नहीं कर पाते, उस पूरे संसार को किसी निराकार द्वारा नये सिरे से रचने की बातें करते हैं। जिसने जगत बनाया है उससे

मिलना भी चाहते हैं। यह सब धार्मिक भोलापन है। यथार्थवादी कबीर साहेब कहते हैं कि तथाकथित जगत बनाने वाले को परमात्मा मानकर खोजने का भ्रम छोड़ो, और अपनी आत्मा एवं अपने आपा को परमात्मा के रूप में पहचानो।

ब्रह्मा पूछै जननि से, कर जोरे सीस नवाय।
कौन वर्ण वह पुरुष है, माता कहु समुझाय॥ 346॥
रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मंडल के बीच में, निरखो पुरुष बिदेह॥ 347॥
धरे ध्यान गगन के माहीं, लाये बज्र किवाँर।
देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल॥ 348॥

शब्दार्थ—वर्ण=रंग, रूप। रेखरूप=आकार। अधर=योनि। गगन मंडल=आकाश, खोपड़ी के भीतर। निरखो=देखो। बज्रकिवाँर=आंख, नाक, कान, गुदा तथा उपस्थ—सभी इन्द्रियों को बंद करके ध्यान करना। प्रतिमा=मूर्ति, प्रतिबिम्ब, मन की अवधारणा की छाया। निहाल= कृतार्थ।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव तीन भाई थे। तीनों में ब्रह्मा श्रेष्ठ एवं रजोगुणी होने से क्रियाशील थे। उन्होंने अपने भाइयों की तरफ से हाथ जोड़ एवं सिर झुकाकर विनम्रतापूर्वक माता से पूछा कि हे माता, वह परम पुरुष परमात्मा किस रंग एवं आकार का है, कृपया इसे समझाकर हम लोगों से कहें? ॥ 346 ॥ माता ने कहा—उसकी कोई आकृति नहीं है। उसने किसी योनि में देह नहीं धारण की है। हे पुत्र, आकाश-मंडल-स्वरूप मन में उस विदेह पुरुष को देखो॥ 347 ॥ उक्त बातें सुनकर ब्रह्मादि तीनों ने सभी इंद्रियों को बंदकर ब्रह्मरंध्र एवं मन में ध्यान लगाया। उन तीनों माता के बताये अनुसार अपने-अपने मन में ईश्वर की जैसी-जैसी अवधारणा की थी उसी-उसी के प्रतिबिम्ब उन्हें दिखाई दिये। वे अपने-अपने मनःकल्पित भास-अध्यास को ही देखकर अपने-अपने को कृतकृत्य मान लिये॥ 348 ॥

व्याख्या—पारदर्शी एवं पारखी दृष्टि वाले सद्गुरु कबीर का कथन हृदय को झकझोर देता है। उनके कथन में हजारों-हजारों वर्ष से चली आयी हुई अंधरूढ़ियां टूट-टूटकर चकनाचूर हो जाती हैं। कबीर साहेब ने यह नहीं देखा कि किसने क्या कहा है, किन्तु उन्होंने यह देखा है कि क्या सत्य है! वे प्राचीनता, पोथी, परम्परा, महापुरुष की बातें चाहे जैसी हों मान ही लेना चाहिए, ऐसी मानसिक गुलामी से सर्वथा मुक्त थे। वे केवल सत्य के अनुसंधाता थे। उन्होंने सत्यज्ञान का साक्षात्कार किया था और उसे बिना लागलपेट खुल करके कहा था। सत्य ज्ञान के पथ में कोई भी आड़े आये उसकी उन्हें परवाह नहीं थी। मेरे सत्य करने में किसकी मान्यताएं खंडित हो रही हैं इसकी परवाह उन्हें नहीं थी। वे केवल सत्य के पुजारी थे।

उक्त तीनों साखियों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव और उनकी माता के संवाद तथा उन तीनों के ध्यान के फल में सद्गुरु ने जो कुछ कह दिया है वह उन सबके लिए है जो परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग खोजते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर योनियों में देह धारणकर संसार में आता है और दुष्टों का संहार तथा साधुओं का उद्धार करता है, नाचता है, गाता है, रोता है, युद्ध करता है इत्यादि, उनकी तो अत्यन्त भोली धारणा है। इसका विवरण शब्द प्रकरण के आठवें शब्द की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दे आये हैं। जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा एवं ब्रह्म देह तो नहीं धरता, उसका कोई आकार-प्रकार नहीं है, वह हमसे अलग है, उसका ध्यान करने से वह मिलता है, वे लोग भी स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान एवं वास्तविकता से अलग हैं। जो आकारशून्य है उसका ध्यान ही असंभव है। यदि हम किसी आकार का ध्यान करते हैं तो वह विषय का ध्यान है। यह ठीक है कि यदि वह शुद्ध है जैसे गुरु या संत का ध्यानादि, तो प्रथम साधना में वह मन रोकने का साधन बन सकता है। परन्तु अंततः उसका त्याग करना पड़ेगा। यदि निराकार का ध्यान करना चाहें तो यह असंभव है। निराकार का ध्यान ही नहीं होगा। हां, ऐसी अवस्था में शून्याकाश, बादल, पर्वत, बन, ग्रामादि मन में आ सकते हैं।

जब माता ने पहले बता दिया कि उस परम पुरुष का रेख-रूप नहीं है तो ब्रह्मादि त्रिदेवों ने क्या ध्यान किया? उन्होंने अपने मन में कोई आकार अवश्य बनाया होगा और वह ठहरी उनके मन की प्रतिमा। मिट्टी की प्रतिमा नहीं तो मन की प्रतिमा को ध्यान का विषय बनाया और उसे देखकर उन्होंने अपने आप को कृतकृत्य मान लिया।

ध्यान में बैठने पर जब मन बाहर से लौट आता है तब वह भीतर अंधकार, प्रकाश, नाद, शब्द तथा इसी तरह अन्य कोई आकार की सृष्टि करता है और उन्हीं में तदाकार होकर मान लेता है कि मैंने परमात्मा के दर्शन कर लिये। यह बहुत बड़ा भटकाव है। यहां ब्रह्मादि त्रिदेवों के ध्यान के फल में जो कुछ उन्हें मिला सद्गुरु कबीर का उस पर बहुत बड़ा व्यंग्य है—"देखी प्रतिमा आपनी, तीनिउँ भये निहाल।" तीनों अपने मन की अवधारणाओं की छाया देखकर मानो कृतार्थ हो गये। हद दर्जे का भोलापन!

आरम्भिक साधक अपने मन को यत्र-तत्र से समेटकर एकाग्र करने के लिए अपनी रुचि के अनुसार किसी भी शुभ अवधारणा में उसे लगा सकता एवं उसका ध्यान कर सकता है। परन्तु उसे समझना चाहिए कि वह विषय है, दृश्य है, तथा निजस्वरूप से भिन्न है। अतः उसमें लीन होकर जब मन स्ववश होने लगे तब उससे हटाकर निराधार करे। मन के सारे संकल्पों को समाप्त कर देना ही ध्यान है। किसी अवधारणा में मन को रोकना आरंभिक साधना मात्र है।

और सारे आलंबनों को छोड़कर मात्र अपने स्वरूप में ही स्थित होना अन्तिम एवं उच्च दशा है। जब जीव कुछ नहीं सोचता वही असली ध्यान है। परन्तु यदि वह अपने आप से भिन्न किसी तथाकथित ईश्वर-परमात्मा का नक्शा बनाता है तो वह भटका हुआ है।

मुसलमान भाई रोजकयामत के दिन बेचून-बेनमून ईश्वर से मिलना चाहते हैं और हिन्दू भाई निराकार ब्रह्म को ध्यान में देखना चाहते हैं। अतएव सद्गुरु ने 343 से 345वीं साखी में मुसलमान बंधुओं की अवधारणा की परख करायी है तथा वे पीछे 346 से 350वीं साखी में हिन्दुओं की अवधारणा की परख करा रहे हैं।

ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।
जेहि बसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥ 349॥

शब्दार्थ—बसन्दर=वैश्वानर, आग। उदक=जल, पानी।

भावार्थ—जब उन तीनों को ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब उनका मन शीतल हो गया और उन्होंने मान लिया कि जिस आग में संसार के लोग जल रहे हैं वह हमारे लिए पानी के समान है॥ 349॥

व्याख्या—वैसे उक्त साखी का सकारात्मक अर्थ किया जा सकता है कि "जब ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ तब यह मन शीतल हो गया, और जिस आग में संसार के लोग जलते हैं वह उसके लिए पानी के समान शीतल हो गया।" परन्तु अर्थ सकारात्मक पक्ष का नहीं है। संदर्भ साफ है। 346 से 350वीं साखी का एक संदर्भ है वह है मन की अवधारणा को ही ब्रह्म मान लेने का खंडन। जिसका स्पष्टीकरण इसकी पहली साखी में यह कहकर कर आये हैं कि "देखी प्रतिमा अपनी, तीनिउँ भये निहाल।" और अगली 350वीं साखी में इसका पूर्ण स्पष्टीकरण है "जासे नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर। चौरासी के बसि परे, कहै और की और।"

अतएव सद्गुरु इस साखी में कहते हैं कि ब्रह्मादि ने जो कुछ अपने मन में कल्पना की प्रतिमा बनायी उसे ही उन्होंने ब्रह्म मान लिया और उसी की छाया ध्यान में देख-देखकर ब्रह्मज्ञान का पैदा होना मान लिया। उन्होंने मान लिया कि मैंने ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्म को पा लिया है। इस भ्रम में पड़कर उन्होंने संतोष कर लिया और उन्हें अपना मन शीतल हो जाने का भ्रम हो गया। "ये मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान।" यह उन पर सद्गुरु का व्यंग्य है। 13वीं रमैनी में भी इसी प्रकार का व्यंग्य है। यथा—

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। जैसे रंक परा धन पारा॥
भौ मर्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय भागा॥

इसमें व्यंग्य का पूरा जोर "यहि लेखे सब संशय भागा" पर है।

भ्रम में पड़कर उन्होंने मान लिया कि जिस आग में दुनिया जलती है वह हमारे लिए जल की तरह शीतल हो गयी; क्योंकि संसार ब्रह्म का खेल है और ब्रह्म को पा जाने पर खेल अपने वश में हो गया। अथवा जगत और ब्रह्म एक ही है यह जान जाने पर सब कुछ अपना ही स्वरूप ठहरा, द्वैत रहा ही नहीं। ब्रह्मज्ञानी सुन्दरदास जी कहते हैं—"तेरे में जगत है और जगत में तू है। तेरे और जगत में भिन्नता कहां है! जैसे मिट्टी से घड़े, सिकोरे आदि अनेक बरतन बनते हैं, परन्तु वे सब अंततः मिट्टी ही हैं; जल से उत्पन्न हुए फेन, बुदबुदे और तरंग आदि विचार कर देखो वही एक जल ही है, वैसे जितने ब्रह्मवादी महापुरुष हैं सबका सिद्धान्त एक है—ब्रह्म से बना सारा विश्व ब्रह्म है। अन्त में वेद यही कहता है।"[1]

न तो व्यक्ति की आत्मा से अलग ब्रह्म है और न तो चेतन के साथ जड़-जगत भी ब्रह्म है। ब्रह्म उत्तम भाव का परिचायक शब्द है। इसका अर्थ होता है 'बड़ा'। वह मनुष्य की आत्मा एवं चेतन स्वरूप ही है। सद्गुरु ने अपने स्वरूप से भिन्न भास-अध्यास को ब्रह्म मान लेने का खंडन किया है। इसका स्पष्टीकरण अगली साखी में जोरदार है—

जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।
चौरासी के बसि परे, कहै और की और॥ 350॥

शब्दार्थ—आदि=मूलस्वरूप चेतन। चौरासी=संसार।

भावार्थ—जिस अपने आप मूल स्वरूप चेतन से अपना नित्य का नाता है, व्यक्ति उस स्थिति को भूल गया। वह संसार के अध्यास के वश में पड़कर अन्य का अन्य ही बकता है॥ 350॥

व्याख्या—'आदि' के अर्थ मूल और आरम्भ दो होते हैं। यहां आरम्भ नहीं, मूल अर्थ है। जीव का मूल स्वरूप चेतन है। वही उसका सर्वस्व है। उसी से उसका नित्य का नाता है। व्यक्ति सब कुछ छोड़ सकता है, परन्तु अपनी आत्मा को नहीं छोड़ सकता। अपने आपा से हम अलग हो जायें यह संभव ही नहीं। अतएव हमारा ठौर, हमारी स्थिति, हमारा चिरंतन विश्रामस्थल हमारी अपनी आत्मा है; परन्तु हम उसे भूलकर बाहर परमतत्त्व खोजने लगे, बाहर ब्रह्म खोजने लगे। हम जिसमें नित्य रहते हैं वही तो हमारा ब्रह्म है, श्रेष्ठ तत्त्व

---

49. तोहि में जगत यह तूं हूं है जगत माहि, तो में अरु जगत में भिन्नता कहां रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप, भाजन विचार देख उहै एक है मही॥
जल के तरंग फेन बुदबुदा अनेक भांति, सोऊ तो विचार एक उहै जल है सही।
जेते महापुरुष हैं सबको सिद्धान्त एक, सुन्दर अखिल ब्रह्म अंत वेद यों कही॥

एवं परमनिधान है और वह हमारा निजस्वरूप चेतन है। सद्गुरु कहते हैं कि जब वह अपनी अवधारणाओं की प्रतिमा एवं छाया में उलझ गया तब मानो अपने ठौर को बिसर गया। "जासो नाता आदि का, बिसरि गया सो ठौर।" यह महामंत्र है। यह किसी मजहब की बात नहीं है। यह सबका अपना अनुभव है कि आदमी दूसरी वस्तुओं को चाहकर भी अपने पास रख नहीं सकता। सब कुछ का वियोग एक दिन होगा ही। शरीर के छूटते ही अपना माना हुआ सब छूट जाता है, परन्तु हम अपनी आत्मा से अलग कभी हो ही नहीं सकते। इसलिए हमारा आदि का नाता, मूल नाता चेतनस्वरूप से ही है, बाहर परमतत्त्व की कल्पना करने से हम अपने आप में स्थित नहीं हो पाते, किन्तु मनःकल्पनाओं में भटकने लगते हैं। गीता के शब्दों में "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" ही "स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" है अर्थात जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा में संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जीव का निजस्वरूपस्थिति से लक्ष्य हटने से ही वह संसार के अधीन बना कुछ-का-कुछ कह रहा है—"चौरासी के बसि परे, कहै और की और।" चौरासी का अर्थ 84 की संख्या होता है; परन्तु चौरासी लाख योनियों की अवधारणा होने से 'चौरासी' शब्द संसारचक्र का बोधक हो गया है। अतएव सरल अर्थ है कि जीव अपने चेतनस्वरूप से विचलित होकर अपने से पृथक जो कुछ मानता है उसका नाम चाहे ईश्वर हो, ब्रह्म हो, सब संसार ही है; क्योंकि वह निजस्वरूप न होने से विजाति जड़ तत्त्व या मन के भास-अध्यास ही हैं। अतएव निज स्वरूप से विचलित साधक ही और का और बकता है। अर्थात है कुछ अन्य, परन्तु कहता है कुछ अन्य ही। अपनी आत्मा से अलग परमतत्त्व एवं परमात्मा मानना या सारा जड़-चेतन एक ब्रह्म मानना और कहना कि मैं ही चांद हूं, मैं ही सूर्य हूं, घटमृतका न्याय मैं सारा विश्व हूं, यह सब "कहै और की और" बात है। मैं सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मैं ही मैं का परमनिधान है। निजस्वरूपस्थिति ही पारखस्थिति है, परमविश्राम का ठौर है। यही वास्तविकता है।

अलख लखौं अलखै लखौं, लखौं निरंजन तोहि।
हौ कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि॥ 351॥

शब्दार्थ—अलख=जो दिखने में न आवे, अगोचर, ब्रह्म। निरंजन= अंजनरहित, निर्दोष। हौं=मैं, चेतन।

भावार्थ—मैं अलख को देखता हूं, मैं निश्चयपूर्वक अलख को देखता हूं, और हे निरंजन, मैं तुमको भी देखता हूं। कबीर साहेब कहते हैं कि मैं निज साक्षी चेतनस्वरूप में स्थित होकर सबको देखता हूं, परन्तु आश्चर्य है कि मुझ चेतन स्वरूप को कोई नहीं समझ रहा है॥ 351॥

व्याख्या—कबीर साहेब के समय में गोरखपंथियों में एक संप्रदाय था जिसे अलखधारी या अलखिया कहते थे। वे अलख-अलख जपते थे तथा यही कहकर भिक्षा भी मांगते थे। वे ईश्वर एवं ब्रह्म का नाम अलख या निरंजन कहते थे। उन लोगों का उस समय गोरखपुर क्षेत्र में बड़ा जोर था। वैसे अलख और निरंजन दोनों शब्द ब्रह्म के लिए संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में व्यवहृत होते हैं।

कबीर साहेब उन लोगों से कहते हैं जो ब्रह्म को अपनी आत्मा से पृथक अलख और निरंजन कहकर पुकारते हैं। साहेब कहते हैं कि जिसे तुम अलख और निरंजन कहते हो, उसे मैं अच्छी तरह देखता हूं। वह केवल मन का भास-अध्यास है। अपनी आत्मा से भिन्न तुम जो कुछ ईश्वर-ब्रह्म का रूप गढ़ते हो वह केवल मन की कल्पना ही है, अतएव उसे मैं देखता हूं, परखता हूं। वह जीव के मनश्चक्षु का विषय है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" सद्गुरु कहते हैं कि मैं सबको लखता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं लखता। यह "हौं" यह "मैं" तत्त्व ही तो सबका साक्षी, सबका कल्पक एवं सबका ज्ञाता है। सभी व्यक्तियों के भीतर एक 'मैं' तत्त्व है जो चेतनस्वरूप है, वही सबको लखने वाला है। साहेब कहते हैं कि 'मैं-तत्त्व' तो सबको लखता है, परन्तु 'मैं' को कोई नहीं लखता। जो मैं को लख लेता है, उसका भटकना समाप्त हो जाता है।

"हौं कबीर सबको लखौं, मोंको लखै न कोहि।" इस पंक्ति का भाव बहुत वजनदार है। मनुष्य सबको जानता है, परन्तु अपने आप को नहीं जानता। हम सारी दुनिया को पढ़ लें, परन्तु खुद को न पढ़ें तो सब पढ़ना बेकार है। हम संसार की सारी चीजों को जान लें और उन्हें पा जायें, परन्तु अपने आप को न जानें, अपने आप को न पायें तो हमारा सब जानना और सब पाना निरर्थक है। साहेब कहते हैं कि मैं-मैं कहने वाला सबको लखता है, परन्तु अपने आप को नहीं लखता, इसलिए वह भटकता है।

इन सबका अर्थ यही है कि अपना लक्ष्य, परमात्मा, मोक्ष, ब्रह्म आदि बाहर खोजना छोड़ें, अपने आप को पहचानें और अपने आप में स्थित हों।

हम तो लखा तिहुँ लोक में, तू क्यों कहै अलेख।
सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख॥ 352॥

शब्दार्थ—तिहुँ लोक=त्रिगुणी जीव, समग्र संसार। सारशब्द=निर्णय वचन, पारख, विवेक। भेख=भक्त या साधु का वेष, चिह्न।

भावार्थ—हमने तो देखा है कि यह अलेख-अदेख की कल्पना सारे संसार में है। तू इसे अलेख क्यों कहता है! यह तो मन की कल्पना होने से मानो मन से देखा हुआ है। वस्तुतः तुमने धोखे में पड़कर धर्म का जामा पहन लिया है,

परन्तु निर्णय वचनों एवं विवेकज्ञान से परिचय नहीं है॥ 352॥

व्याख्या—तीन लोक से अभिप्राय त्रिगुणी जीवों से है। समस्त जीवों का मन तीनों गुणों से आवेष्टित है। इसलिए तीनों लोक कह देने से समस्त जीव आ जाते हैं। वैसे नीचे के लोक, हमारा अपना मध्य का लोक तथा ऊपर के लोकों का भाव लेकर तीन लोक कहा जाता है और इसका लाक्षणिक अर्थ विश्व की समग्रता है। हम केवल अपनी पृथ्वी पर के जीवों को, उनकी मान्यताओं एवं गतिविधियों को देखते हैं। इस पृथ्वी से बाहर किसी ग्रह, उपग्रह में मनुष्य रहते हैं इसका आज तक पता नहीं लगा है। इसलिए जिस पृथ्वी पर हम रह रहे हैं और जिन मनुष्यों को देख रहे हैं उनकी मान्यताओं एवं मानसिकता के आधार पर स्थालीपुलाक न्याय से संसार के सारे मनुष्यों के विषय में अनुमान करते हैं।

सद्गुरु कहते हैं कि हमने तो संसार के लोगों में यही पाया कि वे अपनी आत्मा को न परखकर अपने से बाहर किसी अलेख, अदेख, बेचून, बेनमून एवं निरंजन परमात्मा और ब्रह्म की कल्पना कर रहे हैं। जैसे आदमी भूलवश अपने पास की वस्तुओं का महत्त्व ज्यादा न मानकर दूर की वस्तुओं का मानता है, वैसे अपने नित्य चेतनस्वरूप का महत्त्व न समझकर कल्पना के अन्धकार में मनुष्य ब्रह्म की खोज करता है। जहां देखो, जिसको देखो, वही प्रभु व परमात्मा को बाहर पुकार रहा है। साहेब कहते हैं कि भाई, प्रभु तुम ही हो। तुम स्वयं अपने प्रभु हो, स्वामी हो, परमात्मा हो, ब्रह्म हो। अपनी चेतना से, अपनी आत्मा से एवं अपने आपा से अलग तुम कहीं कुछ न पाओगे।

कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको तुम अलेख कहते हो वह अलेख क्यों है? वह तो मन की कल्पना है, मन का दृश्य है, मनश्चक्षु से दृश्यमान मन का रूप है। वह तो मन से दिखाई देता है कि वह मनोराज्य मात्र है।

"सारशब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख।" इस पंक्ति में सद्गुरु ने उन सब की भर्त्सना की है जो लोग धर्म का, भक्त एवं साधु का जामा तो पहन लिये हैं, परन्तु वे निर्णय वचनों, परख एवं विवेक से दूर हैं और काल्पनिक वस्तुओं के पीछे भटकते हैं। उन्होंने अपने स्वरूप को पहचाना ही नहीं। जिसने जीव रूपी शिव, आत्मा रूपी परमात्मा तथा निजस्वरूप चेतन को समझा नहीं और मनःकल्पनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित हुआ नहीं, उसको धर्म के मार्ग में आने की सफलता नहीं हुई। धर्म एवं अध्यात्मपथ की पूर्ण सफलता है स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति।

साखी की परिभाषा

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं॥ 353॥

शब्दार्थ—साखी=इस प्रकरण के छंद जिन्हें अन्य लोग दोहे कहते हैं, साक्षी–गवाह, द्रष्टा, चेतन।

भावार्थ—ये साखियां ज्ञान की आंखें हैं और सच्चाई के साक्षी हैं, इन बातों को मन में समझकर देखो। बिना साक्षी एवं गवाह के संसार का झगड़ा नहीं छूटता॥ 353॥

व्याख्या—तेरह और ग्यारह मात्राओं के इस छंद को अन्य कवियों ने दोहा कहा है, परन्तु कबीर साहेब ने इसे साखी कहा है। 353 साखियों का यह ग्यारहवां प्रकरण बीजक का अन्तिम प्रकरण है। पूरा बीजक ज्ञान का सागर है, जिसमें जो जितने रत्न खोज पावे खोज ले, परन्तु साखी प्रकरण तो सचमुच ही ज्ञान का भण्डार है। अन्य प्रकरणों में खण्डन अंश जगह–जगह काफी आया है; परन्तु साखी प्रकरण में कहीं नाम मात्र का खण्डन अंश है। इसमें प्रायः विधेयात्मक पक्ष ही का वर्णन है। सद्गुरु कहते हैं कि यह साखी प्रकरण या ये साखियां ज्ञान की आखें हैं। इनका हम जितना गहरा अध्ययन करते जायेंगे उतना ज्ञान की तली में पहुंचते जायेंगे। यथार्थ ज्ञान हुए बिना न मन के सारे भ्रम मिटते हैं और न जीवन में शांति मिलती है।

साखी का शुद्ध एवं तत्सम रूप साक्षी है जिसका अर्थ होता है गवाह। संसार में जहां किसी प्रकार का विवाद या झगड़ा होता है, उन दोनों पक्षों का अपना–अपना पक्षपात होने से झगड़ा सुलझता नहीं है। इसलिए उस विवाद के मुद्दे को पंचों एवं न्यायाधीशों के सामने ले जाते हैं। न्यायाधीश वादी तथा प्रतिवादी का विवाद समाप्त करने के लिए दोनों पक्षों का बयान अवश्य लेता है, परन्तु उन पर वह पूर्णतया विश्वास नहीं करता। इसलिए वह उन्हें बुलाता है जिन्होंने उस विवाद को अपनी आंखों से देखा तथा अपने कानों सुना है और जो दोनों पक्षों से निष्पक्ष तथा तटस्थ हैं। उन्हें ही साक्षी, साखी एवं गवाह कहा जाता है। वे दोनों पक्षों की वास्तविकता कह देते हैं, और जज उन पर विश्वास करके उसके आधार पर विवाद पर निर्णय देता है। इसलिए सद्गुरु ने कहा "बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं।" इसी प्रकार बिना निष्पक्ष वचन को पाये मन के झगड़े नहीं छूटते। कबीर साहेब की वाणियां निष्पक्ष हैं। उनका आदर जिनके जीवन में जितना होता जायेगा उनका उतना ही भ्रम मिटता जायेगा। जब कबीर देव की वाणियों का जीवन में पूर्ण आदर हो जायेगा, तब मन की सारी भ्रांतियां समाप्त हो जायेंगी।

एक प्रश्न उठ सकता है कि साखियां ही यदि साक्षीस्वरूप निष्पक्ष हैं तो क्या बीजक के पहले वाले दस प्रकरण के वचन निष्पक्ष नहीं हैं? उत्तर में समझना चाहिए कि निष्पक्ष तो कबीर साहेब की सारी वाणियां हैं। परम वैष्णव संत नाभादास जी महाराज ने कहा है—"हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।

पक्षपात नहिं वचन सबहिं के हित की भाखी।" यहां कबीर साहेब ने दोहे को जब साखी कहा तो उसका साक्षी, तटस्थ एवं निष्पक्ष अर्थ करना सुकर हो गया।

अंततः साक्षी अपना चेतनस्वरूप है। मन-वासनाओं का साक्षी बनकर उन्हें त्यागते-त्यागते जब वे पूर्णतया शांत हो जाती हैं तब शेष अपने आप चेतन ही रह जाता है। यही परम पद है। जीव साक्षी तभी तक है जब तक जड़ साक्ष्य को देखता है। जब सभी मनोमय दृश्य समाप्त हो जाता है तब जीव शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है। संकल्पों का शून्यत्व ही समाधि है। यह अवस्था थोड़े समय रहा करती है, शेष समय ज्ञानी साक्षी रहता है। जब जीव साक्षी दशा को प्राप्त हो जाता है तब उसके मन के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जब जीव मनोमय का साक्षी होता है, तब वह द्वन्द्वों से मुक्त होता है और जब साक्षी न होकर मन की धारा में बहता है तब द्वंद्वग्रसित होता है। हम तब तक संसार के झगड़े में फंसे रहते हैं जब तक मन में बहते हैं और जब उसका साक्षी बन जाते हैं तब उससे अलग हो जाते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे चेतन! तू सबका साक्षी है, अतः साक्षी बनकर रह! तू किसी में न मिलकर सबका साक्षी रह और असंग हो जा!

ऊपर बताया गया कि ज्ञानी की समाधि-दशा थोड़े समय की ही होती है, अर्थात पूर्ण संकल्पशून्य अवस्था का समय कम हुआ करता है। शेष समय में ज्ञानी साक्षी बनकर रहता है। परन्तु तत्त्वतः वह दोनों दशाओं में समाधिलीन ही है। जब संकल्पशून्य दशा होती है, वह तथा अन्य साक्षी दशा रहती है, वह— दोनों ही समाधि है। संकल्प-शून्य दशा में जीव पूर्ण कृतार्थ रहता ही है, परन्तु साक्षी दशा में भी कृतार्थ ही रहता है, क्योंकि वह सारे दृश्यों से उदासीन, तटस्थ एवं असंग रहता है; अतएव साधक को चाहिए कि जितना संभव हो वह संकल्पों को शून्य करके शांति में लीन रहे, शेष खाते-पीते, उठते-बैठते, हंसते-बोलते, कुछ करते-धरते, चलते-फिरते सब समय साक्षी बनकर रहे।

बीजक सार सिद्धान्त

नीचे की जिन साखियों को आप पढ़ने जा रहे हैं, ये साखियां सद्गुरु कबीर की रचनाएं नहीं हैं। ये किसी अन्य संत की रचनाएं हैं। चाहे ये साखियां सद्गुरु के समय में ही किसी संत ने ग्रन्थ के पाठफल में रखी हों और तभी से चली आयी हों और चाहे कुछ काल पीछे से किसी संत द्वारा रचकर रखी गयी हों; परन्तु ये साखियां हैं बहुत पुरानी। साखियां इतने मार्मिक भाव की हैं कि बीजक का सार सिद्धान्त इन नौ साखियों में उतर आया है।

बीजक कहिये साख धन, धन का कहै संदेश।
आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश॥ 1॥

शब्दार्थ—साख=गवाह, गवाही, साक्षी, प्रमाण। आतम=आत्म, अपना।

भावार्थ—बीजक उसे कहते हैं जो गुप्तधन का प्रमाण देता एवं पता बताता है। आत्म-धन जिस जगह है कबीर साहेब के वचनों के उपदेश उसी के लिए हैं॥ 1॥

व्याख्या—पहले के लोग सोना-चांदी या उनके सिक्के जमीन में गुप्त रूप से गाड़ते थे और उनका परिचय सांकेतिक शब्दों में किसी ताम्रपत्र या कागज आदि में लिख लेते थे। उस लेख को ही 'बीजक' कहा जाता था। "बीजक बित्त बतावै, जो बित गुप्ता होय। ऐसे शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥" 37वीं रमैनी की इस साखी में बीजक शब्द की सविस्तार व्याख्या की गयी है। अतएव वहां देखा जा सकता है। आज भी व्यापारी लोग ग्राहकों के यहां जो माल भेजते हैं उसका विवरण, उसके दाम या भेजने के खर्च आदि की सूची साथ में भेजते हैं, उसको 'बीजक' कहा जाता है।

सद्गुरु कबीर का यह ग्रन्थरत्न बीजक 'आत्म-धन' को बताता है। यह 'आत्म-धन' का साक्षी एवं प्रमाण देता है। 'आतम' तद्भव शब्द है। इसका तत्सम शब्द आत्म है। 'आत्म' शब्द का अर्थ होता है 'अपना' या 'अपने आप'। आत्म-धन एवं अपना धन क्या है? केवल जीव अर्थात शुद्ध चेतन मात्र। व्यक्ति का अपना चेतनस्वरूप ही उसका अपना धन है, जो उससे कभी छूटने वाला नहीं है। शरीर से लेकर संसार के सारे धन छूट जाते हैं; परन्तु क्या आत्मा से आत्मा अलग हो सकती है! अतएव हमसे कभी अलग न होने वाला हमारा अपना चेतनस्वरूप ही है, हमारी अपनी आत्मा ही है। उसी जीव, आत्मा एवं निजस्वरूप चेतन का परिचय यह बीजक ग्रंथ कराता है।

"आतम धन जेहि ठौर है, वचन कबीर उपदेश।" आतम-धन किस ठौर है? देहोपाधि दृष्टि से वह हृदय निवासी है। यथा "हृदया बसै तेहि राम न

जाना।[1] या "सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।"[2] अथवा "दिल में खोजि दिलहि माँ खोजो, इहै करीमा रामा।"[3] इत्यादि। श्रुतिवचन भी है—आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।[4] सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।[5] आदि।

वस्तुतः आतमधन मेरा निजस्वरूप चेतन ही है । मैं ही मेरा परम धन है

देखै बीजक हाथ लै, पावै धन तेहि शोध।
याते बीजक नाम भौ, माया मन को बोध॥ 2॥

शब्दार्थ—शोध=खोज, अनुसंधान। बोध=ज्ञान।

भावार्थ—जो जिज्ञासु अपने हाथ में बीजक लेकर देखेगा और चित्त लगाकर पढ़ेगा वह खोज कर आत्मधन पा जायेगा। इसीलिए सद्गुरु कबीर ने इस ग्रन्थ का नाम बीजक रखा है। इसके अध्ययन से यह ज्ञान हो जाता है कि माया क्या और मन क्या है!॥ 2॥

व्याख्या—जैसे गड़े हुए धन का साक्ष्य सांकेतिक शब्दों में ताम्रपत्र या पोथी आदि बीजक में लिखा रहता है और उसे देखने से धन की खोजकर उसे प्राप्त कर लिया जाता है; वैसे कबीर देव-प्रणीत इस बीजक को जो मन लगाकर पढ़ेगा और विचारेगा वह अपने स्वरूप-धन को शोधकर प्राप्त कर लेगा। गड़े हुए गुप्तधन को बताने वाला सांकेतिक लेख ही तो बीजक कहलाता है। एक दृष्टि से देखा जाये तो सर्वाधिक गुप्तधन मनुष्य का अपना मौलिक एवं तात्त्विक स्वरूप है। यह शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। चेतन ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' तत्त्व ही मेरा स्वरूप है। 'मैं' के दो प्रकार हैं, एक मायिक तथा दूसरा आत्मिक। शरीरादि भौतिक पदार्थों में मैंपन मायिक है और चेतन स्वरूप के प्रति मैंपन आत्मिक है।

ऊपर कहा गया कि अपनी आत्मा एवं जीव ही एक प्रकार से सर्वाधिक गुप्त है। हमारी आंखें विस्तृत संसार को देखती हैं, परन्तु वे अपने आप को नहीं देख पातीं, किन्तु आंखों का होना स्वयंसिद्ध है, क्योंकि हम दृश्यों को देखते हैं। इसी प्रकार हम सारे संसार को जानते हैं परन्तु अपने आप को नहीं जानते, किन्तु हम संसार को जानते हैं इसलिए हमारा होना स्वयंसिद्ध है।

मेरा सहज स्वरूप चेतन है और इसका ज्ञान सहज ही है। ऐसा सहज होते

---

50. रमैनी 41।
51. साखी 345।
52. शब्द 97।
53. मुडंक उपनिषद् 3/1/4।
54. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/13।

हुए भी विषयासक्तिवश गूढ़ बना हुआ है। विषयासक्ति के साथ-साथ भ्रांति का बोलबाला है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के लोग 'आत्म-धन' की खोज न कर बाहर कहीं परमात्मा खोजते हैं। उन्हें निजस्वरूप के बोध की फिक्र नहीं है, किन्तु ईश्वर पाने की फिक्र है जो मन की एक अवधारणा है। इस प्रकार निजस्वरूप के अनुसंधान के पथ में मुख्य दो रोड़े हैं, पहला है विषयासक्ति तथा दूसरा है अपनी आत्मा से अलग ईश्वर, परमात्मा एवं ब्रह्म पाने का भ्रम। इन दोनों का निवारण हुए बिना निजस्वरूप का बोध नहीं हो सकता। विषयासक्ति छोड़ देने पर भी अपनी आत्मा एवं निजस्वरूप से अलग प्रभु की तलाश करने वाले जब तक इस भ्रम को नहीं छोड़ते आत्म-अनुसंधान नहीं कर सकते। जब तक व्यक्ति बाहर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहेगा, तब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिति की प्राप्ति के लिए ईश्वर का बखेड़ा छोड़ना पड़ेगा। साधक को समझना पड़ेगा कि उसका निजस्वरूप चेतन ही परम ईश्वर है, परमात्मा है, ब्रह्म है। बाहर से लौटकर निजस्वरूप में स्थित होना ही तो परम पद है। इसका निष्पक्ष निर्णय पूरे बीजक में किया गया है।

बीजक में माया और मन का बोध भी किया गया है। ईश्वरवादी माया को प्रभु का खेल मानकर कहते हैं कि हरि माया अति बलीयसी है। उससे बचना असंभव हे। हरि ही चाहे तो उससे उबारे अन्यथा जीव का कोई बल नहीं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि माया अनिर्वचनीया, अघटित घटना पटीयसी एवं दुरत्यया अर्थात न तरने योग्य है। इस प्रकार ये दोनों माया को तरना ही करीब-करीब असंभव बताकर मनुष्य को कमजोर बनाते हैं। फिर जीव को ईश्वराधीन बताकर उसी पर उसे निर्भर कर देते हैं कि जीव को तारेगा तो ईश्वर ही। वे कहते हैं कि जीव को ईश्वर ही माया में नचाता है और वह यदि प्रसन्न हो तो वही उससे बचा सकता है।

कबीर साहेब बीजक में कहते हैं कि माया मन का मोह है। अर्थात दृश्य जगत तथा अनेक मानसिक भ्रांतियों का मोह ही माया है और उसका निर्माता जीव ही है। जीव ही उसे छोड़कर उससे मुक्त हो सकता है। मान लो, किसी ने बीड़ी पीने की आदत बना ली है। अब बीड़ी पीने के प्रति उसकी प्रबल आसक्ति हो गयी है। वह उसके बिना रह नहीं पाता है। सोचिए कि बीड़ी पीने की आसक्तिरूपी माया किस ईश्वर ने उसके भीतर थोपी है, और उससे कौन-सा ईश्वर मुक्त कर सकता है? वस्तुतः मनुष्य ने ही अपने भूलवश उस माया को बनाया है और उसी के छोड़ने से उसका उससे उद्धार हो सकता है। हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकारों का स्वयं अज्ञानवश सृजन करते हैं और स्वयं उनमें फंसकर दुख भोगते हैं। परन्तु इनकी वास्तविकता जानकर इन्हें हम स्वयं त्यागकर मुक्त हो जाते हैं। अतएव माया मन का मोह है जिसे जीव अपने

स्वरूप के भूलवश बनाता है और उसमें स्वयं उलझकर दुख पाता है। जब उसका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसे एकदम छोड़कर कृतार्थ हो जाता है। अतएव जीव का माया से मुक्त होने का विषय उसका अपना है; तथाकथित ईश्वर का विषय नहीं। यही स्वावलंबन का पथ है, यही कल्याण का आशावादी स्वरूप है और यही यथार्थ है।

अस्ति आत्मा राम है, मन माया कृत नास्ति।
याकी पारख लहै यथा, बीजक गुरुमुख आस्ति॥ 3॥

शब्दार्थ—अस्ति=विद्यमानता, जो हो, सत्य। आत्मा=मन और अंतःकरण से परे तथा उनके व्यापारों का ज्ञान करने वाले सत्ता, द्रष्टा, रूह, जीव, चेतन। राम=हृदय में रमण करने से जीव ही का नाम राम है—'रामरूपमय परम पुनीता (पंचग्रन्थी)। नास्ति=असत्य, शून्य। यथा=जिस प्रकार या यथार्थ। आस्ति=अस्ति है।

भावार्थ—आत्माराम सत्य है और मन-माया से निर्मित अवधारणाएं असत्य हैं। बीजक गुरुमुख वाणी है, अतः उनकी यथार्थ परख इससे करनी चाहिए॥ 3॥

व्याख्या—इस साखी की पहली पंक्ति में आत्माराम की सत्यता तथा मन-माया की असत्यता की स्पष्ट घोषणा है और बीजक की वाणियों में मुख्यतः इन्हीं दो की परख करायी गयी है। मन-माया से लौटकर आत्माराम में स्थित होना यही प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है।

'आत्मा' का अर्थ है व्यक्ति का स्वतः सारस्वरूप, वह है चेतन; और राम का अर्थ भी चेतन ही है। अतएव व्यक्ति का अपना आपा ही उसकी अपनी आत्मा है और वही राम है। यह परम सत्य है। व्यक्ति की अपनी आत्मा ही तो परम सत्य है! 'मैं' तथ्य ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का आश्रय है। बीजक की वाणियों को पढ़कर इस विषय को यथार्थ रूप से पहचानना चाहिए। "याकी पारख लहै यथा" में 'यथा' शब्द का अर्थ होता है 'जिस प्रकार'। इसके अनुसार अर्थ होगा कि जिस प्रकार आत्माराम और मन-माया के स्वरूप हैं, ठीक से समझो। परन्तु यहां 'यथा' यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप माना जा सकता है। इससे अर्थ होगा कि आत्माराम और मन-माया की यथार्थ परख करनी चाहिए। दोनों अर्थों में मूलभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आत्माराम तो व्यक्ति का अपना स्वरूप है; परन्तु मन-माया क्या है? मन संस्कारों का समुच्चय है और माया दृश्यों का मोह है। यह आत्माराम मन-माया की धारा में पड़कर ही अपने स्वरूप से पतित है। जब आत्माराम अपने आप को मन-माया से सर्वथा निकालकर अपने आप में ही स्थित होता है तब यही उसकी उच्चतम दशा हे।

पढ़ै गुनै अति प्रीति युत, ठहरि के करै बिचार।
थिरता बुधि पावै सही, वचन कबीर निरधार॥ 4॥

शब्दार्थ—निरधार=निर्णय, निश्चय।

भावार्थ—कबीर साहेब के इन निर्णय वचनों को अत्यंत प्रेमपूर्वक पढ़े, मनन करे और स्थिर होकर गंभीरतापूर्वक विचार करे, तो निश्चित ही उसे शांति-बुद्धि की प्राप्ति होगी अथवा उसकी मनोवृत्ति स्वरूप में स्थित होगी॥ 4॥

व्याख्या—जो लोग किसी पुस्तक के पन्ने इधर-उधर पलटकर कहते हैं कि मैंने सब अध्ययन कर लिया, वे बड़ी भूल में हैं। किसी ग्रन्थ की वास्तविकता जानने के लिए गंभीरतापूर्वक उसकी तली में पैठना चाहिए। फिर इस बीजक-जैसे ग्रन्थ को कोई तुरन्त कैसे समझ ले! इसका बारम्बार अध्ययन-मनन करने से इसको ठीक से समझा जा सकता है। बीजक तो ऐसा ग्रंथ है कि इसका जितनी बार सूक्ष्मता से अध्ययन-मनन किया जाये उतने ही इसके गूढ़ अर्थ समझने में आते हैं।

बीजक में कुछ रमैनियां, शब्द एवं साखियां अत्यन्त सरल हैं, परन्तु कुछ तो ऐसे गूढ़ हैं जिनका सहज समाधान कर पाना कठिन है। कबीर साहेब की विचारधारा में डूबे रहने वाले साधक, सन्तों एवं गुरुजनों की सेवा तथा सत्संग से और स्वयं के दीर्घकाल के निष्पक्ष शोधन से ही कबीर साहेब के गूढ़ पदों को समझा जा सकता है। वैसे कोई अमुक पद अमुक व्यक्ति न समझ पावे यह अलग बात है, परन्तु निष्पक्षता से मनन करने पर सत्य-सार समझना कठिन नहीं है। बीजक के केवल सरल पदों को ही समझ लिया जाये तो सभी काम की बातें आ जाती हैं। गुरुजनों द्वारा कुंजी मिल जाने पर तो पूरा बीजक समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। आवश्यकता है निष्पक्षतापूर्वक इसमें डूबने की।

सार शब्द टकसार है, बीजक याको नाम।
गुरु का दया से परख भई, वचन कबीर तमाम॥ 5॥

शब्दार्थ—तमाम= संपूर्ण, समाप्त।

भावार्थ—टकसाल जैसे प्रामाणिक रुपयों के ढलने का घर होता है, वैसे यह ग्रंथ जिसका नाम बीजक है प्रामाणिक सारशब्दों एवं निष्पक्ष निर्णय वचनों का कोश है। सद्गुरु कबीर के सम्पूर्ण वचनों का मनन-चिंतन किया गया और गुरुकृपा से सारासार की परख हो गयी है॥ 5॥

व्याख्या—नाभादास जी महाराज जो कबीर साहेब के तत्काल बाद हुए हैं एक परम वैष्णव संत हो गये हैं। उन्होंने कबीर साहेब तथा उनकी वाणियों की प्रशंसा में अपने भक्तमाल में एक छप्पय लिखा है। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

"कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम और षड्दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा एवं संकोच नहीं रखा। भक्तिविमुख धर्म को उन्होंने अधर्म कहा। भजन के बिना योग, यज्ञ, व्रत तथा दान को तुच्छ बताया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानादि समस्त मानव के लिए एक प्रामाणिक एवं सत्य सिद्धान्त अपने रमैनी, शब्द और साखियों में कहा। उनके वचन पक्षपात से रहित तथा सबके कल्याण के लिए कहे गये हैं। उन्होंने संसार में तटस्थ एवं निष्पक्ष दशा में ठहरकर अपनी बातें कहीं हैं। उन्होंने किसी की मुखदेखी बात नहीं कही, किसी की चापलूसी नहीं की। कबीर ने सत्य कहने में वर्ण, आश्रम एवं षड्दर्शन वेषधारियों का मुलाहजा नहीं किया।"[1]

यह कबीर और कबीर वाणी के लिए गद्गद और तथ्यात्मक भाव है एक मूर्द्धन्य वैष्णव संत का। इससे अधिक कोई कबीर-प्रेमी, कबीर-अनुयायी एवं कबीर-आलोचक क्या कहेगा! आज तक कबीर की प्रशंसा में इस धराधाम पर जो कुछ कहा गया है, मानो इन छह पंक्तियों की व्याख्या है।

"सारशब्द टकसार है, बीजक याको नाम।" इस पंक्ति का लेखक कहता है कि यह बीजक ग्रंथ सारशब्दों एवं सार निर्णय वचनों का समुच्चय है। यह टकसाल है। टकसाल में ढले सिक्के प्रामाणिक होते हैं। इसी प्रकार कबीर साहेब के शब्द प्रामाणिक होते हैं, क्योंकि वे पक्षपात, अंधविश्वास, चमत्कार जो एक छल-कपट है—इन सबसे दूर केवल सत्यद्रष्टा, सत्यरमता एवं सत्यवक्ता हैं। कबीर न किसी ईश्वर-वाणी की दोहाई देते हैं, न अपने वचनों को यह कहते हैं कि इन्हें ईश्वर ने भेजा है, न वे अपने आप को अलौकिक, न अवतार, न पैगम्बर कहते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हारे सरीखा मनुष्य हूं।[2] जो मैं कहता हूं उसे विचारो। सत्य लगे तो ग्रहण करो और असत्य लगे तो छोड़ दो।[3] कबीर अपनी बातों को ईश्वर, पैगम्बर, अवतार तथा किसी भी अलौकिकता का झांसा देकर संसार से नहीं मनवाना चाहते, बल्कि इन झांसा वाली बातों का वे जोरदार शब्दों में खंडन करते हैं। कबीर भीतर-बाहर केवल सत्य से ठोस हैं और इसी प्रकार उनकी वाणी भी केवल सत्य का परिचायक है।

---

55. कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।
भक्तिविमुख जो धर्म ताहि अधरम करि गायो॥
योग यग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दु तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रय षटदरसनी॥ भक्तमाल॥
56. तहिया हम तुम एकै लोहू। एकै प्राण बियापै मोहू॥ रमैनी॥
57. सुनिये सबकी निबेरिये अपनी। (साखी 247)

पारख बिन परचै नहीं, बिन सत्संग न जान।
दुबिधा तजि निर्भय रहे, सोई सन्त सुजान॥ 6॥

शब्दार्थ—पारख=परख, परीक्षा, गुण-दोषों के निर्णय की दृष्टि से किसी वस्तु को देखने की क्रिया, सार-असार समझने की शक्ति। परचै=परिचय, पहचान, ज्ञान। दुबिधा=संदेह।

भावार्थ—निष्पक्ष होकर परख किये बिना सत्य और असत्य की पहचान नहीं होती, और पारखी संतों की सत्संग किये बिना निष्पक्ष परख दृष्टि समझने में नहीं आती। जो सब जगह परखकर असत्य छोड़ सत्य को ग्रहण करता है वह संशय से मुक्त होकर निर्भय हो जाता है। उसी को सच्चा ज्ञानी सन्त कहना चाहिए॥ 6॥

व्याख्या—जड़ प्रकृति अनादि-अनंत है। उनसे जगत का प्रवाह तथा उसकी स्थिति भी अनादि-अनंत है। इसके लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना कि उसी ने चांद-सूरज आदि को बनाया है, वही वर्षा, आंधी-तूफान लाता है आदि एक बालकपन है। जड़ जगत अपने स्वतःसिद्ध नियमों से चलता है। इधर असंख्य चेतन जीव भी अनादि-अनंत हैं। उनकी ज्ञानशक्ति भी उनमें अंतर्निहित एवं स्वभावसिद्ध है। वासनाओं का त्याग कर देने पर जीव अपने आप में स्थित हो जाता है। निजस्वरूप की स्थिति ही मानो परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा, निर्वाण, मोक्ष को पा लेना है; क्योंकि निजस्वरूप की स्थिति के अलावा जीव का अन्य कोई प्राप्तव्य नहीं है। इस प्रकार सत्यासत्य को परखकर निस्संदेह एवं निर्भय हो जाना ही जीवन का फल है।

जगत के नियामक को खोजना महा भ्रम है, किन्तु जगत के नियमों को पहचानना हमारा कर्तव्य है। हर नियम का नियामक नहीं होता। मनुष्यों के बनाये नियमों का स्वयं मनुष्य नियामक है। वह अपने भोलेपन में समझता है कि पानी में शीतलता, आग में गरमी, वायु में कोमलता, पृथ्वी में कठोरता तथा इन समस्त जड़ तत्त्वों में क्रियाशीलता किसी देव ने बनायी है। परन्तु द्रव्यों में उनके गुण-धर्म तथा उनकी गतिशीलता किसी देवता की देन नहीं है; किन्तु द्रव्यों में अन्तर्निहित शक्ति है।

जीव के ऊपर कोई देव नहीं है जिसको खुश करके उससे वह कुछ पाने की आशा करे। मनुष्य को अपने आप द्वारा सारे दोषों को छोड़कर निर्दोष बनना होगा और सारी वासनाओं को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होना होगा। इसमें प्रेरक तथा सहायक विवेकवान सन्त-गुरु हैं, किन्तु आसक्ति जीतना तथा स्वयं में ठहराव जीव को स्वतः ही करना पड़ेगा।

सत्यज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से निस्संदेह निर्भय दशा की प्राप्ति होती है, यही जीवन की ऊंचाई है।

नीर क्षीर निर्णय करे, हंस लक्ष सहिदान।
दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान॥ 7॥

शब्दार्थ—नीर=पानी। क्षीर=दूध। लक्ष=लक्षण; लक्ष्य, उद्देश्य। सहिदान=सहिदानी, चिह्न, पहचान।

भावार्थ—मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देना हंस का लक्षण एवं उसकी अपनी पहचान है। इसी प्रकार सारे जड़ दृश्यों से अपने चेतनस्वरूप को अलग समझकर असंग हो जाना विवेकवान का लक्षण है। मानो उसने सत्यासत्य की परख एवं पहचान की जो प्राणिमात्र के प्रति शील का व्यवहार करते हुए अपने स्वरूप में स्थिर रहता है॥ 7॥

व्याख्या—कहावत है कि हंस पक्षी नीर-क्षीर विवेकी होता है। यही उसका लक्षण एवं पहचान माना जाता है। कहावत सच हो या झूठ, जिस बात को सिद्ध करने के लिए यह कहावत यहां कही गयी है वह सच है। हंस विवेकी मानव है। वह नीर-क्षीर विवेक करता है। वह जड़-चेतन को अलग समझकर और जड़ से अपने आप को विवेक से निकालकर शुद्ध चेतन मात्र रहता है, असंग रहता है। यही उसका हंसत्व है। संस्कृत के 'अहंसः' से अ तथा विसर्ग (:) लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है वह मैं हूं। 'अहम् सः'—'मैं—वह' हूं। जड़ासक्ति का त्याग करके निजस्वरूप में स्थित होना ही हंसत्व है। कृतार्थात्मा का यही लक्षण है, यही उसकी पहचान है, यही उसका उद्देश्य है।

"दया रूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान।" अर्थात उसी ने सत्य को परख एवं पहचान कर उसे ग्रहण किया, अथवा पारखपद को पाया जो व्यवहार में सभी से दयावान रहता है और अपने स्वरूप में स्थित रहता है। "दया रूप थिर पद रहे" यह वाक्यांश गागर में सागर है। वही पारखी है, वही विवेकी है और वही कल्याणरूप है जो थिर पद है, जो अपने पद में, अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। वह व्यवहार में सभी प्राणियों के प्रति दया का बरताव करता है। वह शील के सहित सबसे बरतता है। तथागत बुद्ध के शब्दों में शील और समाधि जीवन की ऊंचाई है। यहां साखीकार ने 'दयारूप' और 'थिरपद' कहकर मानो शील और समाधि की ही व्याख्या कर दी हो। यह न बौद्धमत है और न कबीरमत, यह तो अध्यात्म का तथ्य है और जीवन का सत्य है। हमारे जीवन के दो क्षेत्र हैं व्यवहार और परमार्थ। दया, करुणा एवं शील का प्रयोग ही तो व्यवहार की सफलता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना परमार्थ की सफलता है।

देह मान अभिमान ते, निरहंकारी होय।
बर्ण कर्म कुल जाति ते, हंस निन्यारा होय॥ 8॥

शब्दार्थ—हंस=विवेकी मानव, सन्त।

भावार्थ—आत्माराम स्वरूप में रमने वाले विवेकी पुरुष देह के तथा देह सम्बन्धी प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति, वर्ण-कर्म, कुल-जाति आदि के अहंकार से अलग हो जाते हैं॥ 8॥

व्याख्या—कबीर साहेब की वाणियों के मनन-चिंतन के फलस्वरूप विवेकवान आत्माराम हो जाता है। इसलिए वह देह का अभिमान छोड़ देता है तथा जितने देहजनित सम्बन्ध हैं उन सबके अभिमान का त्याग कर देता है। वह वर्ण-जाति नहीं मानता। वह कुल-परम्परा तथा इन सबके कम-प्रपंचों से अलग हो जाता है।

जग विलास है देह को, साधो करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, यथा भक्ति उर धार॥ 9॥

शब्दार्थ—विलास=आनंद-भोग। यथा=यथार्थ, यथार्थ का संक्षिप्त स्वरूप यहां यथा है।

भावार्थ—संसार एवं विषयों के सारे आनंद-भोग क्षणभंगुर देह तक ही हैं। हे साधको! विचार करो और इन्द्रियों के विलास छोड़कर मन, वाणी तथा कर्मों से पर-सेवा तथा साधना करो और हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करो॥ 9॥

व्याख्या—जिन्दगी तो देखते-देखते एक दिन बीत जाती है, चाहे इससे भोग करे या योग करे। हां, दोनों के फल में बड़ा अन्तर होता है। यहां साखीकार कहते हैं कि संसार के सारे आनन्द-भोग, विषयों की सारी क्रीड़ाएं मलिन इंद्रियों तक हैं और इनका परिणाम भी मन की चंचलता, वासनाओं की तीव्रता तथा तृष्णा की वृद्धि है। इसलिए हे साधको, इस पर विचार करो, और विषयों के विलास छोड़कर अपने शरीर तथा प्राप्त शक्ति से दूसरों की सेवा करो। अपने शरीर, समय और धन को इंद्रियों के भोगों में न लगाकर दूसरों की सेवा में लगाओ। यही उसकी सार्थकता है।

शरीर की दूसरी मुख्य सार्थकता है कि उसे साधना में लगाया जाये। देह से साधना करो, योग करो, विषय-भोग नहीं। विषय-भोग तो बन्दर-शूकर भी करते हैं। मनुष्य के विवेक की यही सार्थकता है कि वह योग में लगे, इंद्रियों को अपने वश में कर स्वरूपस्थिति की साधना में लगे।

"यथा भक्ति उर धार" अर्थात हृदय में यथार्थ भक्ति धारण करे। भक्ति है कोमलता, गुरु-संतों के प्रति सेवा, स्वरूपज्ञान के प्रति रुझान एवं आत्माराम में रमण। सारे विषयों को छोड़कर स्व-स्वरूप में स्थित होना ही परा भक्ति है। यही यथार्थ भक्ति है। अतएव शरीर की सफलता इन्द्रिय-भोग नहीं है, किन्तु पर-सेवा, साधना एवं भक्ति है। अतएव सेवा, साधना तथा भक्ति में लगो।

फल छन्द

चिद्-जड़ विभेदक विमल-पथ,
जड़ साक्ष्य से साक्षी परे।
तजि सर्व साक्ष्य विकार,
साक्षीरूप पद पारख शरे॥
जग-ब्रह्म का द्रष्टा दोऊ,
से भिन्न चेतन स्व-वरे।
गुरुवर कबीर निदेश लहि,
जन शोक-संशय से तरे॥

चौपाई

गुरु पारख तुमको जो ज्ञानै।
जानत ही समरूप रहानै॥
निर्णय सत्य शब्द सोइ मानै।
जहिते होय सकल भ्रम हानै॥